तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश)

दूरस्थ शिक्षा

एम.ए. (पूर्वार्ध) जैनोलॉजी

(चतुर्थ पत्र)

-विषय-

जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-''जैनधर्म'' सम्प्रदाय नहीं, सार्वभौम धर्म है	(कुल पाठ-3)
इकाई – 2	-जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय	(कुल पाठ-4)
इकाई – 3	-आचार्य श्री कुन्दकुन्द की कृतियों में श्रावक एवं श्रमणधर्म	(कुल पाठ-4)
इकाई – 4	-न्याय विद्या की न्याययुक्तता	(कुल पाठ-5)
इकाई – 5	-विभिन्न दृष्टियों की अपेक्षा न्याय व्यवस्था	(कुल पाठ-5)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन

(अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद)

जीवन प्रकाश जैन (M.Sc. Maths), जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

संस्करण - **प्रथम संस्करण (शरदपूर्णिमा-2014)**

मूल्य- **300/-रुपये**

ISBN-978-93-84003-40-1

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

एवं

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

कुलाधिपति की कलम से.....

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. की मान्य डिग्री प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य को निखारने का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में "डी.लिट्." की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012, वैशाख कृ. दूज को माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के शुभ अवसर पर प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में "पीएच.डी." की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. के कोर्स दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किये गये हैं अतः इनका स्टडी मैटेरियल पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने हमारे निवेदन पर अथक परिश्रमपूर्वक तैयार करके दिया है। यह सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में उच्च सफलता हासिल करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का

मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने इस विश्वविद्यालय में "जैन दर्शन विभाग" की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि अब तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के सर्टिफिकेट व डिप्लोमा कोर्स का भी शुभारंभ कर दिया गया है।

मेरे सान्निध्य में बी.ए. एवं एम.ए. जैनोलॉजी कोर्स की पुस्तकें मेरी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती एवं प्रो. टीकमचंद जी ने अत्यन्त सूझ-बूझ के साथ तैयार की हैं। जम्बूद्वीप के पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी का निर्देशन भी इसमें महत्वपूर्ण रहा है। उनके साथ ही संघस्थ बाल ब्र. जीवन प्रकाश ने भी इस कोर्स को तैयार कराने में अपनी सहभागिता के साथ-साथ सर्टीफिकेट डिप्लोमा एवं डिग्री कोर्स को संचालित करने में परिश्रम किया है। इन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है।

विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट व डिप्लोमा प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं हर्ष का परिचायक है।

अतः इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को मेरा कोटिशः आशीर्वाद है कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनी ज्ञानमती)

प्रस्तावना

-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-"कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः" अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है- तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में "महावीर डेन्टल कॉलेज" से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रहा है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये "प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह" में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके अतः त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स के पश्चात् स्नातकोत्तर अर्थात् एम.ए. में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों के लिए दो वर्ष के दूरस्थ शिक्षा कोर्स में कुल 8 पुस्तकें तैयार की गई हैं। जिनमें प्रथम वर्ष (पूर्वार्ध) में 4 पुस्तकें और

द्वितीय वर्ष (उत्तरार्ध) में 4 पुस्तकें हैं। यहाँ पर प्रथम वर्ष की इस चतुर्थ पुस्तक में 5 इकाइयों के अन्तर्गत निम्न विषय प्रस्तुत किये गये हैं–

1. "जैनधर्म" सम्प्रदाय नहीं, सार्वभौम धर्म है
2. जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय
3. आचार्य श्री कुन्दकुन्द की कृतियों में श्रावक एवं श्रमणधर्म
4. न्याय विद्या की न्याययुक्तता
5. विभिन्न दृष्टियों की अपेक्षा न्याय व्यवस्था

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

उपर्युक्त पाँचों इकाइयाँ अलग-अलग पाठों में विभक्त हैं जिनके माध्यम से जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा की भूमिका के प्रायः समस्त पक्षों को प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय के द्वारा संचालित "दूरस्थ शिक्षा" (Distance Education) में एम.ए. के प्रथम वर्ष की इस चतुर्थ पुस्तक के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शिता युक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय दूरस्थ शिक्षा की पाठ्यपुस्तक तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम. ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है।

-8 अक्टूबर 2014, शरदपूर्णिमा

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1—''जैनधर्म'' सम्प्रदाय नहीं, सार्वभौम धर्म है	**1-25**
पाठ-1 सम्प्रदाय निरपेक्षता का पाठ पढ़ाता है जैनधर्म	1-11
पाठ-2 जैनदर्शन आध्यात्मिकता की प्रयोगशाला है	12-17
पाठ-3 आत्म स्वातंत्र्य का प्रतिपादक जैनधर्म	18-25
इकाई 2—जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय	**26-60**
पाठ-1 जैनदर्शन में संसार स्वरूप	26-29
पाठ-2 जैनदर्शन में छह द्रव्य एवं पंचास्तिकाय	30-37
पाठ-3 जैनदर्शन में सात तत्त्व एवं नव पदार्थ	38-43
पाठ-4 जैनदर्शन में गुणस्थान एवं लेश्या	44-60
इकाई 3—आचार्य श्री कुन्दकुन्द की कृतियों में श्रावक एवं श्रमणधर्म	**61-110**
पाठ-1 श्री कुन्दकुन्दाचार्य का जिनभक्ति अनुराग	62-68
पाठ-2 श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा प्रतिपादित श्रावक धर्म	69-78
पाठ-3 मुनियों की सरागचर्या : कुन्दकुन्द की दृष्टि में	79-89
पाठ-4 वीतराग चारित्र एवं उसका फल	90-110
इकाई 4—न्याय विद्या की न्याययुक्तता	**11-152**
पाठ-1 जैन न्याय ग्रंथों के मंगलाचरण	111-119
पाठ-2 न्याय शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता	120-127
पाठ-3 आचार्य अकलंक देव, समन्तभद्र एवं विद्यानंदि की जैन न्याय को देन	128-137
पाठ-4 जैन न्याय की उपयोगिता	138-144
पाठ-5 सर्वोच्च न्याय ग्रंथ : अष्टसहस्री	145-152
इकाई 5—विभिन्न दृष्टियों की अपेक्षा न्याय व्यवस्था	**153-185**
पाठ-1 जैनधर्म और राजनीति	153-161
पाठ-2 जैन न्याय में वाद की मौखिक तथा लिखित परम्परा	162-166
पाठ-3 (हरिवंशपुराण) महाभारतकालीन राजनीति व्यवस्था	167-171
पाठ-4 जैनधर्म की प्राचीनता एवं स्वतंत्रता के विषय में विभिन्न न्यायालयों के निर्णय	172-179
पाठ-5 संविधान निर्माण में जैनों का योगदान	180-185

इकाई–1 "जैनधर्म" सम्प्रदाय नहीं, सार्वभौम धर्म है

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) सम्प्रदाय निरपेक्षता का पाठ पढ़ाता है जैनधर्म

(2) जैनदर्शन आध्यात्मिकता की प्रयोगशाला है

(3) आत्म स्वातंत्र्य का प्रतिपादक जैनधर्म

पाठ-1 – सम्प्रदाय निरपेक्षता का पाठ पढ़ाता है जैनधर्म

1.1 धर्म निरपेक्षता–

भारत धर्म प्रधान देश होने के साथ कर्म प्रधान देश भी है। यहाँ भाग्य के साथ पुरुषार्थ को भी समानता से मान्यता प्राप्त है। प्रत्येक धर्म में भेदभाव से रहित होकर आचरण करने पर बल दिया गया है। भारत में समान संस्कृति और सभ्यता वाले लोग तो मिलकर रहते ही हैं परन्तु असमान सभ्यता और संस्कृति वाले लोगों का समावेश भी भारत की धर्म निरपेक्षता की विशेषता है। यहाँ पर विभिन्न जाति, धर्म, संस्कृति, सभ्यता के अनुयायी निवास करते हैं। इन सभी के मध्य भाईचारा का संबंध स्थापित करने के लिए धर्म निरपेक्षता की नितान्त आवश्यकता है। जैनधर्म का कथन है कि सभी जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ का भाव रखने से द्वेषभाव कम होता है। अन्य धर्मों ने मात्र मनुष्य के प्रति मैत्री, प्रेम का भाव रखने का संकेत दिया है, परन्तु जैनदर्शन में आचार्य अमितगति ने कहा है कि–

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव।।

अर्थात् सभी से मित्रता, गुणीजनों में आनन्द का भाव, दु:खी जीवों पर कृपा का भाव तथा विपरीतवृत्ति वाले जीवों में माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। इन भावों के कारण से बुद्धि में विकार भाव उत्पन्न नहीं होते तथा व्यक्ति नि:स्वार्थ भावना से सतत धर्म निरपेक्षता के प्रति प्रयत्नशील होता है।

1.2 धर्म का स्वरूप–

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में विविध आचार्यों ने धर्म के स्वरूप का कथन बहुत प्रकार से किया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि–

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दु:खतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।

अर्थात् जो जीवों के कर्म नाश करने में सहायक तथा संसार रूपी दु:ख से छुड़ाकर उत्तम सुख में धरता है उस धर्म को कहने की प्रतिज्ञा आचार्य महाराज ने की है। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी कहा है–

जो धर्मात्मा पुरुषों को नीचपद से उच्चपद में धारण करता है वह धर्म कहलाता है। संसार नीचपद है तथा मोक्ष उच्चपद है। जो मनुष्य को इस अपार संसार–सागर के दु:खों के उद्धार करके नित्य और अविनाशी सुख वाले मोक्ष में धरे, उसे धर्म जानना चाहिये। यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव सूरि महाराज ने अभ्युदय मोक्ष सुख प्राप्त कराने वाले को धर्म कहा है तथा सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादस्वामी ने **'इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः'** कहकर आत्मा को इष्ट स्थान में धरने वाले को धर्म कहा है।

हड़प लेना, किसी का गड़ा धन निकाल लेना आदि सब स्थूल चोरी के उदाहरण हैं। भारतीय दण्ड संहिता और भारतीय दर्शन चोरी को अपराध मानते हैं तथा चोरी करने वाले को पापी कहते हैं। इसी कारण प्राचीन समय में राजा चोरी करने वाले व्यक्ति के हाथ आदि कटवा देते थे। अतः सर्वविदित है कि चोरी अपराध है वही जैनदर्शन चोरी का सूक्ष्म और स्थूल के भेद से श्रावक और साधक को त्यागने का निर्देश करता है।

1.8 ब्रह्मचर्य व्रत–

यौनाचार के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। गृहस्थ अपनी कमजोरी वश पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण नहीं कर पाता। उसके लिए विवाह का मार्ग खुला है वह कौटुम्बिक जीवन में प्रवेश करता है। उसके विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन करना ही होता है। विवाह के बाद वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री की तरह समझता है तथा पत्नी अपने पति के सिवाय अन्य सभी पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र की तरह समझती हुई दोनों एक दूसरे के साथ ही संतुष्ट रहते हैं। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदारसंतोष व्रत कहते हैं। ब्रह्मचर्य को हिन्दू एवं जैन दोनों धर्म महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हिन्दुओं में नागा साधुओं को सबसे उत्कृष्ट साधु माना जाता है। वे नागा साधु आजीवन ब्रह्मचारी रहते हैं, परन्तु जैन आगमों में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यधारी जीव को इन्द्र भी नमस्कार करता है। जैनदर्शन में स्वदार संतोषी श्रावक को भी आंशिक ब्रह्मचारी कहा गया है अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन में ब्रह्मचर्य का जितना सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है उतना सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र अप्राप्य है।

1.9 अपरिग्रह व्रत–

धन–धान्यादि बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहते हैं। मनुष्य के पास जितनी अधिक संपत्ति की कामना होती है उसके पास उतनी ही अधिक मूर्च्छा आसक्ति या ममत्व होती है। अपनी इसी आसक्ति के कारण आवश्यकता न होने पर भी वह अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की कोशिश करता है। यद्यपि मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति थोड़े से प्रयत्न से की जा सकती हैं, किन्तु आकांक्षाओं के अनन्त होने के कारण मनुष्य में और अधिक जोड़ने की भावना बनी रहती है इसे परिग्रह की संज्ञा दी है। संसार में परिग्रह को पाप की संज्ञा देने वाला जैनधर्म ही एक मात्र धर्म है अन्य धर्म परिग्रह को पाप न मानकर आजीविका का साधन मानते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए पूरा जीवन समाप्त कर देते हैं।

1.10 जलगालन–

जैनधर्म में पानी छानने की एक विशेष विधि है। जिसमें एक मोटा कपड़ा लिया जाता है जिससे सूर्य की रोशनी आरपार नहीं जा सके। उसका नाप 36 अंगुल लम्बा और 24 आंगुल चौड़ा वस्त्र को दोहरा करके पानी छानने का निर्देश है। इस प्रकार के जल को ग्रहण करने का प्रत्येक जैन के लिए निर्देश दिया है। साधु त्रस, स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं। इसलिए वह गर्म पानी को ही ग्रहण करते हैं तथा डॉक्टर और वैज्ञानिक भी लोगों को स्वस्थता के लिए गर्म प्रासुक जल पीने की सलाह देते हैं। इससे जीवों की हिंसा से भी बचा जा सकता है तथा स्वास्थ्य भी अच्छा रखा जा सकता है। डॉक्टर जगदीश चंद बसु ने अनछने पानी की एक बूँद में 36450 जीव बताये हैं। जैन ग्रंथों के अनुसार उक्त जीवों की संख्या काफी अधिक है। ऐसा कहा जाता है कि एक जल बिन्दु में इतने जीव पाये जाते हैं कि वे यदि कबूतर की तरह उड़ें तो पूरे जम्बूद्वीप को व्याप्त कर लें। उक्त जीवों के बचाव के लिए पानी को वस्त्र से छानकर पीना चाहिए। मनुस्मृति में भी **'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेत् जलम्'** कहकर जल छानकर पीने का परामर्श दिया गया है।

जैनदर्शन में पानी छानने का मूल उद्देश्य जीवों की रक्षा करना तथा जीवहिंसा से बचकर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करना है। इसी कारण प्राचीनकाल में और वर्तमान काल में ग्रामों में आज भी पानी को कुओं, तालाबों से निकालकर उसकी जीवाणी अर्थात् छने हुए त्रस जीवों को यथास्थान पहुँचाने के लिए कुन्दे की बाल्टी से कुएं या तालाब में वापस पहुँचाते हैं। इसके साथ ही पानी निकालते समय ध्यान रखा जाता है कि पानी की जीवाणी भी उस जलाशय में डालनी चाहिए। इस प्रकार छने पानी के प्रयोग से स्वास्थ्य तथा धर्म दोनों की रक्षा होती है। अन्य दर्शनों में भी पानी छानने के लिए निर्देश देते हुए कहा है कि–

संवत्सरेण यत्पापं कुरुते मत्स्यवेधकः।
एकाहेन तदानोति अपूत जल संग्रही।।

अर्थात् एक मछली मारने वाला वर्ष भर में जितना पाप अर्जित करता है, उतना पाप बिना छने जल का उपयोग करने वाला एक दिन में कर लेता है। इसी प्रकार उत्तर मीमांसा में जल छानने की विधि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि–

त्रिंशदंगुलप्रमाणं विंशत्यंगुलमायतं।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य गालयेच्चोदकं पिबेत्।
तस्मिन् वस्त्रे स्थिता जीवा स्थापयेज्जलमध्यतः
एवं कृत्वा पिबेत्तोयं स याति परमां गतिम्।।

अर्थात् तीस अंगुल लम्बे और बीस अंगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करके उससे छानकर जल पियें तथा उस वस्त्र में जो जीव हैं उनको उसी जलाशय में स्थापित कर देना चाहिए जहाँ से वह जल लाया गया हो। इस प्रकार से जो मनुष्य छना जल पीता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है।

अतः जैनधर्म एवं अन्य धर्मों के सिद्धान्तों में सामञ्जस्य देखने पर यह ज्ञात होता है कि पूर्व युग में जैनधर्म व्यक्तिगत किसी जाति का धर्म नहीं था वह सार्वभौमिक एवं धर्म निरपेक्ष था।

1.11 रात्रिभोजन त्याग–

जीवन में सुख का अनुभव करने के लिए स्वास्थ्य लाभ आवश्यक है। स्वास्थ्य लाभ से ही मानव जीवन तथा अन्य जीवों का जीवन सुखी और शान्त बन सकता है। इसके लिए एक कहावत चरितार्थ होती है कि **'पहला सुख निरोगी काया'** इस निरोगी काया के लिए प्राणी अनेक प्रयत्न करता है वह अपना पूरा जीवन शरीर को निरोगी बनाने तथा संभालने में लगा देता है। परन्तु यह शरीर फिर भी रोगी बना रहता है। इसका कारण एक ही है कि वह कार्य तो निरोगी होने के करता नहीं, परन्तु निरोगी बनना चाहता है।

आचार्यों ने शरीर को निरोगी करने के लिए रात्रिभोजन त्याग करना जीवों के लिए आवश्यक बताया है। सभी जीवों में लगभग सभी शाकाहारी जीव तो रात्रि में आहार ग्रहण नहीं करते, परन्तु मानव एक ऐसा प्राणी है जो जानकर भी रात्रि में आहार ग्रहण कर अपनी काया को रोगी तथा आयु को कम करता है।

1.12 रात्रिभोजन के कारण–

1. रात्रिभोजन के कुप्रभावों की सही जानकारी का अभाव।
2. सामाजिक और नौकरी पेशे की अव्यवस्थाएँ।
3. कार्यालयों और दुकानों में भोजन अवकाश का समय निर्धारित न होना।
4. असमय में बालकों का स्कूल, कॉलेज और ट्यूशन आदि करना।
5. सुबह की चाय, नाश्ता, लंच आदि प्रारंभ होने से दिन में निर्धारित समय पर भूख नहीं लगना।

6. मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण का अभाव।

7. भौतिक समस्याओं की बढ़ती आवश्यकता और उसकी पूर्ति के कुप्रयास करना।

8. आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु रात–दिन श्रम करना।

9. सूर्य और कृत्रिम प्रकाश में अंतर की जानकारी का अभाव होना।

10. पाश्चात्य संस्कृति और आधुनिकता का चरम सीमा पर प्रभाव।

11. विवाह, पार्टी आदि में सामूहिक रात्रिभोजन को देखकर रात्रिभोजन त्यागी को दूसरों के द्वारा व्यंग्य, तर्क–कुतर्क करके जबरन रात्रि भोजन करने को बाध्य करना।

12. टी. वी., सिनेमा आदि पर रात्रि भोजन में मौज–मस्ती का प्रदर्शन और होटल, भोजनालय आदि में रात–दिन भोजन का उपलब्ध होना।

1.13 रात्रिभोजन त्याग की आवश्यकता–

रात्रिभोजन त्याग के महत्त्व को जानने के साथ–साथ हमें शारीरिक संरचना को जानना भी परम आवश्यक है। संसार के प्रत्येक प्राणियों के शरीर की संरचना भिन्न–भिन्न प्रकार से है, अलग–अलग आकार प्रकार से भोजन करने और पचाने की प्रक्रिया होती है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार दुनिया का सबसे बड़ा आश्चर्य मानव शरीर है। वैज्ञानिक भी इस मानव शरीर के बारे में ऊहापोह में लगे हैं कि आखिर यह मानव शरीर इतने वर्षों तक निरन्तर कैसे चलता रहता है जो संवेदना से युक्त होता है, जो अच्छे–बुरे का ज्ञान करा देता है जो अन्दर रासायनिक पदार्थों को तैयार करके आवश्यकता पड़ने पर बाहर निकालता रहता है जो अन्दर ही अन्दर अपना भोजन पचाकर आवश्यक ऊर्जा देता रहता है और बाहरी रोगाणुओं से अपनी सुरक्षा करता रहता है, परन्तु जो इसकी प्रकृति के विरुद्ध आता है उसे तत्काल दण्ड भी देता है।

1.14 अन्य धर्मों में रात्रिभोजन का निषेध–

वर्तमान युग में रात्रिभोजन का सेवन प्रत्येक धर्म का अनुयायी कर रहा है। उसे इस विषय की जानकारी नहीं है कि रात्रिभोजन करने से धर्म के साथ स्वास्थ्य भी खराब होता है। वैदिक साहित्य में रात्रि भोजन के निषेध के लिए अनेक ग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत के शांतिपर्व में रात्रिभोजन त्याग के बारे में बतलाते हुए कहते हैं कि–

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः। तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते।।

नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिरः। तपस्विनां विशेषेण गृहिणां च विवेकिना।।

जो रात्रि में सब प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं, उन्हें एक माह में एक पक्ष के उपवास का फल मिलता है। हे युधिष्ठिर! विशेषकर तपस्वियों एवं ज्ञान संपन्न गृहस्थों को तो रात्रि में जल भी नहीं पीना चाहिए।

1.15 जैनधर्म और अन्य धर्मों के कुछ सिद्धान्तों का समावेश–

1. जैनदर्शन में प्रत्येक श्रावक को चाहे वह क्षत्रिय हो या शूद्र हो या वैश्य अथवा ब्राह्मण हो सभी को आपत्तिजनक वस्तुओं के क्रय–विक्रय का निषेध किया गया है। यदि वह आपत्तिजनक वस्तुओं का क्रय–विक्रय करता है, विरुद्धराज्यातिक्रमण नामक दोष से दूषित होता हुआ पाप का बंध करता है। इसी बात की अंशतः पूर्ति वैदिक परपंरा में देखने को मिलती है। वैदिक परंपरा में कहा गया है कि ब्राह्मण आपत्तिकाल में वाणिज्य कर्म कर सकता है, किन्तु वस्तु विक्रय के संबंध में उस पर नियंत्रण थे। वह आपत्तिजनक वस्तुओं का कदापि क्रय–विक्रय नहीं कर सकता।

2. जैनदर्शन में मन, वचन और काय की पवित्रता को मोक्ष का साधन कहा गया वहीं पारसी धर्म में हुमता–सद्विचार, हुमबसत्कथन, और हुबस्ता–सत्कार्य को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना गया है।

3. जैनदर्शन की मूल जड़ अहिंसा के साथ क्षमा, नम्रता, दया, त्याग आदि को दस धर्मों का लक्षण कहा है। इसी प्रकार जैनाचार्य सोमदेव ने नैतिकता के लिए नीतिवाक्यामृत में धर्म में नैतिकता की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है वहीं ईसाई धर्म में महात्मा ईसा ने नम्रता, क्षमा, दया, त्याग आदि पर विशेष बल दिया है तथा ईसाई धर्म में भी नैतिकता को धर्म का केन्द्र माना है।

4. आचार्य उमास्वामी ने **'परस्परोपग्रहो जीवनाम्'** सूत्र देकर जीवों को परोपकार करने का मार्ग बताया तथा कहा कि दूसरों की निंदा करने से नीच गोत्र का आश्रव होता है। इसी बात को इस्लाम धर्म में कहा है कि जो खुदा के मार्ग पर चलता है वही सही मार्ग पर चलता है। जो धन परोपकार के लिए खर्च किया गया है, वही धन तुम्हारा है शेष धन तुम्हारा नहीं है तथा कुरान शरीफ में इस बात पर भी जोर दिया है कि खुदा का बंदा शराब न पीये और जुआ न खेले इससे स्वास्थ्य और धन के साथ–साथ धर्म भी नष्ट होता है। जो मानव स्वयं के दोषों को निहारता है, उसे दूसरों के दोष देखने का अवकाश नहीं होता। निंदा करने वाला और सुनने वाला–ये दोनों ही समान रूप से पापी हैं। पेट और उपस्थ (जननेन्द्रिय) को हराम की जगह से बचाओ क्योंकि इन्हीं के कारण से हराम के कार्य होते हैं। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि जिसने तुम्हारे साथ असद्व्यवहार किया हो उनके साथ सद्व्यवहार करो तथा यतीमों (अनाथों) की भलाई करो। इस तरह जैनदर्शन के अंशत: संयम आचरण शुद्धता आदि सिद्धान्तों का दर्शन इस्लाम धर्म में भी प्रतिबिम्बित होता है।

5. जैनदर्शन के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन सिख धर्म में भी प्राप्त होता है। सिख धर्म में आचरण पर विशेष जोर दिया गया है और कहा गया है कि सत्य से भी ऊँचा आचार है तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि दुर्गुणों पर नियंत्रण करने से चारित्र उन्नत होता है। सिख धर्म में सबके आगे झुकना, क्षमा करना और मीठा बोलना ये तीन वचन मुक्ति के मार्ग बताये गये हैं

1.16 सांस्कृतिक और सामाजिक धर्म निरपेक्षता–

संस्कृति हर देश की अपनी धरोहर होती है। यदि संस्कृति का नाश हो जाता है तो वह देश भी कुछ दिनों तक जीवित रहता है। प्राचीन भारत में राजतंत्र का प्रचलन था। जिसमें राजा के अधीन होकर धर्म तथा कर्म किया जाता था। यदि राजा पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने वाला होता था तो प्रजा अपना धर्म तथा कर्म निर्विघ्नता से नहीं कर सकती थी। आदम युग में देखा जाए तो सभी राजा अपनी प्रजा की भलाई के लिए प्रतिक्षण प्रयत्न करते रहते थे। वे सदैव उनकी रक्षा करते थे। परन्तु कोई भी राजा प्रजा की संस्कृति के साथ अन्याय पूर्ण व्यवहार नहीं करता था। राजा किसी भी संस्कृति का पालन करने वाला हो, परन्तु वह प्रजा की संस्कृति पर आघात नहीं पहुँचाता था और यदि वह प्रजा की संस्कृति पर आघात करता था तो प्रजा उसे राज्यपद से च्युत कर देती थी। जैसे उपश्रेणिक ने अपने पुत्र चिलाती को राज्य प्रदान किया था, परन्तु वह प्रजा के साथ अन्याय तथा प्रजा की संस्कृति के साथ आघात पूर्ण व्यवहार करने लगा था जिससे उसे प्रजा ने राजसिंहासन से च्युत करके श्रेणिक को राजा नियुक्त किया था। संस्कृति के अंतर्गत मानव का रहन सहन, आहार–विहार, वस्त्रों का पहनाव आदि को सम्मिलित करते थे।

पूर्व काल में किसी भी देश का या रियासत का रहन–सहन पृथक् होता था जिससे उसके देश के काल का पता चलता था। जैनधर्म में वर्णन प्राप्त हेाता है कि राजा प्रजा के रहन–सहन पर हस्तक्षेप नहीं करता था तथा दूसरे राज्य से आये हुए मेहमान को उस राज्य की वेषभूषा, रहन–सहन आदि को अपनाने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता था। हरिवंशपुराणकार ने वसुदेव के देश–विदेश भ्रमण के समय वसुदेव के रहन–सहन के परिवर्तन का संकेत नहीं दिया तथा वसुदेव देश–विदेश में परिभ्रमण करते रहे परन्तु किसी राजा ने उनके रहन–सहन को बदलने के लिए बाध्य नहीं किया। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति कहीं भी जाये उसे अपनी संस्कृति को परिवर्तन करने के लिए स्वतंत्रता थी, चाहे वह परिवर्तन करें अथवा न करें।

रहन–सहन के समान व्यक्ति आहार–विहार के लिए भी स्वतंत्र था। उसको परिभ्रमण काल में भी अपने आहार–विहार के लिए दूसरे व्यक्ति के द्वारा बाधा नहीं पहुँचती थी। नागकुमार चरित्र में नागकुमार को अन्य देशों में परिभ्रमण करते हुए वर्णन किया है। जिसमें उसके आहार–विहार की स्वतंत्रता का वर्णन प्राप्त होता है। **राजा की राज्यसभा** में विभिन्न धर्म के अनुयायी पदों पर पदस्थ थे। राजा इन पदस्थ कर्मचारियों को राज्य का काम देता था राजा को उनके धर्म तथा संस्कृति से किसी प्रकार का मतलब नहीं होता था। इन पदों में मंत्री, सेनापति, राजपुरोहित, सभासद, विद्वत्वर्ग आदि महत्त्वपूर्ण पद थे राजा इनकी ईमानदारी तथा कार्य करने की कुशलता से प्रसन्न होकर इनको पदों पर स्थापित करता था। इस प्रकार की व्यवस्था से सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक व्यवस्था अबाधित रूप से चलती थी। यह धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना का सूचक है।

कुछ काल के बाद भारत में धर्म निरपेक्षता में हानि होने लगी। मुगल शासक अपने धर्म की स्थापना के लिए दूसरे के धर्म का नाश करने लगे तथा दूसरे धर्म की संस्कृति का नाश के अपनी संस्कृति का बल पूर्वक स्वीकार करने को बाधित करने लगे। परिणाम स्वरूप समाज में अराजकता, भय, अविश्वास की वृद्धि एवं संस्कृति का ह्रास होने लगा।

1.17 न्यायिक धर्म निरपेक्षता–

धर्म निरपेक्षता के लिए न्याय का बहुत ही महत्त्व है यदि प्रजा को राजा न्याय नहीं देता तो प्रजा स्वयं ही निर्णय करने लगेगी। राजा को प्रजा तथा धर्म के अनुरूप न्याय करने की क्षमता होनी चाहिए। यदि राजा पक्षपातपूर्ण न्याय–अन्याय का निर्णय करेगा तो प्रजा का राजा के ऊपर से विश्वास हट जाएगा और जिस प्रजा का राजा के ऊपर से विश्वास हट जाता है वह राजा राज्य करते हुए भी राजा नहीं है। या तो वह प्रजा पर बलपूर्वक राज्य करता है या राज्य से च्युत कर दिया जाता है। इसलिए राजा को न्याय पूर्वक राज्य करना चाहिए। पुरा काल में रामराज्य को अच्छा माना जाता था क्योंकि राम ने न्याय के लिए अपनी प्रिय पत्नी का भी त्याग कर दिया था। राजा विक्रमादित्य का शासन काल भी कुछ ऐसे ही न्याय परायण राजा का स्मरण कराता है। न्यायपूर्ण राज्य करने वाला राजा युगों–युगों तक इतिहास में प्रसिद्ध होता है।

1.18 धर्म निरपेक्षता से लाभ–

एकता में वृद्धि–

यदि जाति वर्ग आदि असमान हो परन्तु मन समान हो तो मित्रता में वृद्धि होती है। मन के समान होने के कारण धर्म निरपेक्षता है इसी धर्म निरपेक्षता के कारण विभिन्न वर्गों के लोगों में संगठन दिखाई देता है।

सुख, शांति, निर्भयता में वृद्धि–

वर्तमान समय में समाज में प्रत्येक व्यक्ति दु:खी है क्योंकि उसका मन दु:खी है वह अशान्त है इस कारण उसे भय है। अपनी एकांत धारणा के कारण दूसरों का अप्रिय बन चुका है। इससे वह भय से जीवन व्यतीत करता है। दूसरी ओर साधु दोनों पक्षों को जानकर मन को एकाग्र कर सुख, शांति तथा निर्भयता का जीवन व्यतीत करते हैं।

पापकर्म बंध में मंदता–

संसार में सबसे अधिक पापकर्म का बंध रागद्वेष के कारण होता है तथा जब व्यक्ति के अन्दर धर्म निरपेक्षता अर्थात् भेदभाव से रहित अवस्था का आगमन हो जाएगा तो वह रागद्वेष नहीं करेगा और निष्पक्ष भाव से निर्णय करेगा।

समाज में सम्मान वृद्धि–

समाज में जो व्यक्ति निष्पक्ष भाव से निर्णय करता है अथवा निर्णय सुनता है उस व्यक्ति का सम्मान प्रत्येक व्यक्ति अंतरंग से करता है।

भेदभाव रहित समाज का निर्माण–

धर्म निरपेक्ष होने पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अच्छे विचारों को ग्रहण करने में स्वतन्त्र होगा। उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होगा तथा व उच्च–नीच भावना से ग्रसित नहीं होगा, जिससे भाईचारे में वृद्धि होगी तथा आतंकवाद जैसी समस्याओं का निवारण हो सकेगा। आतंकवाद का प्रचलन मात्र आपसी मतभेद के कारण बढ़ रहा है जब मतभेद नहीं होगा तो समस्या नहीं रहेगी। वर्तमान समय में प्रत्येक घर में या समाज में आपसी झगड़ों का कारण मनभेद है और वह मनभेद स्वयं की अपेक्षा की पूर्ति दूसरों के द्वारा नहीं होने के कारण से होता है। इस अपेक्षा से रहित जीवन का नाम निरपेक्ष भाव है।

सम्यक् कार्य के निर्णय की शक्ति में वृद्धि–

आपसी कलह या एकान्त धारणा के साथ मन कुण्ठित हो जाता है जिससे मन में शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता में कमी होती है। जब मनुष्य दोनों पक्षों को सुनकर अनेकान्त या धर्म निरपेक्षता से मन को एकाग्र करता है मन में किसी के प्रति संदेह नहीं रहता तो अच्छे कार्यों के प्रति निर्णय शीघ्रता से ले लेता है।

1.19 धर्म निरपेक्षता के अभाव से हानि–

1. सांप्रदायिक मतभेद एवं वैमनस्यता–

आज वर्तमान में संगठन के नाम पर या धर्म के नाम पर झगड़े प्रारंभ हो गये हैं। सभी लोगों में अपना मत स्थापित करने की तथा दूसरे के मत को बहिष्कृत करने की भावना बलवती हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों से अपने संगठन या धर्म को मजबूत करना चाहता है, परन्तु वह धर्म के मर्म को भूलकर अपने मत की पुष्टि करता है यदि वह धर्म के मर्म को समझ जाये तो वह अपने साधर्मी भाई के मत के बहिष्कार करने से पहले उसकी अपेक्षा को समझेगा। इसे ही धर्म निरपेक्षता कहते हैं, परन्तु इस बात को जाने बिना एक–दूसरे के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न कर लेते हैं और संगठनों में वैमनस्यता प्रारंभ हो जाती है। सांप्रदायिक मतभेद एवं वैमनस्यता समाप्त करने के लिए धर्म निरपेक्षता आवश्यक है।

धर्म से आस्था समाप्त होना–

सांप्रदायिक मतभेद के कारण धार्मिक स्थलों में और धार्मिक कार्यक्रमों में झगड़े, मनमुटाव प्रारंभ हो गये हैं। इस कारण लोग धार्मिक मंचों को भी राजनीतिक मंचों के समान उपयोग करने लगे हैं। वर्तमान युवापीढ़ी या सामान्य जन जब इस प्रकार का वातावरण धार्मिक स्थलों में देखते हैं तो उन्हें धर्म की अपेक्षा आपसी मतभेद दिखाई देते हैं। जिस कारण वह धार्मिक कार्यक्रमों से हटता जाता है और एक समय ऐसा आता है कि उसकी धर्म से पूर्ण रूप से श्रद्धा समाप्त हो जाती है।

पाप कार्यों में स्वतंत्रता–

जब युवापीढ़ी धार्मिक स्थलों में पुण्य की क्रियाओं की अपेक्षा विकथाओं की क्रिया को करते देखती है तो अज्ञान होने के कारण वे उस क्रिया को ही धर्म मान लेते हैं तथा दया आदि क्रियाओं से रहित क्रिया काण्डों को ही धर्म मानकर धर्म के नाम पर स्वतंत्र रूप से पाप करते हैं तथा इन क्रियाओं के अतिरिक्त धार्मिक स्थलों में धार्मिक संस्कार नहीं मिलने के कारण वे अन्य स्थलों में पाप की क्रियाओं को अधिक करते हैं। अतः धार्मिक मतभेद को मिटाकर एक दूसरे के विचारों की अपेक्षा से समझकर धर्म निरपेक्ष भाव से वैमनस्यता को समाप्त करना चाहिए।

धर्म निरपेक्षता के अभाव के कारण–

प्राचीन युग में धर्म निरपेक्षता पूर्ण व्यवहार किया जाता था, परन्तु वर्तमान में धर्म निरपेक्षता के अभाव के कारण बहुत हैं। जिनके कारण व्यक्तियों का निरपेक्ष राज्य से विश्वास समाप्त हो गया है उनमें से कुछ कारण निम्न हैं–

मान कषाय–

पूर्वकाल से व्यक्ति जिस भेदभाव रूपी गलत मान्यता का अनुसरण कर रहा है उस मान्यता में अथवा परम्परा में सुधार लाने का विचार बनाता भी है तो उसकी मान कषाय उस काम में विघ्न रूप से उपस्थित हो जाती है। वह मान कषाय की पूर्ति के लिए भेदभाव रूप नीति को अपनाने में बाध्य हो जाता है उसे लगता है कि यदि वह धर्म निरपेक्षता को स्वीकार करके सभी से समानता का व्यवहार करने लगेगा तो उसके परिवार की परम्परा का क्या होगा उसे लोग क्या कहेंगे ? इस कारण वह मान कषाय को बचाने के लिए धर्म निरपेक्षता से दूर रहता है।

हठधर्मिता–

यह मान कषाय का ही दूसरा रूप है। इसमें व्यक्ति एक बार किसी मान्यता को ग्रहण कर लेता है तो अपने हठीले स्वभाव के कारण वह उसे छोड़ नहीं पाता। जिससे उसका पतन तो होता है और उसके संगठन में भी मिथ्या मान्यता का प्रचार होता है।

पराधीनता–

आज वर्तमान में पराधीन व्यक्ति धर्म निरपेक्षता के लिए स्वतंत्र नहीं है। वह जिसके अधीन काम करता है उसकी मान्यता का अनुसरण करना पड़ता है वरना उसे उसके कार्य से बहिष्कृत किया जा सकता है। स्वामी अपने नौकर को अपने धर्म को स्वीकार कराने के लिए प्रयत्न करता है। पत्नि पति के धर्म के अनुसार गमन करती है।

स्वार्थपरायणता–

व्यक्ति का अपना कोई धर्म निश्चित नहीं रह गया है वह जहाँ अपना स्वार्थ देखता है वह उसी में अपना विचार बना लेता है चाहे वह सही हो या गलत हो इस स्वार्थी जीवन के कारण धार्मिक स्थलों में भी अपना लाभ देखने लगे हैं। अतः धर्म को निष्पक्ष भाव से देखकर ही ग्रहण करना चाहिए।

1.20 निष्कर्ष–

वर्तमान काल में धर्म निरपेक्षता का अतिमहत्त्व है। अराजकता, अन्याय, पक्षपात, दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप न करें इसलिए आवश्यक है एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना होनी चाहिए। सांप्रदायिकता में भेदभाव हो गया है प्रत्येक धर्म में मतभेद के कारण नये सांप्रदायिकों का जन्म हो रहा है। जिससे समाज के कई विभाग हो रहे हैं और विदेशी संस्कृति भारत की संस्कृति पर अपना कुप्रभाव दिखा रही है। बड़े, बुजुर्गों की बात कोई भी सुनता नहीं जब तक पूर्ण रूप से धर्म निरपेक्षता नहीं होगी तब तक मतभेद होता रहेगा और समाज के टुकड़े होते रहेंगे। अतः समाज की अखण्डता के लिए एवं परिवार में सुख, शांति के लिए धर्म निरपेक्षता की नितांत आवश्यकता है।

1.21 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–महाभारत काल में युधिष्ठिर को कौन सी उपाधि दी गई थी ?

(क) धर्मराज ☐
(ख) सत्यराज ☐
(ग) कोई नहीं ☐

प्रश्न 2–भारत धर्म प्रधान देश होने के साथ ..... देश भी है ?

(क) भाईचारा प्रधान ☐
(ख) कर्म प्रधान ☐
(ग) एकता प्रधान ☐

प्रश्न 3 – अन्य भारतीय धर्मों में सत्य को क्या कहा है ?

(क) शांति ☐
(ख) करुणा ☐
(ग) ईश्वर ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1 – धर्म निरपेक्षता का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 2 – धर्म का स्वरूप क्या है ?

प्रश्न 3 – संस्कृति और सामाजिक धर्म निरपेक्षता को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1 – न्यायिक धर्म निरपेक्षता कैसी होनी चाहिए ? धर्म निरपेक्षता के अभाव से होने वाली हानि को लिखिए।

पाठ 2 – जैनदर्शन आध्यात्मिकता की प्रयोगशाला है।

2.1 भारतीय दर्शनों में आर्हत् (जैन) दर्शन का अपनी विशेष चिन्तन धारा के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह आध्यात्मिक होने के साथ–साथ एक यथार्थवादी दर्शन भी है। इसके चिन्तकों ने आत्मा, परमात्मा और इस अखिल ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में काफी गहन चिन्तन, मनन और अनुसन्धान किया है। आर्हत् दर्शन की तत्त्व और द्रव्य सम्बन्धी अवधारणायें विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक और यथार्थपरक हैं। सृष्टि के ईश्वर कर्तृत्व सम्बन्धी अवधारणा की अस्वीकृति के पीछे इस दर्शन की तत्त्व और द्रव्य स्वरूप प्रणाली का ही प्रमुख आधार है क्योंकि जैन दर्शन ने समग्र लोक को षड् द्रव्यात्मक माना है। अतः यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (लोक) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–इन छह द्रव्यों का समूह है। ये सभी द्रव्य स्वभावसिद्ध, अनादि निधन और लोक स्थिति के कारणभूत हैं।

यद्यपि सभी दर्शनों में द्रव्य और उसका स्वरूप अपनी–अपनी मान्यताओं के अनुरूप प्रतिपादित है। आर्हत् दर्शन में सर्वत्र द्रव्य, तत्त्व और सत्–इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहाँ द्रव्य अनादि और अनन्त है। फिर भी सभी द्रव्य इन/छह के ही अन्तर्गत हैं इसीलिए ये द्रव्य छह ही हैं, न इनसे कम और न अधिक। एक–एक द्रव्य में अनन्त–अनन्त गुण हैं और एक–एक गुण की अनन्त–अनन्त पर्यायें हैं।

आर्हत् दर्शन में सम्यग्दर्शन–ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का साधन माना गया है। इनमें तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। सामान्य विशेष रूप से इन तत्त्वों का अधिगम करना सम्यग्ज्ञान है तथा राग–द्वेष आदि दोषों का परिहार करना सम्यक् चारित्र है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष में सात तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप के संयोजन से ये ही नव पदार्थ कहे जाते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि समस्त प्राणियों को सुख–दुःख के झूले में सदा झूलना पड़ता है। ये सुख और दुःख उन्हें अपने पाप–पुण्य के फल स्वरूप प्राप्त होते हैं। जीव और अजीव का सम्बन्ध जीव को संसार में भटकाता है और जीव–अजीव के सम्बन्ध की आत्यन्तिक निवृत्ति ही जीव को पूर्ण सुखी अर्थात् मोक्ष का वासी बनाती है। जीव के द्वारा शुभाशुभ भावों के परिणाम स्वरूप शुभाशुभ कर्म (जो कि पौद्गलिक हैं) जीव से संश्लिष्ट हो जाते हैं और उसके सुख–दुःख के एक निमित्त बनते हैं। सुख–दुःख मोक्ष आदि की यह पदार्थवादी व्याख्या जैनदर्शन को यथार्थवादी बनाती है। पूर्ण मुक्ति अर्थात् मोक्ष में ही जीव पूर्णतः स्वभाव में आ पाता है, इसके अलावा जीव का संसार में जितना भी परिणमन है उसमें अजीव तत्त्वों, विशेषकर कर्म पुद्गल परमाणुओं की उसके साथ भिन्नाभिन्न मित्रता ही सहयोगी कारण बनती है। अजीव तत्त्व की सूक्ष्म व्याख्या में जैनदर्शन ने जितनी गहराई नापी है उसकी थाह पाना असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य है।

पूर्वोक्त सभी तत्त्वों, द्रव्यों और पदार्थों का यथार्थज्ञान करने के लिए जैन आचार्यों ने उपाय तत्त्व और ज्ञापन तत्त्व के रूप में प्रमाण, नय, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं सप्तभंङ्गी आदि दार्शनिक प्रस्थानों का प्रभावशाली विवेचन किया है जो संपूर्ण भारतीय दर्शन ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व को जैनदर्शन की बहुमूल्य एवं अनूठी देन है। इन्हीं सबके आधार पर द्रव्य सम्बन्धी जैनदर्शन सम्मत विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

2.2 यथार्थ सत्ता–द्रव्य की परिभाषा–

जैन धर्म–दर्शन में द्रव्य एक यथार्थ सत्ता है तथा उसकी अपनी एक विशिष्ट परिभाषा है। व्युत्पत्ति के आधार पर **'यथारवं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि'**–अर्थात् जो यथायोग्य अपनी–अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जिसका लक्षण सत् है वह द्रव्य है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह द्रव्य है तथा जो गुण और पर्याय का आश्रय है वह द्रव्य है। तत्त्वार्थसूत्र में भी द्रव्य की यही परिभाषायें की गयी हैं।

सभी पदार्थ 'सत्' (अस्तित्व) रूप है। उत्पाद, व्यय, और धौव्य–इन तीनों से युक्त 'सत्' कहलाता है। अपनी जाति का त्याग किये बिना जिस वस्तु में उत्पाद (नवीन पर्याय की उत्पत्ति), व्यय (पूर्व पर्याय का त्याग या नाश) तथा ध्रौव्य अर्थात् पूर्व एवं आगामी इन दोनों पर्यायों में अनादि काल से चले आये हुए वस्तु के अपने असली स्वभाव का नाश न होना (सुरक्षित रहना) इस तरह ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों से युक्त सत् (द्रव्य) होता है। इन्हीं को गुण और पर्याय शब्द द्वारा व्यक्त करके **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** कहा गया। अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है। अतः उक्त तीनों में ध्रौव्य का ही दूसरा नाम गुण है तथा उत्पाद और व्यय ये द्रव्य की पर्यायें हैं। दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। गुण द्रव्य में सदा विद्यमान रहता है और पर्यायें उत्पन्न तथा विनष्ट होती रहती हैं। पर्यायें भी गुण से अलग नहीं रहतीं अर्थात् कोई भी गुण पर्याय के बिना नहीं रहता और कोई पर्याय बिना गुण के नहीं होती। द्रव्य में गुण अन्वयी और सहभावी होते हैं किन्तु पर्याय क्रमभावी होती है वे एक दूसरे से नहीं मिलती अतः पर्यायों का स्वभाव व्यतिरेकी होता है। पर्यायें प्रतिसमय बदलती रहती हैं और ये गुण एवं पर्याय मिलकर ही द्रव्य कहलाता है।

यहां गुण और पर्याय का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक है। जिसके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अलग किया जाता है वह गुण कहलाता है अर्थात् अविच्छिन्न रूप से द्रव्य में रहने वाले द्रव्य के सहभावी (कभी अलग न होने वाले) धर्म (स्वभाव) को 'गुण कहते हैं और द्रव्य के विकास को अर्थात् द्रव्य की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं को 'पर्याय' कहते हैं। जैसे स्वर्ण और चाँदी इन दोनों की अलग–अलग पहचान जिन गुणों से होती है वे उस द्रव्य के गुण हैं। पीलापन (पीतत्व), भारीपना और कोमलपना आदि स्वर्ण के तथा श्वेतत्व, हल्कापना और कठोरपना आदि चाँदी के गुण हैं। ये द्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो सकते। इसी सोने या चाँदी के कुण्डल, भुजबंध, कंगन या अंगूठी आदि रूप जो आभूषण बनवाते रहते हैं यही उस द्रव्य की पर्यायें हैं। अतः परिवर्तन मात्र आकृतियों (पर्यायों) में हुआ करता है तथा स्वर्णत्व या रूपकत्व रूप में सोना या चांदी दोनों अवस्थाओं में सुरक्षित रहता है। इस तरह गुण सहभावी होने से उसके स्वरूप की रक्षा करता है तथा स्वर्णत्व या रूपकत्व रूप में सोना या चांदी दोनों अवस्थाओं में सुरक्षित रहता है। इस तरह गुण सहभावी होने से उसके स्वरूप की रक्षा करता हुआ द्रव्य में ध्रौव्य (नित्य) रहता है किन्तु पर्यायें क्रमभावी होने से पूर्व पर्याय का विनाश और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती है। अतः पर्याय को क्रमभावी कहा गया है।

इसी विषय को आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है–

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।

अर्थात् घट का इच्छुक उसका नाश होने पर दुःखी होता है, मुकुट का इच्छुक उसका उत्पाद होने पर हर्षित होता है किन्तु स्वर्ण का इच्छुक न दुःखी होता है, न हर्षित होता है अपितु वह मध्यस्थ रहता है। अतः एक ही समय में यह शोक, प्रमोद और माध्यस्थभाव बिना कारण के नहीं हो सकता, इससे प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सिद्ध होता है।

इस तरह स्वर्ण आदि द्रव्य का भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में परिणमन होने पर भी उनका द्रव्यत्व बना ही रहता है। जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य को नित्य–अनित्य दोनों रूप माना गया है अर्थात् अलग–अलग अवस्थाओं (पर्यायों) को प्राप्त करते रहने पर भी अपना स्वरूप न छोड़ने के कारण द्रव्य नित्य भी है और वही द्रव्य अलग–अलग पर्यायों को प्राप्त करता रहता है अतः अनित्य भी हैं

2.3 द्रव्य के भेद–मूलतः द्रव्य के दो भेद हैं–जीव और अजीव।

2.3.1 जीवद्रव्य–

जीवद्रव्य चैतन्यवान् है, जानना एवं देखना उसका स्वभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में उपयोग को जीव का लक्षण कहा है। वह उपयोग (ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव) जीव का आत्मभूत लक्षण है जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। उपयोग

का कारण चेतना शक्ति है। यद्यपि जीव (आत्मा) द्रव्य अनन्त गुण–पर्यायों का पिण्ड है किन्तु इन सबमें उपयोग मुख्य है। जीव के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं अर्थात् वस्तु का स्वरूप जानने के लिए जीव का जो भाव प्रवृत्त होता है, वह उपयोग कहलाता है। यही जीव का लक्षण है।

2.3.2 अजीवद्रव्य–

जीव से विपरीत लक्षण वाला अजीव द्रव्य है। दूसरे शब्दों में जिसमें चेतनागुण का अभाव है। जिसे सुख–दुःख का ज्ञान नहीं है, हित की इच्छा और अहित से भय नहीं है, वह जड़ स्वभाव वाला अजीव द्रव्य है।

अजीवद्रव्य के भेद–

अजीव द्रव्य के दो प्रकार हैं–रूपी और अरूपी। अजीव द्रव्य के पांच भेद भी माने जाते हैं। 1. पुद्गल, 2. धर्म, 3. अधर्म, 4. आकाश और 5. काल। इन पांच द्रव्यों में जीव द्रव्य सम्मिलित कर लेने पर छह द्रव्य कहलाते हैं। इनमें काल द्रव्य अप्रदेशी होने के कारण इसे छोड़कर शेष पांच द्रव्य (कायवान् होने से) 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं तथा इन छह द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य रूपी है शेष पांच द्रव्य अरूपी हैं

रूपी–जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श–ये गुण पाये जायें वह रूपी द्रव्य है। रूपी द्रव्य के चार भेद हैं–स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और अणु।

1. जिसके खण्ड न हों जो सर्वथा अविभाज्य हो वह स्कन्ध कहलाता है। पुद्गल के जितने भेद (परमाणु तक) होते हैं वे सब स्कन्ध हैं अर्थात् अपने अवयवों के साथ (अनेक भेदयुक्त) सामान्य विशेषात्मक पुद्गल द्रव्य को स्कन्ध कहते हैं

2. स्कन्ध के कल्पित भाग अर्थात् स्कन्ध के आधे विभाग को स्कन्ध देश कहते हैं।

3. स्कन्धदेश के द्वयगुणक पर्यन्त आधे–आधे करने पर जितने भेद निष्पन्न होंगे वे सब स्कन्ध प्रदेश हैं अर्थात् स्कन्ध का सर्वसूक्ष्म अंश।

4. द्वयगुणक में भी भेद करने से अणु की उत्पत्ति होती है। अणु अविनाशी है अर्थात् इसमें भेद नहीं किये जा सकते। ये सब पुद्गल होने से रूपी हैं। अतः स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और अणु भेद वाला पुद्गल द्रव्य रूपी होता है। यही जीव के साथ कर्म–नोकर्म रूप होकर बद्ध होते हैं।

अरूपी–जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श–इन गुणों का अभाव हो वह अरूपी द्रव्य है। धर्म, अधर्म और आकाश–ये द्रव्य अरूपी हैं। स्पर्शादिक गुण न होने से काल द्रव्य भी अरूपी है।

1. पुद्गल द्रव्य (Matter of Energy)–'पुद्गल' जैनधर्म का परिभाषिक शब्द है। जो द्रव्य प्रति समय मिलता–गलता, बनता–बिगड़ता एवं टूटता–जुड़ता रहे वह पुद्गल है। अर्थात् जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श युक्त हो, जिसमें मिलने एवं अलग होने आदि का स्वभाव है उसे पुद्गल कहा जाता है। छह द्रव्यों में यही मात्र मूर्त या रूपी हैं यह अनन्त परिमाण है। वस्तुतः पुद्गल ही एकमात्र ऐसा द्रव्य है जो खंडित भी होता है और पुनः परस्पर सम्बद्ध भी होता है। यह छुआ या चखा, सूंघा और देखा भी जा सकता है।

पुद्गल द्रव्य की पर्यायें–शब्द, बंध सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत–ये पुद्गल द्रव्य की अवस्थाएँ हैं।

1. शब्द–एक पुद्गल स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने, सम्बन्ध होने या कम्पन होने पर जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द है। जैनदर्शन में शब्द को पौद्गलिक माना गया है। जैनदर्शन की यह मान्यता इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान की कसौटी पर पूर्णतः खरी उतरती है। टेपरिकार्डर, रेडियो, दूरदर्शन, वायरलेस, वीडियो, दूरभाष मोबाइल, इन्टरनेट आदि अनेकों इसके प्रमाण हैं। शब्द श्रोतेन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय) का विषय है। शब्द गुण नहीं अपितु पुद्गल द्रव्य

की ही एक पर्याय है जबकि नैयायिक और वैशेषिक दार्शनिक इसे आकाश का गुण मानते हैं। पुद्गल द्रव्य के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि जो लक्षण होते हैं वे सब शब्द में पाये जाते हैं। शब्द पुद्गल द्वारा रुकता है, पुद्गलों को रोकता है, शब्द ग्रहण एवं धारण किया जाता है। वस्तुतः पुद्गल के अणु और स्कन्ध भेदों की अनेक जातियों में से एक भाषा वर्गणा इस लोक में सर्वत्र व्याप्त है, उसी की तरंगों के कम्पन से शब्द एक स्थान पर रेडियो आदि या साक्षात् रूप से सुनाई पड़ता है। वैज्ञानिक अब तो ऐसा यंत्र बनाने की सोच रहे हैं जो सैकड़ों–हजारों वर्ष पहले लोक में व्याप्त राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों की वाणी रूप शब्दों, ध्वनियों भाषा वर्गणाओं को वर्तमान में भी ग्रहण कर सकें।

शब्द के भेद हैं–भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक–ये दो भेद हैं। बोल–चाल में आने वाली अनेक प्रकार की जो भाषायें हैं जिनमें ग्रंथ भी लिखे जाते हैं वे सब अक्षरात्मक शब्द हैं तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों द्वारा जो ध्वनि निकलती है वे अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द के भी दो भेद हैं–1. वैस्रसिक (मेघ आदि गर्जना रूप) शब्द और 2. प्रायोगिक शब्द। प्रायोगिक शब्द के चार भेद हैं–1. तत शब्द अर्थात् चमड़े से मढ़े हुए ढोल, मृदंग आदि का शब्द 2. वितत शब्द अर्थात् वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द, 3. घन शब्द–अर्थात् झालर, घण्टा आदि का शब्द एवं 4. सौषिर शब्द अर्थात् शंख, बाँसुरी आदि का शब्द।

2. बन्ध–बन्ध का अर्थ है जुड़ना, बंधना संयुक्त होना या एकत्व परिणाम। यह भी पौद्गलिक है। इसके दो भेद हैं–वैस्रसिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है, जैसे स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला इन्द्रधनुष, उल्का, बिजली, मेघ, अग्नि आदि सम्बन्धी वैस्रसिक बन्ध है तथा जो बन्ध पुरुष के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। जैसे लाख और लकड़ी का अजीव विषयक बन्ध और कर्म तथा नोकर्म का जो जीव से बन्ध होता है वह जीवजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है।

3. सूक्ष्मत्व–पुद्गलों का भेद होने पर सूक्ष्मता उत्पन्न होती है। यह भी पुद्गल में ही प्राप्त होती है। इसके दो भेद हैं–अन्त्य और आपेक्षिक। अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओं में ही पायी जाती है। जबकि दो छोटी, बड़ी वस्तुओं अर्थात् बेल, आंवला, बेर आदि रूप में तुलना की दृष्टि आपेक्षिक सूक्ष्मता है।

4. स्थूलत्व–यह भी पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण उसकी पर्याय है। जिस वस्तु के पुद्गल अधिक फैले रहते हैं वह वस्तु स्थूल पर्याय युक्त होती है। इसके भी अन्त्य और आपेक्षिक–ये दो भेद है। अन्त्य स्थूलता विश्वव्यापी महास्कन्ध में पायी जाती है तथा आपेक्षिक स्थूलता बेर आंवला, बेल आदि में होती है।

5. संस्थान–इसका अर्थ है आकृति (आकार) इत्थं लक्षण तथा अनित्थं लक्षण के भेद से संस्थान के दो भेद है। जिस आकार का यह इस तरह का है–ऐसा बतलाया जा सके वह इत्थं लक्षण है। जैसे यह वस्तु गोल, चौकोर या त्रिकोण आदि रूप है। तथा जिसका निश्चित आकार बतलाया न जा सके वह अनित्थं लक्षण संस्थान है। जैसे मेघ आदि का आकार।

6. भेद–पुद्गल पिण्ड का भंग (खण्ड) होना भेद है। इसके छह भेद हैं–1. उत्कार (बुरादा आदि रूप), 2. चूर्ण (गेहूँ आदि का आटा, सत्तू आदि रूप), 3. खण्ड (मिट्टी के घड़े के टुकड़े–टुकड़े होना), 4. चूर्णिका (उड़द, मूंग, चना आदि के दाल रूप टुकड़े), 5. प्रतर (अभ्रक, मिट्टी, भोजपत्र आदि की तहें निकालना) तथा 6. अणुचटन अर्थात् गर्म लोहे पर घन मारने या लोहे आदि की वस्तु को शान पर चढ़ाने से जो अग्निकण (स्फुलिंग) निकलते हैं वे अणु–चटन हैं।

7. तम (अन्धकार)–यह पदार्थ प्रतिरोधक पुद्गल की पर्याय है जो देखने में बाधक होती है। नैयायिक और वैशेषिक तम को सर्वदा अभावरूप मानते हैं, किन्तु आंखों से उसका ज्ञान होता है अतः अन्धकार भी पौद्गलिक होने से मूर्तिक ही है। क्योंकि तम भी पदार्थों को ढकने वाला भावात्मक द्रव्य है।

8. छाया–प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है।

9. आतप–सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप है।

10. उद्योत–चन्द्रमा, मणि, जुगनू आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

2.3.3 धर्मद्रव्य–धर्मद्रव्य गतिशील जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति, हलन–चलन आदि क्रियाओं में सहायक होता है। जैसे मछली की गति में पानी सहायक है। धर्मद्रव्य लोक के हर कोने में (सर्वत्र) विद्यमान है।

2.3.4 अधर्मद्रव्य–जैसे धर्मद्रव्य गति में सहायक है उसके विपरीत अधर्मद्रव्य स्थिति में परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को स्थिर रखने (ठहरने) में सहायक है। अधर्मद्रव्य की तरह असंख्यात प्रदेशी, सकल लोकव्यापी, त्रिकाल, स्थायी, अरूपी और अचेतन है।

वस्तुतः जीव, पुद्गलादि द्रव्य अपनी ही प्रेरणा से गमन (गति), स्थिति आदि क्रियाएं करते हैं और ऐसा करते हुए धर्म, अधर्म द्रव्य की सहायता लेते हैं।

2.3.5 आकाशद्रव्य–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल–इन द्रव्यों को रहने या आश्रय के लिए स्थान (अवकाश या अवगाह) देना आकाश द्रव्य का स्वभाव है। वस्तुतः आकाश जीवादि सभी द्रव्यों के रहने का स्थान है। लोक, अलोक दोनों में व्याप्त आकाश, अनन्तप्रदेशी अविभाज्य पिण्ड, त्रिकाल स्थायी अरूपी द्रव्य है। लोकाकाश तथा अलोकाकाश के भेद से यह दो प्रकार का है।

2.3.6 कालद्रव्य–यह धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल द्रव्यों के वर्तना पर्याय परिणति में निमित्त कारण है। दूसरे शब्दों में इसमें परिवर्तन अर्थात् पर्याय अवस्था की उत्पत्ति में सहायक होने का गुण है। कालद्रव्य प्रति समय होने वाली पर्याय का कारण है इसलिए उसे अणुरूप माना गया है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक–एक कालाणु स्थित हैं, इसी प्रकार असंख्यात प्रदेशों के धारक लोकाकाश में असंख्यात ही कालद्रव्य हैं और प्रत्येक कालद्रव्य एक–एक प्रदेश का धारक है; इस कारण अविभागी पुद्गल परमाणु के समान इसे भी अप्रदेशी माना जाता है। इस तरह काल के कायत्व न होने से छह द्रव्यों में काल को छोड़ शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय है। कालद्रव्य परमाणु की तरह एक प्रदेशी है अतः वह अस्तिकाय (कायवान्) नहीं है। क्योंकि अनागत काल की उत्पत्ति नहीं हुई तथा उत्पन्न काल का विनाश हो जाता है और प्रदेशों का प्रचय होता नहीं अतः काल अस्तिकाय नहीं है।

2.4 द्रव्य के गुण–

जैनदर्शन के अनुसार अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्त्व–ये साधारण गुण छह द्रव्यों में समान रूप से रहते हैं।

1. अस्तित्व का अर्थ है जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता।

2. जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थक्रिया (कुछ न कुछ कार्य करते रहना) हो वह वस्तुत्व गुण है।

3. जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य एक पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय रूप परिवर्तित हो उसे द्रव्यत्व कहते है।

4. अगुरुत्वलघुत्व–जिस शक्ति के रहते द्रव्य की एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नहीं होती या एक दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता अथवा एक द्रव्य के गुण बिखरकर अलग–अलग न होने देने वाला अगुरुलघुत्व गुण है।

5. जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कोई न कोई आकार हो वह प्रदेशत्व गुण है।

इनके अतिरिक्त द्रव्यों में ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तना–हेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व–ये सोलह विशेष गुण भी होते हैं किन्तु वे सब द्रव्यों में समान रूप में नहीं रहते अतः ये विशिष्ट गुण कहलाते हैं। छह द्रव्यों में ये इस प्रकार होते हैं।

जीव द्रव्य में ज्ञान–दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व–ये छह गुण होते हैं।

2. पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अचेतनत्व और मूर्तत्व–ये छह गुण होते हैं।

3. धर्म द्रव्य में गतिहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व–ये तीन गुण हैं।

4. अधर्म द्रव्य में अवगाहनत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व–ये तीन गुण हैं।

5. आकाश द्रव्य में अवगाहनत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व–ये तीन गुण हैं।

6. काल द्रव्य में वर्तना–हेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व–ये तीन गुण हैं।

वस्तुतः जीव और अजीव–ये दो तत्व मुख्य हैं। अन्य तत्व इन दोनों के संयोग–वियोग से बने हैं। मोक्ष का अधिकारी जीव है अतः सर्वप्रथम जीव तत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद जीव की अशुद्धि अवस्था के होने में पुद्गल निमित्त है अतः अजीव तत्त्व का प्रतिपादन है। इन दोनों तत्त्वों की मुख्यता की दृष्टि से बाकी तत्त्व भावरूप में जीव की पर्याय है और द्रव्य रूप में पुद्गल की। शुभ प्रकृति स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पुण्य कहलाता है जो कि जीवों में आह्लाद रूप है। अशुभ प्रकृति स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पाप कहलाता है जो कि जीव के दुःख का हेतु है। जीव और अजीव का संयोग आस्रवपूर्वक होता है इसलिए आस्रव और बन्ध तत्व कहे गये हैं।

वस्तुतः पुण्य–पाप और बन्ध–ये पौद्गलिक (अजीव) की पर्याय हैं। आस्रव आत्मा की शुभ–अशुभ परिणति भी है और शुभ–अशुभ कर्म पुद्गलों का आकर्षण भी है। जीव को अपनी अशुद्ध दशा और पुद्गल की निमित्तता से छुटकारा पाना है तो वह संवर और निर्जरा पूर्वक ही प्राप्त हो सकता है। अन्त में जिसके द्वारा जीवपूर्ण मुक्त हो जाये वह मोक्ष है। मोक्ष ही मुख्य साध्य है और जीव साधक है। आत्मा को शुद्धस्वरूप तक पहुँचाने के लिए उसकी अशुद्धि के निमित्त कारणों की मीमांसा आवश्यक है अतः भगवान महावीर स्वामी ने आत्म तत्त्व की व्याख्या के साथ–साथ अजीव तत्व की व्याख्या भी सूक्ष्मता पूर्वक की। जैन दर्शन के अध्यात्मवाद को समझाने के लिए उसका यथार्थवाद समझना जरूरी है। यथार्थवाद समझने के लिए उसकी द्रव्यमीमांसा समझना जरूरी है। जैनदर्शन के आध्यात्मिक यथार्थवाद को समझने के लिए सारभूत इस दोहे को समझना जरूरी है।

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।
और जो कुछ है सो, या ही को विस्तार।।

2.5 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–भारतीय दर्शनों में ..... का महत्त्वपूर्ण स्थान है ?

(क) आर्हत् दर्शन ☐ (ख) बौद्ध दर्शन ☐ (ग) वैदिक दर्शन ☐

प्रश्न 2–घट का इच्छुक उसका नाश होने पर ..... होता है ?

(क) सुखी ☐ (ख) दुःखी ☐ (ग) सुखी–दुःखी ☐

प्रश्न 3–जैन दर्शन में शब्द को क्या माना है ?

(क) पौद्गलिक ☐ (ख) भाषात्मक ☐ (ग) अक्षरात्मक ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–शब्द किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2–द्रव्य कितने व कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 3–प्रायोगिक शब्द के चार भेद कौन से हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–द्रव्य के कितने गुण हैं ? नाम व परिभाषा लिखिए।

अनेक आचार्य जैनधर्म को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अत्यन्त उदारतापूर्वक धर्मप्रभावना को दिशा देते आए हैं। पर देखने की बात यह है कि इन आचार्यों ने धर्म के शाश्वत तथा कूटस्थ मूल्यों–सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्तों के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया है।

जैनधर्म अपने उद्भव काल से ही व्यक्ति और समाज दोनों का हितैषी धर्म रहा है। जैनधर्म को व्यक्ति सापेक्ष और समाज निरपेक्ष धर्म कहना अयुक्तिसंगत होगा। जैनधर्म के 24 तीर्थंकरों का इतिहास साक्षी है कि एक सर्वोदयी समाज व्यवस्था की अपेक्षा से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम असि, मसि, कृषि आदि का उपदेश देकर मानव समाज को सभ्यता का पहला पाठ पढ़ाया। ये आदि तीर्थंकर ही थे जिन्होंने लिपिकला, शिल्पकला आदि विविध कलाओं की शिक्षा देकर समाज को सांस्कृतिक मूल्यों के द्वारा संस्कारवान बनाया।

प्रसिद्ध इतिहासकार एच. जी. वेल्स के मतानुसार ईस्वी पूर्व की जिस छठी शताब्दी में वर्धमान महावीर का जन्म हुआ वह धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों को प्रेरित करने वाली महत्त्वपूर्ण शताब्दी थी। इसी समय जहां एक ओर चीन में लाओत्से और कंफ्यूशियस तथा यूनान में सुकरात और प्लेटो ने अपने देश की रूढ़िवादी परम्पराओं के विरुद्ध वैचारिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया, वहीं भारत में भगवान महावीर और गौतम बुद्ध ने क्रमशः जैन तथा बौद्ध धर्म को जन–आन्दोलन का रूप देकर धार्मिक संस्था के इतिहास में अभूतपूर्व क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

जैनधर्म के सन्दर्भ में व्यक्ति स्वातन्त्र्य की अवधारणा को समझने से पहले यह जान लेना भी बहुत जरूरी है कि आधुनिक व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विचार विशुद्ध रूप से एक पश्चिमी विचार है। अस्तित्ववाद तथा साम्यवाद के पश्चिमी विचारकों की यह देन है जिसकी पृष्ठभूमि में उपभोक्तवादी तथा भौतिकवादी चमक–दमक के कारण आज अध्यात्मवाद से अघाए भारतवासियों को बहुत तेजी से व्यक्ति–स्वात्रन्त्र्य का विचार संमोहित कर रहा है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह विचार धर्म तथा आध्यात्मिक हस्तक्षेप का घोर विरोधी है। आधुनिक व्यक्ति स्वातंत्र्य के विचार का इतिहास मध्य युगीन यूरोप की धर्मचेतना की प्रतिक्रिया का परिणाम है जो धर्म और ईश्वर के नाम पर तरह–तरह के अन्धविश्वास और दुराचार फैलाती आई है। ईश्वर और मनुष्य के मध्य धर्म संस्थाओं से जुड़े बिचौलिए भोली भाली जनता को स्वर्ग या नरक का लालच या भय दिखाकर धर्म संस्था की छवि बिगाड़ते आए हैं। यही कारण है कि साम्यवादी विचारक कार्ल मार्क्स ने मध्ययुगीन धार्मिक आडम्बरों तथा पाखण्डी चरित्र को लक्ष्य करके 'धर्म' की कटु आलोचना की है। धर्म की इन्हीं विकृतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक विज्ञान ने विश्व और उनकी समस्याओं को समझने के लिए तर्क और परीक्षण का नया रास्ता दिखाया। विज्ञान ने यह स्पष्ट किया कि यह विश्व किसी ईश्वरीय शक्ति की इच्छा का परिणाम नहीं है। विज्ञान ने बताया कि विश्व के सभी पदार्थ कार्य–कारण भाव से सम्बद्ध हैं। विज्ञान की दृष्टि से जगत् में किसी पदार्थ का नाश नहीं होता केवल उसका रूपान्तरण होता है। इसलिए जीव या जगत को उत्पन्न करने वाली किसी ईश्वर जैसी शक्ति का कोई औचित्य नहीं नजर आता।

सामान्य रूप से व्यक्ति स्वातंत्र्य की अवधारणा का विचार देने वाले अस्तित्ववादी दर्शनों, विज्ञान की मान्यताओं और जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसा में कुछ तथ्यों के बारे में आम सहमति भी है। जैसे ये तीनों की प्रकृति ईश्वरवादी नहीं है। अस्तित्ववादी दर्शनों और विज्ञान की मान्यताओं के समान जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा के केन्द्र में 'ईश्वर' को नहीं बल्कि 'मनुष्य' या जीव को प्रतिष्ठित किया गया है। जैनदर्शन से इनकी असहमति इस दृष्टि से है कि विज्ञान सहित आधुनिक पश्चिमी दर्शन न तो कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते हैं और न ही मानव कल्याण का एकमात्र लक्ष्य 'मोक्ष' ही इन्हें स्वीकार्य है। संक्षेप में आधुनिक व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विचार इन्द्रिय सुख और भोग–विलासरूपी बेलगाम घोड़े की ऐसी सवारी है जो अवसर आने पर मनुष्य को पतन के गर्त में डाल सकती है। यहीं से प्रारम्भ होता है जैन दर्शन के व्यक्ति स्वातन्त्र्य का इतिहास।

3.3 जैनदर्शन के अनुसार इस संसार में जीव और अजीव दो पदार्थ हैं–

जीव चेतन है और अजीव अचेतन। दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है कर्म। जीव या मनुष्य मूलरूप से शुद्ध चैतन्य तथा स्वतन्त्र है। किन्तु कर्मों की बेड़ी से बंधा होने के कारण वह परतन्त्र कहलाता है। परतन्त्रता भी इतनी गहरी है कि उठना–बैठना, चलना–फिरना, सोना–जागना, सुख–दुःख की अनुभूति उसकी स्वतन्त्र अनुभूति नहीं बल्कि अजीव तत्त्व भौतिक पुद्गल पदार्थों पर आश्रित है। जन्म–जन्मान्तरों से पौद्गलिक पदार्थों की पराधीनता के अभ्यस्त जीव या मनुष्य की स्थिति उन पालतू तोतों और कबूतरों की भाँति है जिन्हें उनका स्वामी यदि खुले आकाश में मुक्त भी कर देता है तो भी अपनी पराधीनता से गहरा राग और लगाव होने के कारण वे बार–बार उन्हीं पिजरों में कैद होने के लिए खुशी–खुशी वापस आ जाते हैं।

भारत की पराधीनता का इतिहास साक्षी है कि देश के कुछ स्वार्थी राजाओं ने अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए विदेशी शासकों के समक्ष आत्म–समर्पण किया था। बाद में उसकी भारी कीमत स्वतंत्रता सेनानियों को चुकानी पड़ी थी। आचार्य श्री देशभूषण जी विदेशी शासकों के समक्ष आत्म–समर्पण की इन घटनाओं को प्रत्यक्ष रूप से देख रहे थे और उनके सामने अजीव पौद्गलिक सुखों के समक्ष मनुष्य की पराधीन मानसिकता की तर्ज पर बना जैन तत्त्व मीमांसा का इतिहास भी स्पष्ट था। इन्हीं युग मूल्यों से परिसंवाद करती 'ओ बन्दी देख' नामक काव्य क्षणिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस काव्य क्षणिका में मानव मन द्वारा इन्द्रियों की दासता ग्रहण करने की दुर्बलताओं को रेखांकित किया गया है। इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषय भोगों से पराभूत होने की मानवीय दुर्बलता को विदेशी शासन की गुलामी के रूपक में बांधा गया है। विदेशी सत्ता का तन और मन दोनों पर अधिकार हो गया है। इस परतन्त्रता की जंजीरों में जकड़ा हुआ, मानव भोग विलास के पुष्प सौन्दर्य से मोहित है और कैद कर लिया गया है। रूप, रस, गंध के कंटीले तारों से उसकी स्वतन्त्रता अवरुद्ध हो गई है। स्वतंत्रता, मुक्ति, आलोक, और समता से वंचित मानव मन अपने विषय भोगों की लोलुपता के कारण दासता की जंजीरों में जकड़ता ही जा रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में 'उपदेश सार संग्रह' की ये काव्य पंक्तियाँ **दर्शनीय** हैं–

ओ बन्दी ! तू पूछता है–पराजय क्या है ?
पराजय है विदेशी सत्ता के सामने आत्मसमर्पण !
विदेशी तेरे देश के हर कोने में घुसता जा रहा है
और सोख रहा है तेरी देह से अनवरत रक्त।
यही रक्त सींच रहा है विदेशी शासन के तरुमूल को
ताकि उसमें खिल सकें तरह–तरह के रंग बिरंगे फूल।
देख ! यही तेरी परतन्त्रता है।
विदेशी किस्म के फल–फूलों ने तुझे इतना लुभाया है
देख! यही है तेरी परतन्त्रता का हेतु।
विदेशी सेना तुझे एक ऐसे दुर्ग में बन्दी बना चुकी है
जिसके पाँचों द्वारों में लगे हैं कंटीले तारों के घने जाल।
ओ बन्दी ! माना शासक उदार दिल का है
तो बहुत कुछ सुविधाएँ भी मिल सकती हैं।
फिर भी देख बन्द ही पड़े हैं स्वतन्त्रता के द्वार।
फूलों की जिस सेज में तू सोया है

इनके केशर में उलझ गए हैं तेरे पैर।
जरा देख बन्द ही पड़े हैं, मुक्ति के द्वार।

'जैन जीवन दर्शन की पृष्ठभूमि' में डॉ. दयानन्द भार्गव का मन्तव्य है कि 'जैन धर्म का वास्तविक सन्देश व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। समय का प्रभाव, प्रकृति, परिस्थिति, पूर्वकर्म, जन्म ये सब गौण हैं, व्यक्ति प्रधान है। जो व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्ति पर विश्वास खो देता है उसे ये बाह्य परिस्थितियाँ दबोज लेती हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने द्वारा पैदा किए हुए जाले में स्वयं फंस जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति अपनी ही पैदा की हुई परिस्थितियों में स्वयं फंस जाता है और जिस प्रकार वह मकड़ी अपने फैलाए हुए जाल को स्वयं ही समेट सकती है, उसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी फैलायी हुई परिस्थितियों का स्वयं ही अन्त कर सकता है।'

3.4 वस्तुतः स्वतन्त्रता का अर्थ है अपनी इच्छा के अनुसार किसी कार्य को करना या न करना–

जैन दर्शन की दृष्टि से यही कर्म है, शेष सब प्रतिकर्म या प्रतिक्रिया कहलाती हैं। कर्मों के कारण ही मनुष्य परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली बनता है। एक परिस्थिति उत्पन्न होती है वह एक प्रकार का कर्म कर देता है और दूसरी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो उसकी प्रतिक्रिया में वह दूसरा कर्म कर देता हैं इस दशा में मनुष्य को स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकता है। वह परिस्थिति निरपेक्ष होकर कोई कर्म करता ही नहीं केवल परिस्थितियों का दास बनकर ही सारे कर्म करता है। तब क्या यह माना जाए कि मनुष्य स्वतन्त्र होकर कोई कार्य कर ही नहीं सकता ? ऐसा नहीं है, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र के ज्ञान–चक्षु से पर्यवेक्षित कर्म मनुष्य को परिस्थितियों का दास नहीं बनाने किन्तु अजीव के संसर्ग से प्रेरित कर्म ही मनुष्य को पराधीन बनाते हैं और उसे बन्धन की बेड़ियों से जकड़ देते हैं। आचार्यों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसकी पराधीनता को शर्बत तथा शराब के दृष्टान्त द्वारा बहुत अच्छी तरह से समझाया है–'मनुष्य के सामने शराब और शर्बत दोनों पदार्थ रखे हुए हैं। मनुष्य अपनी इच्छानुसार दोनों में से किसी को भी पी सकता है। पीने से पहले उसको स्वतन्त्रता है किन्तु पी लेने के बाद उसकी इच्छा कुछ परिवर्तन नहीं कर सकती। अतः शराब यदि पी ली है तो मनुष्य को न चाहते हुए भी नशा अवश्य आएगा। शराब का असर उसे भुगतना होगा।'

3.5 जैनदर्शन के अनुसार कर्म बांधने से पहले जीव स्वतन्त्र रहता है–

शुभकर्मों और अच्छे विचारों से उसका सौभाग्य बनता है किन्तु अशुभ कर्मों और बुरे विचार उसे दुर्भाग्य की ओर धकेलते हैं। इस तरह मनुष्य का सौभाग्य और दुर्भाग्य पहले या पिछले समय में बोया हुआ अच्छा या बुरा बीज ही है। यह कर्म का सिद्धान्त कार्यकारणवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। जिसका तात्पर्य है **'जैसा बोओगे वैसा काटोगे।'** यानी आज हम जो काट रहे हैं हमने अवश्य कभी बोया था और आज जो बो रहे हैं उसे काटना भी अवश्य होगा।

भारत के अनेक दार्शनिक चिन्तक इस मत से पूर्णतः सहमत नहीं हैं कि व्यक्ति स्वतन्त्र है। कुछ व्यक्ति को परिस्थिति का दास मानते हैं तो कुछ के अनुसार ईश्वर जैसी अतिमानवीय सत्ता व्यक्ति के सुख–दुःख का निर्णय करती है। कुछ विचारक स्वयं व्यक्ति को ही अपने सुख–दुःख के लिए उत्तरदायी मानते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इन तीनों वादों का विवेचन क्रमशः परिस्थितिवाद, ईश्वरवाद और आत्मवाद के रूप में आया है। परिस्थितिवाद के अन्तर्गत भी अनेक मत–मतान्तर प्रचलित हैं जिनमें से कुछ काल को, कुछ स्वभाव को, कुछ नियति को, कुछ यदृच्छा को और कुछ भूत को सुख–दुःख का कारण मानते हैं। किन्तु जैनदर्शन इन सभी वादों के समन्वय पर बल देता है। इस सम्बन्ध में 'गोम्मटसार' का कथन है कि जैनेतर दृष्टियां इसलिए एकान्तवादी हैं कि वे केवल अपने दृष्टिकोण को ही सत्य मानती हैं। किन्तु ये दृष्टिकोण यदि अन्य दृष्टिकोणों के सत्य पर भी ध्यान दें तो सत्य बन जाते हैं–

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जैणाणां पुणं वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।।

दरअसल, जैन दृष्टि से स्वतन्त्रता मुक्ति की ओर ले जाने वाली एक दार्शनिक अवधारणा है। स्वतंत्रता का अर्थ है कि कोई दूसरा मेरे मार्ग में बाधा न बने और मैं भी किसी के मार्ग में बाधा न बनूँ। मैं दूसरे के मार्ग में द्वेष करके ही बाधा नहीं बनता बल्कि राग करके भी बाधा पहुँचाता हूँ। इसी प्रकार दूसरे भी राग या द्वेष से मेरी स्वतन्त्रता में बाधक बन जाते हैं। मैं किसी से न राग की अपेक्षा करूं और न द्वेष की किन्तु यह तभी सम्भव है जब मुझे अपनी स्वयं की शक्ति पर विश्वास हो। इसी स्वावलम्बन को जैन दर्शन में स्वातन्त्र्य चेतना के नाम से जाना जाता है। मनुष्य परावलम्बी इसलिए होता है क्योंकि वह अपने आन्तरिक अभावों को बाह्य पदार्थों के संग्रह द्वारा छिपाना चाहता है। मनुष्य में जब प्रेम का अभाव होता है तो वह स्त्री, पुत्र और सम्बन्धियों से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करके प्रेमाभाव की पूर्ति करने का प्रयास करता है। मनुष्य में जब ज्ञान का अभाव होता है तो उसकी पूर्ति के लिए उसे शास्त्रों, गुरुओं तथा ज्ञान के अन्य संसाधनों की शरण में जाना पड़ता है। पर ये सभी बाह्य पदार्थ और संसाधन मनुष्य को परावलम्बी और परतन्त्र बनाते हैं।

निम्नलिखित काव्य पंक्तियों में मानव की इसी विवशता अथवा परवशता का वर्णन है जहाँ मनुष्य स्वतन्त्र या मुक्त होने की लालसा तो रखता है। किन्तु कजरारी आखों की घनघटा और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं ने उसके ज्ञान और पारदर्शी सम्यक् दृष्टि को कैद कर लिया है तथा सुनहरे सपनों की मादकता से उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं–

ओ सर्वज्ञ ! मैं तेरा मार्ग कैसे जानूँ ?
देखो न ! ये कजरारे बादल मंडरा रहे हैं !
ढांक दिया है इन्होंने मेरी आँखों के प्रकाश को !
ओ सर्वदर्शिन् ! मैं तुझे अब कैसे देखूँ ?
देखो न इन गगनचुम्बी अट्टालिकाओं को
कैद कर ली है इन्होंने मेरी पारदर्शी दृष्टि को
ओ निर्विघ्न ! मैं तेरे पास कैसे आऊँ ?
तेरे सिंहद्वार पर बैठे हैं भयंकर प्रहरी !
बिछा दिए हैं जिन्होंने कांटों के कंटीले जाल
ओ वीतरागी ! मैं तेरे पथ पर कैसे चलूँ ?
उन्मत्त हो चुका हूँ सुनहरे सपनों की मादकता से
मैं आना चाहता हूँ, मगर पैर लड़खड़ा रहे हैं।

'उपदेश सार संग्रह' में मछियारे की लड़की और माली की लड़की का एक दृष्टान्त देते हुए बताया है कि एक दिन मछियारे की लड़की अपनी सहेली माली की लड़की के घर मेहमान बन कर आई तो मछियारे की लड़की को उस घर में व्याप्त फूलों की सुगन्ध से रात को नींद नहीं आई। बाद में जब उसने अपनी मछली की टोकरी को सिरहाने में रखा तो उसकी दुर्गन्ध से उसे तुरन्त नींद आ गई। इसी तरह बुरी आदत संसारी जीवों को पड़ी हुई है जिससे आत्मकल्याण की सुगन्ध उन्हें नहीं सुहाती। 'संघे शक्तिः कलौ युगे' नामक काव्य क्षणिका में सांसारिक भोग विलास में डूबे हुए लोगों की भेड़चाल की मनोवृत्ति का खुलासा है कि जब भौतिकवादी सुखवाद के शोरगुल में आत्मकल्याण और अध्यात्म चेतना के बोल सुनाई नहीं देते और मनुष्य जानता हुआ भी सांसारिक सुखों में ही आत्मकल्याण मानने लगता है। **'संघे शक्तिः कलौ युगे'** की भेड़चाल उसे उस पराधीनता की ओर जबरदस्ती धकेल रही है–

उधर मेरे साथी भी तो खड़े हैं। पुकार पुकार कर कह रहे हैं।

अरे ! परलोक किसने देखा है, विजय का आनन्द किसने लूटा है !
ये पौद्गलिक सुख हमें प्रत्यक्ष हैं, ये भाग हमारे नि:सर्ग हैं।
इन्हें पराजय कौन कहता है ? वर्तमान को छोड़ रहा है।
भविष्य के लिए दौड़ रहा है, अरे निपट मूर्ख है !
शब्द–रूप–रस–गन्ध–स्पर्श, सुख–दु:ख के हमारे साथी हैं।
अपन भी सबके साथ चलेंगे, जो सबके साथ होगा, वही अपन का भी सही।

आज भौतिकवादियों और भोगवादियों के संघव्यूह में व्यक्ति स्वातन्त्र्य अथवा आत्म स्वातन्त्र्य, का बोध अभिमन्यु की तरह घिरता जा रहा है। उसके पास शास्त्र, गुरु, धर्म, दर्शन के अस्त्र–शस्त्र तो हैं किन्तु दुर्योधनी षड्यन्त्र से बाहर निकले का मार्ग उसके पास नहीं। ऐसे संकटकाल की परिस्थितियों में भगवान् महावीर द्वारा बताया गया मानव कल्याण का क्रांतिकारी विचार ही उसकी रक्षा कर सकता है। वह विचार है 'आत्म स्वातन्त्र्य' का विचार। भगवान् महावीर कहते हैं **'पुरिसा तुममेव मित्तम्'** अर्थात् मनुष्य तू अपना मित्र स्वयं है। मनुष्य अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र द्वारा उच्चतम विकास अर्थात् मुक्ति के सोपान तक पहुँच सकता है। आत्म स्वान्त्र्य का यही विचार 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' की अवधारणा के नाम से प्रसिद्ध है। महावीर स्वामी की दृष्टि में दूसरे के द्वारा अनुभूत सत्य चाहे वह शास्त्रसम्मत ही क्यों न हो उधार लिया हुआ सत्य है। वह अपना सत्य जब तक नहीं बन जाता तब तक आत्म स्वातन्त्र्य और मुक्ति असम्भव है। भगवान् महावीर ने मनुष्य को स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से कहा है कि व्यक्ति अपनी साधना के बल से इतना ऊँचा उठ सकता है कि देवता भी उसको नमस्कार करते हैं। महावीर का चिन्तन व्यक्ति स्वातंत्र्य का चिन्तन होने के साथ–साथ सर्वोदयी समाज व्यवस्था का भी चिन्तन है। भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि पंच महाव्रतों के आचरण से व्यक्ति स्वावलम्बी बनता है तथा समाज का चारित्रिक और आध्यात्मिक विकास होता है।

3.6 प्रत्येक प्राणी एक स्वतन्त्र आत्मा है–

जीव अकेला मरता है और अकेला जन्म लेता है। किन्तु प्रत्येक आत्मा इतना शक्तिशाली है कि वह अपने गुणों का विकास करके स्वयं परमात्मा बन सकता है। भगवान् महावीर ने यह भी कहा है कि यदि आत्म कल्याण चाहते हो तो आत्मा के साथ युद्ध करो, बाहरी युद्ध करने से क्या लाभ ? महावीर के इन उपदेशों से मनुष्य में जहां एक ओर आत्म विश्वास और आत्म स्वाभिमान की भावना प्रोत्साहित होती है वहां दूसरी ओर उसे ईश्वर जैसी किसी बाहरी सत्ता की पराधीनता से भी मुक्ति मिलती है।

जैन धर्म में पञ्च परमेष्ठी की अवधारणा ईश्वर निष्ठा की अवधारणा नहीं बल्कि आत्मनिष्ठा की अवधारणा है। वैदिक परम्परा में भी परमेष्ठी की अवधारणा इसी रूप में जानी जाती है। अथर्ववेद के अनुसार जो व्यक्ति पुरुष में ब्रह्म को जानता है वही परमेष्ठी को जानता है–'ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदु: परमेष्ठिनम्' 'पञ्चास्तिकाय' में भी कहा गया है कि जिसने आत्म साक्षात्कार नहीं किया चाहे वह पदार्थों का तत्त्वज्ञ भी हो, तीर्थंकरों का भक्त भी हो, शास्त्रों का ज्ञाता हो और संयम तथा तप का पालन भी करने वाला क्यों न हो, किन्तु निर्वाण अभी उससे बहुत दूर है। जैनधर्म में व्यक्ति के स्थान पर आध्यात्मिक विकास के आलोक स्तम्भ के रूप में पञ्च परमेष्ठी को उपास्य माना गया है। ये पञ्च परमेष्ठी हैं– 1. अर्हंत, 2. सिद्ध, 3. आचार्य, 4. उपाध्याय और 5. साधु। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ये पांचों पद व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। इन पञ्च परमेष्ठियों की वन्दना करने वाला जैनधर्म का यह णमोकार मंत्र भी इसलिए परम कल्याणकारी मन्त्र माना जाता है–

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

इन पांच परमेष्ठियों में अर्हंत भगवान् जीवन मुक्त परमात्मा हैं, सिद्ध भगवान् पूर्णमुक्त परमात्मा हैं। अर्हन्त तथा सिद्ध भगवान् के पदचिन्हों पर चलने वाले संसार से विरक्त, महाव्रतधारी आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों परमेष्ठी भी गुरु तुल्य पूज्य माने जाते हैं। इस संसार में आध्यात्मिक गुणों के विकास के कारण ये पाँच परमेष्ठी समस्त संसारी जीवों में श्रेष्ठ होते हैं। आत्मशुद्धि अथवा व्यक्ति स्वातन्त्र्य का इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति इन्हीं पञ्च परमेष्ठियों का आदर्श रखकर आध्यात्मिक विकास की साधना कर सकता है।

3.7 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–रविषेणाचार्य ने संस्कृत में कौन से ग्रंथ की रचना की थी ?

(क) पद्मचरित ☐
(ख) आदिपुराण ☐
(ग) उत्तरपुराण ☐

प्रश्न 2–'बे लगाम घोडे की सवारी' मनुष्य को कहाँ ले जाती हैं ?

(क) उन्नति ☐
(ख) पतन ☐
(ग) सिद्धशिला ☐

प्रश्न 3–सोमदेवाचार्य ने धर्म को कितने भागों में विभक्त किया है ?

(क) तीन ☐
(ख) चार ☐
(ग) दो ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने धर्म के प्रति जनमानस की अरुचि बढ़ने के कौन से तीन कारण बतायें ?

प्रश्न 2–'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' इस पंक्ति का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 3–भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद में क्या अंतर है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1–जैनधर्म के अनुसार स्वतंत्रता और परतंत्रता की परिभाषा उदाहरण सहित दीजिए ?

इकाई–2 जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) जैनदर्शन में संसार स्वरूप

(2) जैनदर्शन में छह द्रव्य एवं पंचास्तिकाय

(3) जैनदर्शन में सात तत्त्व एवं नव पदार्थ

(4) जैनदर्शन में गुणस्थान एवं लेश्या

पाठ-1–जैनदर्शन में संसार स्वरूप

1.1 भारतीय दर्शनों में सबसे अधिक प्राचीन अर्थात् अनादिनिधन जैनदर्शन है और उसके अपने मौलिक सिद्धान्त भी हैं, जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अनेक विशेषताओं को लिये हुए हैं। सभी भारतीय दर्शनों के चिन्तन का आधार केन्द्र आत्मा रहा है। सभी दर्शनों ने अपने–अपने ढंग से आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप का चिन्तन किया है। जैनदर्शन की चिन्तनपद्धति ही अपने आप में विलक्षण है। आत्मसुख की चर्चा करते हुए जैनदर्शन ने एक ही बात कही है कि आत्मा अनादिकाल से संसार परिभ्रमण करते हुए विभिन्न प्रकार के मानसिक, कायिक और आकस्मिक आदि अनेक दु:खों की अबाध चक्की में पिसता रहा है और अब वह दु:खों की शृंखला का नाशकर सुखी होना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे इस बात की गवेषणा करनी होगी कि मेरा संसारपरिभ्रमण किन कारणों से हो रहा है और उसका अन्त किस प्रकार हो सकता है। अनादिकालीन संसारपरिभ्रमण का कारण जैनाचार्यों ने मिथ्यात्व को बताया है और मिथ्यात्व का विरोधी सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व जीव की चिन्तनधारा को समीचीनता प्रदान करता है। मिथ्यात्व के कारण जिस संसार परिभ्रमण का कभी अन्त नहीं होता ऐसे अनन्तसंसार का स्वरूप एवं सम्यक्त्व के कारणभूत जीवादि तत्त्वों का चिन्तन करना आवश्यक है।

''संसरणं संसार: परिवर्तनमित्यर्थ:।'' ''कर्मविपाकवशादात्मन: भवान्तरावाप्ति: संसार:'' अर्थात् संसरण करने को संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। कर्म के विपाक वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। अथवा जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है, पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीर को धारण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व–कषाय आदि से युक्त जीव का इस प्रकार अनेक शरीरों में जो संसरण (परिभ्रमण) होता है उसे संसार कहते हैं।

आत्मा की चार अवस्थाओं का वर्णन भी जैनागम में मिलता है। संसार, असंसार, नोसंसार और इन तीनों से विलक्षण, इस प्रकार चार अवस्थाएँ हैं। अनेक योनियों से युक्त चारों गतियों में परिभ्रमण करना संसार है। पुन: पुन: जन्म नहीं लेना अथवा शिवपद की प्राप्ति या परमसुख की प्रतिष्ठा असंसार है। चतुर्गतिरूप संसारपरिभ्रमण का तो निरोध हो जाना, किन्तु अभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई है ऐसी जीवनमुक्त सयोगकेवली की अवस्था ईषत्संसार या नोसंसार है। अयोगकेवली इन तीनों से विलक्षण हैं अर्थात् इनके चतुर्गतिरूप संसारपरिभ्रमण का तथा मुक्तावस्थारूप असंसार का तो अभाव है, किन्तु सयोगकेवली के समान प्रदेश परिस्पन्द का भी अभाव है ऐसी चौथे ही प्रकार की अवस्था अयोगकेवली के पाई जाती है।

1.2 पंचपरावर्तनरूप संसार–

संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव परिवर्तन के भेद से पांच प्रकार का है।

1.2.1 द्रव्य परिवर्तन–नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन के भेद से द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार है–

किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों का एक समय में ग्रहण किया। अनन्तर वे

पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण व गन्ध आदि के द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भाव से ग्रहण किये थे उस रूप से अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा, गृहीतागृहीतरूप मिश्र परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा। तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही परमाणु उसी प्रकार के नोकर्मभाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नोकर्म–द्रव्यपरिवर्तन है।

एक जीव ने आठ प्रकार के कर्मरूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया वे समयाधिक एक आवलीकाल के बाद द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन में बतलाया है उसी क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उस जीव के जब कर्मभाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है। इस प्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गलपरिवर्तनरूप संसार में घूमता रहता है। द्रव्यपरिवर्तन में नोकर्म परिवर्तनकाल तीन प्रकार का होता है–अगृहीत ग्रहणकाल, गृहीत ग्रहणकाल और मिश्रकाल।

1.2.2 क्षेत्र परिवर्तन–क्षेत्र परिवर्तन के स्वक्षेत्र और परक्षेत्र परिवर्तन के भेद से दो भेद हैं–

कोई जीव सूक्ष्मनिगोदिया को जघन्य अवगाहना से उत्पन्न हुआ और अपनी आयुप्रमाण जीवित रहकर मर गया फिर वही जीव प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ। एक–एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओं को क्रम से धारण करते करते महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त संख्यातघनांगुल प्रमाण अवगाहना के विकल्पों को वही जीव जितने समय में धारण करता है उतने काल के समुदाय को स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं।

जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है, ऐसा एक सूक्ष्म निगोदलब्ध्यपर्याप्तकजीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण काल तक जीवित रहकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहना से वहां दूसरी बार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग में आकाश के जितने प्रदेश प्राप्त हों उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः उसने आकाश का एक एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोक को अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इस प्रकार वह सब मिलकर एक क्षेत्र परिवर्तन होता है।

1.2.3 काल परिवर्तन–काल परिवर्तनरूप संसार में भ्रमण करता हुआ उत्सर्पिणी–अवसर्पिणीकाल के सम्पूर्ण समयों और आवलियों में अनेक बार जन्म–मरण धारण करता है। तद्यथा–कोई जीव उत्सर्पिणी–काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया। पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मर गया, पुनः वही जीव तृतीय उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार क्रम से इसने उत्सर्पिणीकाल के जितने समय हैं उतनी बार उत्सर्पिणीकाल में जन्म लिया और मरण किया तथा उसी प्रकार अवसर्पिणीकाल को भी जन्म–मरण करके पूरा करता है। यह जन्म–मरण का क्रम निरन्तरता की अपेक्षा कहा गया है। यह सब मिलकर एक काल परिवर्तन है।

1.2.4 भवपरिवर्तन–मिथ्यात्व संयुक्त जीव ने नरक की सबसे जघन्य आयु से लेकर उपरिम ग्रैवेयक विमान तक की आयु क्रम से अनेकबार पाकर भ्रमण किया सो भवपरिवर्तन है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। एक जीव उस आयु से वहां उत्पन्न हुआ पुनः घूम फिरकर उसी जघन्य आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ। ऐसे 10 हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार आयु में एक–एक समय बढ़ाकर नरक की 33 सागर की आयु पूर्ण की। तदनन्तर नरक से निकलकर अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु के साथ तिर्यञ्चगति में उत्पन्न हुआ और एक–एक समय बढ़ाते हुए इसने तिर्यञ्चगति की तीन पल्य की आयु समाप्त की। इसी प्रकार मनुष्यगति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु को पूर्ण किया। देवगति में नरकगति के समान ही 10 हजार वर्ष की जघन्य आयु से 31 सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु पूर्ण

करता है। यहां 31 सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु पर्यन्त कहने का यही तात्पर्य है कि यह उत्कृष्ट आयु उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त है और पंचपरावर्तनरूप संसार में भ्रमण करने वाला जीव इससे ऊपर नवानुदिश और पंचानुत्तर विमानों में उत्पन्न होता नहीं, क्योंकि वहां सम्यग्दृष्टिजीव उत्पन्न होते हैं। पंचपरावर्तनरूप संसार परिभ्रमण करते हुए उपरिम ग्रैवेयक तक मिथ्यादृष्टिजीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह भव परिवर्तन का लक्षण कहा है।

1.2.5 भावपरिवर्तन–इस जीव ने मिथ्यात्व के वशीभूत होकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के कारणभूत जितने प्रकार के परिणाम या भाव है उन सबका अनुभव करते हुए भाव परिवर्तनरूप संसार में अनेक बार भ्रमण किया है।

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृति की सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तः कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को प्राप्त होता है उसके उस स्थिति के योग्य षट्स्थानपतित असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं और सबसे जघन्य इन कषायाध्यवसाय स्थानों के निमित्त से असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागध्यवसाय स्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्यस्थिति, सबसे जघन्यकषायाध्यवसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागाध्यवसायस्थान को धारण करने वाले इस जीव के तद्योग्य सबसे जघन्ययोगस्थान होता है। तत्पश्चात् स्थितिकषायाध्यवसायस्थान और अनुभागाध्यवसायस्थान वही रहते हैं, किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यातभागवृद्धि संयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानों में समझना चाहिए। ये सब योगस्थान चारस्थानपतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवें भाग है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय–अध्यवसायस्थान को धारण करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग अध्यवसायस्थान होता है, इसके योगस्थान पहले के समान जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहां भी पूर्वोक्त तीनों बातें ध्रुव रहती हैं, किन्तु योगस्थान श्रेणि के असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं। इस प्रकार असंख्यातलोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थानों के होने तक तृतीयादि अनुभाग–अध्यवसायस्थानों में जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसान तो जघन्य ही रहते हैं, किन्तु अनुभाग–अध्यवसायस्थान क्रम से असंख्यातलोकप्रमाण हो जाते हैं और एक–एक अनुभाग–अध्यवसायस्थान के प्रति जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। तत्पश्चात् उसी स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव के दूसरा कषाय–अध्यवसायस्थान होता है, इसके अनुभाग–अध्यवसायस्थान और योगस्थान पहले के समान जानना चाहिए। इस प्रकार असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानों के होने तक तृतीय कषाय–अध्यवसायस्थानों में वृद्धि का क्रम जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्यस्थिति के कषायादि स्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्यस्थिति के भी कषायादिस्थान जानना चाहिए। इसी प्रकार एक–एक समय अधिक क्रम से तीस कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण उत्कृष्टस्थिति तक प्रत्येक स्थिति के विकल्प के भी कषायादि स्थान जानने चाहिए। अनन्तभाग वृद्धि आदि वृद्धि के छह स्थान तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकार की है। इनमें से अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इन दो स्थानों के कम कर देने पर चार स्थान होते हैं। इस प्रकार सर्व मूल व उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सर्व मिलकर एक भावपरिवर्तन होता है।

1.3 पंचपरावर्तन का अल्पबहुत्व–

अतीतकाल में एक जीव के सबसे कम भाव परिवर्तन के बार होते हैं अर्थात् सबसे कम बार भाव परिवर्तन होता है। भव परिवर्तन के बार भावपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं। कालपरिवर्तन के बार भवपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं। क्षेत्र परिवर्तन के बार कालपरिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं और पुद्गल परिवर्तन के बार क्षेत्र परिवर्तन के बारों से अनन्तगुणे हैं। पुद्गलपरिवर्तन का काल सबसे कम है, क्षेत्रपरिवर्तन का काल पुद्गलपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। कालपरिवर्तन का काल क्षेत्रपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। भवपरिवर्तन का काल, कालपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। भावपरिवर्तन का काल भवपरिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है।

इस प्रकार पाँच प्रकार के संसार परावर्तन का स्वरूप जानकर उसके निमित्तरूप मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए। सम्यग्दर्शन की महिमा यही है कि इस पंचपरावर्तनरूप अनन्तसंसार का उच्छेद हो जाता है और उसकी प्राप्ति होने के पश्चात् जीव का संसारपरिभ्रमण काल अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तनप्रमाण शेष रह जाता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारों गति का भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, जागृत, साकारोपयोगी जीव ही क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि में उत्तरोत्तर परिणामविशुद्धि के द्वारा मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया व लोभ) का उपशम करके (उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त) करता है। उपर्युक्त पांच लब्धियों में से करणलब्धि बिना शेष चार लब्धियाँ तो अभव्यजीव के भी हो जाती हैं, किन्तु करणलब्धि के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन पांचों लब्धियों में करणलब्धि तो अन्तरंग कारण है और शेष लब्धियाँ बहिरंग कारण हैं ऐसा जिनसेनाचार्य ने महापुराण में कहा है।

उपर्युक्त पाँचों लब्धि में तीसरी देशनालब्धि का लक्षण करते हुए आचार्यों ने कहा है–

''छद्दव्व–णवपदत्थोवदेसो देसाणा णाम।'' तीए देसणाए परिणदआइरियादीणमुवलंभो, देसिदत्थस्स गहण–धारण–विचारण–सत्तीए समागमो अ देसणलब्धि णाम।''

छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।

1.4 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1–जैनागम में आत्मा की कितनी अवस्थाएँ बताई हैं ?

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 2–भव और भाव किसके भेद हैं ?

(क) अजीव ☐ (ख) कषाय ☐ (ग) परावर्तन ☐

प्रश्न 3–पंचलब्धियों में से अन्तरंग का कारण कौन–सी लब्धि है ?

(क) करण लब्धि ☐ (ख) देशना लब्धि ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–परावर्तन कितने होते हैं ? नाम लिखिए।

प्रश्न 2–काल परिवर्तन को संक्षेप में समझाइए।

प्रश्न 3–भव परिवर्तन किसे कहते है। ?

प्रश्न 4–मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतियों के नाम बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–संसार किसे कहते हैं ? विस्तार से समझाइए।

पाठ-2 – जैनदर्शन में छह द्रव्य एवं पंचास्तिकाय

2.1 द्रव्य का स्वरूप–

जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था, गुणों के द्वारा जो प्राप्त किया जावेगा या गुणों को प्राप्त होगा, उसे द्रव्य कहते हैं। जो यथायोग्य अपनी–अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। यह द्रव्य का निरुक्ति अर्थ है।

सहवर्तीगुण और क्रमवर्ती पर्यायों के समुदाय से युक्त उत्पादव्ययध्रौव्यरूप सत्ता लक्षणवाला द्रव्य है। यह द्रव्य पर्याय की अपेक्षा अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय है तत्प्रमाण होता है। द्रव्य के छह भेद होते हैं–

''जीव पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।। नियमसार।।

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म काल और आकाश ये तत्वार्थ (द्रव्य) कहे हैं जो कि नाना–गुण पर्यायों से संयुक्त हैं।

2.2 जीवद्रव्य–

दश प्राणों में से अपनी पर्याय के अनुसार गृहीत यथायोग्य प्राणों के द्वारा जो जीता है, जीता था व जीवेगा इस त्रैकालिक जीवनगुण वाले को जीव कहते हैं। अथवा निश्चयनय से चेतना लक्षण वाला जीव है। अथवा शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा यद्यपि यह जीव शुद्धचैतन्य है लक्षण जिसका ऐसे निश्चयप्राणों से जीता है तथापि अशुद्ध निश्चयनय से द्रव्य व भाव प्राणों से जीता है। ''**उपयोगो लक्षणम्**'' जीव का लक्षण उपयोगमय है। और उपयोग ज्ञान–दर्शनरूप है। जीव चैतन्य लक्षण वाला होने से समस्त जड़ द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। जीव असंख्यात प्रदेशी है और अनादिकाल से सूक्ष्म कार्मणशरीर से सम्बद्ध है। अतः चैतन्ययुक्त जीव की पहचान व्यवहार में पांच इन्द्रिय, मन–वचन–कायरूप तीनबल तथा श्वासोच्छ्वास और आयु इस प्रकार दस प्राणरूप लक्षणों की हीनाधिक सत्ता के द्वारा ही की जा सकती है।

कर्तृत्व और भोक्तृत्वरूप प्रधान शक्तियों से युक्त जीव में अनेक गुण पाये जाते हैं ऐसे जीव का 9 अधिकारों के द्वारा द्रव्यसंग्रह में विवेचन किया गया है। तद्यथा–जीव–जीव है, उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है। इनमें से कर्तृत्व और भोक्तृत्व गुण को यहाँ मुख्य रूप जानना है–

जीव का कर्तृत्व–

परिणमन करने वाले को कर्ता, परिणाम को कर्म और परिणति को क्रिया कहते हैं। ये तीनों वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, एक द्रव्य की ही परिणति हैं। जीव में कर्तृत्वशक्ति स्वभावतः पायी जाती है। आत्मा असद्भूत व्यवहारनय से ज्ञानावरण, दर्शनावरणादि पुद्गलकर्मों तथा भवन, वस्त्र आदि पदार्थों का कर्त्ता है। अशुद्धनिश्चयनय से अपने राग–द्वेषादि चैतन्य–भावकर्मों का और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से अपने शुद्ध चैतन्य भावों का कर्ता है।

भोक्तृत्व–

आत्मा कर्म–फलों का स्वयं भोक्ता है। यह असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा पुद्गलकर्मों के फल का भोक्ता है। अन्तरंग में साता, असाता का उदय होने पर सुख–दुःख का यह अनुभव करता है। इसी साता–असाता के उदय से बाह्य में उपलब्ध होने वाले सुख–दुःख के साधनों का उपभोग करता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा चेतना के विकार रागादिभावों का भोक्ता है और शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धचैतन्य भावों का भोक्ता है।

2.3 जीव : भेद–प्रभेद–

जीव के मूलतः संसारी और मुक्त रूप दो भेद हैं। कर्मबन्धन से बद्ध एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करने वाले संसारी जीव कहलाते हैं। संसारी जीव क्षुधा–तृषा, रोग–शोक, वध–बन्धन आदि दुःखों से व्याकुल रहते हैं और कर्मानुसार उन्हें अनेक प्रकार की आकुलताएँ प्राप्त होती रहती हैं। कर्म–बन्ध के कारण जीव की परतन्त्र दशा ही संसार है। यह जीव अपने ही राग–द्वेष मोह भावों से स्वकीय कर्मबन्ध करता है और उसी कर्मचक्र के अनुसार भिन्न–भिन्न शरीरों को धारण करता है। बालक, युवक, वृद्ध होता हुआ अनेक प्रकार के दुःख उठाता है।

इससे विपरीत मुक्त जीव कर्मबन्धन से पूर्णतया निवृत्त होकर आत्म–स्वातन्त्र्य को प्राप्त कर लेता है। यहाँ ध्यातव्य है कि पूर्ण स्वातन्त्र्य ही सबसे बड़ा सुख है। जब जीव की कर्मजन्य परतन्त्रता छूट जाती है तो मुक्तजीव लोकाग्रभाग में स्थित होकर शाश्वत सुख का अनुभव करता है। मुक्त होने पर सभी प्रकार की आकुलताओं और व्याकुलताओं से छूटकर आत्मा के ज्ञान, सुख आदि गुणों में यह जीव लीन रहता है। इन्हें (मुक्त जीवों को) वचनातीत सुख प्राप्त होता है।

संसारी जीव भी त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के होते हैं। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी त्रस जीव हैं। जीवविपाकी त्रस नामकर्म के उदय से उत्पन्न वृत्ति–विशेष वाले जीव त्रस हैं। अपनी रक्षार्थ स्वयं चलने–फिरने की शक्ति त्रस जीवों में रहती है। त्रसजीव लोक के मध्य में एक राजू विस्तृत और कुछ कम 14 राजू लम्बी त्रसनाली में निवास करते हैं। त्रसजीव भी विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय रूप पाये जाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय है। इनके क्रमशः दो (स्पर्शन, रसना) तीन (स्पर्शन, रसना, घ्राण) चार (स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु) इन्द्रियाँ पायी जाती हैं। लट, शंख आदि द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय और भ्रमरादि चतुरिन्द्रिय माने गये हैं।

सकलेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण , चक्षु और श्रोत्ररूप पांच इन्द्रियां पायी जाती है। इनके संज्ञी और असंज्ञी ये दो भेद होते हैं। जिनके मन है और सोचने विचारने की विशिष्ट शक्ति है वे संज्ञी और जिनके मन या सोचने–विचारने की शक्ति नहीं है वे असंज्ञी कहलाते हैं।

स्थावरजीव एकेन्द्रिय होते हैं इनके मात्र एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावरजीव–पर्याय प्राप्त होती है। स्थावरजीवों के पांच भेद हैं–पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।

2.4 पुद्गल–

भेद और संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हों वे पुद्गल हैं। अर्थात् जो एक दूसरे के साथ मिलकर बिछुड़ता रहे ऐसा पूरण–गलन स्वभावी स्पर्श–रस–गन्ध और वर्ण संयुक्त मूर्तिक जड़ पदार्थ पुद्गल कहलाता है। अथवा जीव जिनको शरीर, आहार, विषय, और इन्द्रिय–उपकरणादि के रूप में ग्रहण करें वे पुद्गल है।

पुद्गल शब्द पारिभाषिक शब्द है, रूढ़ नहीं। इसका व्युत्पत्ति अर्थ कई प्रकार से किया जाता है। पुद्गल शब्द में 'पुद्' और 'गल' ये दो अवयव हैं 'पुद्' का अर्थ पूरा होना या मिलना (Combination) और 'गल' का अर्थ है गलना या मिटाना (Disintegration) जो द्रव्य प्रतिसमय मिलता–गलता रहे, बनता–बिगड़ता रहे, टूटता–जुड़ता रहे वह पुद्गल है।

सम्पूर्ण विश्व में पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुनः परस्पर सम्बद्ध भी होता है। स्पर्श–रस–गन्ध–वर्णवाला होने से पुद्गल छुआ भी जा सकता है, चखा जा सकता है, सूंघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है, यही इस द्रव्य की विशेषता है।

2.5 पुद्गल के भेद–

'अणवः स्कन्धाश्च' इस सूत्र के अनुसार पुद्गल को अणु और स्कन्ध रूप दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है, शाश्वत होकर भी उत्पाद–व्यय युक्त है।

2.5.1 अणु–अणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अंश है जिसका पुनः अंश हो ही न सके। अणु अविभाज्य है अतः उसका विभाजन नहीं हो सकता है।

2.5.2 स्कन्ध–दो या दो से अधिक परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है।

स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश एवं अणु इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के चार भेद भी होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं से एक स्कन्ध बनता है, स्कन्ध का आधा स्कन्धदेश और स्कन्ध देश का आधा स्कन्ध प्रदेश कहलाता है। अणु सर्वतः अविभागी होता है।

स्कन्ध की अपेक्षा छह भेद–

अपने परिणमन की अपेक्षा पुद्गल स्कन्धों के छह भेद हैं–बादर–बादर (स्थूल–स्थूल), बादर (स्थूल), बादर–सूक्ष्म, सूक्ष्म–बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म–सूक्ष्म।

बादर बादर–जो स्कन्ध छिन्न–भिन्न होने पर स्वयं न मिल सकें। ऐसे ठोस (Solid) पदार्थ जिनका आकार, प्रमाण और घनफल नहीं बदलता बादर–बादर कहलाते हैं। लकड़ी, पत्थर, पृथ्वी आदि पदार्थ इस वर्ग में आते हैं।

बादर–जो स्कन्ध छिन्न–भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जावे वे बादर कहलाते हैं। जिनका केवल आकार बदलता है घनफल नहीं वे बादर कहलाते हैं। इस वर्ग में दूध, घी, जल, तैल आदि द्रव (Liquids) पदार्थ आते हैं।

बादर–सूक्ष्म–जो स्कन्ध देखने में स्थूल हों, परन्तु जिनका छेदन, भेदन और ग्रहण न किया जा सके वे बादर–सूक्ष्म कहलाते हैं। अर्थात् केवल नेत्रन्द्रिय के विषयभूत आकार सहित किन्तु पकड़ में न आ सकने वाले पदार्थ बादर–सूक्ष्म कहलाते हैं। प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि पदार्थों को इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

सूक्ष्म–बादर–नेत्रेन्द्रिय के बिना शेष चार इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ सूक्ष्म–बादर कहलाते हैं। जैसे ताप, ध्वनि आदि ऊर्जाएं। यद्यपि ताप हम नेत्रेन्द्रिय से देख नहीं पाते, किन्तु स्पर्श के द्वारा उसका परिज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार ध्वनि को हम आँखों से देख नहीं सकते, किन्तु कर्णेन्द्रिय द्वारा उसका अनुभव कर लेते हैं।

सूक्ष्म–जो स्कन्ध सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण न किये जा सकें वे सूक्ष्मस्कन्ध कहलाते हैं। इस वर्ग में हम कार्मणवर्गणाओं को कह सकते हैं। कार्मण वर्गणाएँ ही वे सूक्ष्म स्कन्ध हैं जो हमारे परिणामों के प्रभाव से आत्मा से सम्बद्ध होती हैं और उनका प्रभाव जीवद्रव्य पर पड़ता है।

सूक्ष्म–सूक्ष्म–कार्मण वर्गणाओं से भी छोटे द्वयणुकस्कन्ध तक सूक्ष्म–सूक्ष्म स्कन्ध है।

2.6 पुद्गल के तेईस भेद–

पुद्गलजातीय स्कन्धों में विभिन्न प्रकार के परिणमन होने से पुद्गल के 23 भेद हैं, जिन्हें वर्गणाएँ कहा जाता है। जो इस प्रकार हैं–अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, आग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, आग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, आग्राह्यवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तर–निरन्तरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा।

उपर्युक्त 23 वर्गणाओं में आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पांच ग्राह्यवर्गणाएँ हैं। इन वर्गणाओं में ऐसा नियम नहीं है कि जो परमाणु एक बार कार्मणवर्गणारूप परिणत हुए हैं वे सदा कार्माणावर्गणारूप

ही रहेंगे अन्यरूप नहीं होंगे या अन्य परमाणु कर्मवर्गणारूप नहीं होंगे। अर्थात् जो परमाणु शरीर अवस्था में नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वे ही परमाणु मृत्यु के अनन्तर शरीर के भस्म कर देने पर अन्य अवस्थाओं को प्राप्त हो जाते हैं।

2.7 पुद्गल की पर्याय–

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

2.7.1 शब्द–एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द है। शब्द कर्ण या श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। शब्द पुद्गल द्वारा रुकता है, पुद्गलों को रोकता है, पौद्गालिक वातावरण में अनुकम्पन करता है, पुद्गल के द्वारा ग्रहण किया जाता है और पुद्गल से धारण किया जाता है अतः पौद्गलिक है। स्कन्धों के परस्पर संयोग, संघर्षण और विभाग से शब्द उत्पन्न होता है।

शब्द के भाषात्मक और अभाषात्मकरूप दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेद हैं। बोल–चाल में आने वाली विविधप्रकार की भाषाएँ, जिनमें ग्रंथ रचना होती हैं, वे अक्षरात्मक तथा द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों के जो ध्वनिरूप शब्द उच्चरित होते हैं, वे अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द के भी वैस्रसिक और प्रायोगिक के भेद से दो भेद हैं। मेघ आदि की गर्जना वैस्रसिक और तत, वितत, घन व सुषिररूप चार भेदों से संयुक्त प्रायोगिक शब्द हैं। मृदंग, भेरी और ढोल आदि का शब्द तत है। वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द वितत है। झालर, घण्टा आदि का शब्द घन है और शंख, बांसुरी आदि का शब्द सुषिर है।

2.7.2 बन्ध–बन्ध शब्द का अर्थ है बंधना, जुड़ना, मिलना, संयुक्त होना। दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धों का भी; इसी प्रकार एक या एक से अधिक परमाणुओं का एक या एक से अधिक स्कन्धों के साथ भी बन्ध होता है। पुद्गल परमाणुओं का (कार्मण वर्गणाओं का) जीवद्रव्य के साथ भी बन्ध होता है।

जिन परमाणुओं या स्कन्धों अथवा स्कन्ध परमाणुओं या द्रव्यों का परस्पर बन्ध होता है वे परस्पर सम्बद्ध रहकर भी अपना–अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ दूध और पानी के समान सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक् सत्ता नहीं खो सकता, उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरित हो जावें, फिर भी उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है।

बन्ध की प्रक्रिया–जैनाचार्यों ने बन्ध की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। परमाणु से स्कन्ध, स्कन्ध से परमाणु और स्कन्ध के स्कन्ध किस प्रकार बनते हैं इस विषय में आगम में सात प्रकार बताये गये हैं–

(1) स्कन्धों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद–संघात से होती है। स्कन्धों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध में मिल जाना भेद कहलाता है। दो स्कन्धों का संघटन या संयोग हो जाना संघात है और इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ हो जाना भेद–संघात है।

(2) अणु की उत्पत्ति केवल भेद से ही होती है।

(3) पुद्गल में पाये जाने वाले स्निग्ध और रुक्ष नामक दो गुणों के कारण ही यह प्रक्रिया सम्भव है।

(4) जिन परमाणुओं का स्निग्ध अथवा रुक्ष गुण जघन्य अर्थात् न्यूनतम शक्तिस्तर पर हो उनका परस्पर बन्ध नहीं होता।

(5) जिन परमाणुओं या स्कन्धों में स्निग्ध या रुक्ष गुण समान मात्रा में अर्थात् सम शक्ति स्तर पर हो उनका भी परस्पर बन्ध नहीं होता।

(6) उन परमाणुओं का बन्ध अवश्य होता है जिनसे स्निग्ध और रुक्ष गुणों की संख्या में दो का अन्तर होता है, जैसे चार स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध का छह स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध के साथ अथवा छह रुक्ष गुण युक्त स्कन्ध के साथ बन्ध

सम्भव है।

(7) बन्ध की प्रक्रिया में संघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रुक्षता में से जो भी गुण अधिक परिमाण में होता है नवीन स्कन्ध उसी गुणरूप में परिणत होता है।

2.7.3 सूक्ष्मता–सूक्ष्मता भी पुद्गल की पर्याय है यतः इनकी उत्पत्ति पुद्गल से ही होती है। सूक्ष्मता दो प्रकार की होती है–1. अन्त्यसूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता। अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओं में ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी–बड़ी वस्तुओं में पाई जाती है। जैसे–बेल, आंवला और बेर में आपेक्षिक सूक्ष्मता है।

2.7.4 स्थूलता–यह भी पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण उसकी ही पर्याय है। स्थूलता भी दो प्रकार की हैं–1. अन्त्य स्थूलता, 2. आपेक्षिक स्थूलता। अन्त्यस्थूलता तो विश्वव्यापी महास्कन्ध में पाई जाती है और बेर, आंवला, बेल में आपेक्षिक स्थूलता पाई जाती है।

2.7.5 संस्थान–संस्थान का अर्थ आकार, रचना विशेष। संस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार से देखने में आता है। इत्थं लक्षण और अनित्थं लक्षणं इत्थंसंस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल आदि नाम देते हैं और अनित्थं लक्षण संस्थान जिसे हम अनगढ़ भी कह सकते हैं उसे कोई खास नाम नहीं दिया जा सकता। जैसे मेघ आदि का आकार अवश्य है, किन्तु उसका निर्धारण सम्भव नहीं है अतः यह अनित्थं लक्षण संस्थान है।

2.7.6 भेद–पुद्गल पिण्ड का भंग होना भेद है। पुद्गल के विभिन्न भंग–टुकड़े उपलब्ध होते हैं अतः भेद को भी पुद्गल पर्याय कहा गया हैं भेद के छह भेद हैं–

1. उत्कर–बुरादा लकड़ी या पत्थर आदि का करोंत आदि से भेद करना।
2. चूर्ण–गेहूं आदि का सत्तू या आटा।
3. खण्ड–घट आदि के टुकड़े टुकड़े हो जाना खण्ड है।
4. चूर्णिका–दालरूप में टुकड़े, उड़द, मूंग, चना आदि की दाल।
5. प्रतर–मेघ, भोजपत्र, अभ्रक और मिट्टी आदि की तहें निकालना प्रतर है।
6. अणुचटन–गर्म किये लोहे पर घन मारने पर अथवा शान पर कोई वस्तु चढ़ाते समय जो स्फुलिंगे निकलते हैं।

2.7.7 तम–जो देखने में बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है। अन्धकार तम का पर्यायवाची है, अन्धकार मूर्तिक है, क्योंकि इसका अवरोध किया जा सकता है। कुछ दार्शनिकों ने अन्धकार को कोई वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है, किन्तु यह उचित नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह भी कह सकते हैं कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है वह तो केवल तम का अभाव है। विज्ञान भी अन्धकार को प्रकाश का अभावरूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है। प्रकाशपथ में सघन पुद्गलों के आ जाने से अन्धकार की उत्पत्ति होती है।

2.7.8 छाया–प्रकाश पर आवरण पड़ने से छाया उत्पन्न होती है। सूर्य, दीपक, विद्युत आदि के कारण आस–पास के पुद्गलस्कन्ध भासुररूप धारणकर प्रकाश स्कन्ध बन जाते हैं। जब कोई स्थूलस्कन्ध इस प्रकाशस्कन्ध को जितनी जगह में अवरुद्ध रखता है उतने स्थान के स्कन्ध काला रूप धारण कर लेते हैं यही छाया है। छाया के दो भेद हैं–

1. वास्तविक प्रतिबिम्ब–प्रकाश रश्मियों के मिलने से वास्तविक प्रतिबिम्ब बनते हैं।
2. अवास्तविक प्रतिबिम्ब–समतल दर्पण में प्रकाश रश्मियों के परावर्तन से बनते हैं। छाया पुद्गलजन्य है अतः पुद्गल की पर्याय है।

2.7.9 आतप–सूर्य आदि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं। आतप मूल में ठंडा होता है, किन्तु उसका प्रभाव उष्ण होता है। आतप में अधिकांश ताप किरणों के रूप में प्रगट होता है।

उद्योत–चन्द्रमा, जुगनू आदि के शीत प्रकाश को उद्योत कहते हैं। उद्योत की प्रथा और मूल दोनों शीतल होते हैं। उद्योत में अधिकांश ऊर्जा प्रकाश किरणों के रूप में प्रकट होती है।

2.8 पुद्गल के कार्य या उपकार–

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास का निर्माण पुद्गल द्वारा होता है। शरीर की रचना पुद्गल द्वारा हुई है। वचन के दो भेद हैं–(1) भाववचन (2) द्रव्यवचन। भाववचन वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से जो पुद्गल गुण दोष का विचार और स्मरण आदि कार्यों के सम्मुख हुए आत्मा के उपकारक हैं वे द्रव्यमन से परिणत होते हैं, अतएव द्रव्यमन भी पौद्गलिक है। वायु को बाहर निकालना **प्राण** और बाहर से भीतर ले जाना अपान कहलाता है। वायु के पौद्गलिक होने से प्राणापान भी पुद्गल द्वारा निर्मित है।

सुख, दु:ख, जीवन और मरण भी पुद्गलों के उपकार हैं। सुख, दु:ख जीव अवस्थाएँ हैं, इन अवस्थाओं के होने में पुद्गल निमित्त है, अत: ये पुद्गल के उपकार हैं। आयु कर्म के उदय से प्राण–अपान का विच्छेद न होना जीवन है और प्राण–अपान का विच्छेद हो जाना मरण है। प्राणापानादि पुद्गल स्कन्धजन्य है। अत: ये भी पुद्गल के उपकार हैं।

2.9 धर्मद्रव्य–

गतिशील जीव और पुद्गलों के गमन करने में जो साधारण कारण है, वह धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गल के समान यह भी स्वतन्त्र द्रव्य है। यह निष्क्रिय है। बहुप्रदेशी द्रव्य होने के कारण इसे अस्तिकाय भी कहा जाता है। धर्मद्रव्य के असंख्यातप्रदेश हैं। यह द्रव्य के मूल परिणामी स्वभाव के अनुसार पूर्वपर्याय को छोड़ने और उत्तर पर्याय को धारण करने का क्रम अपने प्रवाही अस्तित्व को बनाये रखते हुए अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। धर्मद्रव्य के कारण ही जीव और पुद्गलों के गमन की सीमा निर्धारित होती है। इसमें न रस है, न रूप है, न गन्ध है, न स्पर्श है और न शब्द ही है।

यह जीव और पुद्गल को गमन करने में उसी प्रकार सहायक है जैसे जल मछली के गमन करने में। यह एक अमूर्तिक समस्त लोक में व्याप्त स्वतन्त्र द्रव्य है।

2.10 अधर्मद्रव्य–

जिस प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों को गमन करने में सहायक है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों के ठहरने या स्थिति में सहायक है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों के चलने में सहायता करता है और अधर्मद्रव्य ठहरने में। चलने और ठहरने की शक्ति तो जीव और पुद्गलों में पाई जाती है, पर बाह्य सहायता के बिना इस शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है।

सहायक होने पर भी धर्म और अधर्मद्रव्य प्रेरक कारण नहीं हैं, न किसी को बलपूर्वक चलाते हैं और न किसी को ठहराते ही हैं, किन्तु ये दोनों गमन करते और ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को सहायक होते हैं।

2.11 आकाश द्रव्य–

जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है वह आकाश है। आकाश अनन्त है, किन्तु जितने आकाश में जीवादि अन्य द्रव्यों की सत्ता पाई जाती है वह लोकाकाश कहलाता है और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है उसे अलोकाकाश कहा जाता है। उसमें अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है, और न हो सकता है, क्योंकि वहां गमनागमन के साधनभूत धर्मद्रव्य का अभाव है।

एक पुद्गल परमाणु जितने आकाश को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस नाप से आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। इसके मध्य में चौदह राजू ऊँचा सर्वत्र सात राजू मोटा पुरुषाकार लोक है जो कि असंख्यात प्रदेशी है। लोक के अन्य समस्त अलोकाकाश अनन्त है। आकाश अन्य द्रव्यों के समान 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस द्रव्य लक्षण से युक्त है और

इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरुलघुगुण के कारण पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अतः आकाश परिणामीनित्य है। धर्म–अधर्म द्रव्य के समान आकाश द्रव्य भी निष्क्रिय है।

2.12 कालद्रव्य–

समस्त द्रव्यों के उत्पादादिरूप परिणमन में सहायक 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण वर्तना है। यह स्वयं परिणमन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक होता है। कालद्रव्य के दो भेद हैं–(1) निश्चय काल (2) व्यवहारकाल।

निश्चयकाल पाँच वर्ण और पाँच रस से रहित, दो गन्ध और आठ स्पर्श से रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला है। यह निश्चयकाल ही सत्तास्वरूप स्वभाव वाले जीवों के, तथैव पुद्गलों के और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एवं आकाशद्रव्य के परिणमन में निमित्तकारण है।

जो द्रव्यों के परिणमन में सहायक, परिणामादि लक्षणा वाला है सो व्यवहारकाल है। समय और आवली के भेद से दो प्रकार अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यत के भेद से तीन प्रकार का है। पदार्थों में कालकृत सूक्ष्मतम परिवर्तन होने में अथवा पुद्गल के एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना काल लगता है वह व्यवहारकाल का एक समय है। ऐसे संख्यातसमयों की आवली, संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास, सात उच्छ्वासों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, 38-1/2 लवों की एक नाली, दो नाली का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। इसी प्रकार पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग पूर्व, नयुतांग, नयुत आदि संख्यात काल के भेद हैं। इसके आगे असंख्यातकाल प्रारम्भ होता है जिसके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं। अनन्तकाल के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद हैं। अनन्त का उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तानन्त है।

2.13 पंचास्तिकाय–

जैनागम में पंचास्तिकाय बहुत प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त छह द्रव्यों को अस्तिकाय और अनास्तिकाय में विभाजित किया गया है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांचद्रव्य तो अस्तिकाय हैं तथा कालद्रव्य अनास्तिकाय है।।

अस्तिकाय–अनास्तिकाय–'अस्तिकाय' शब्द अस्ति और काय इन दो शब्दों के संयोग से बना है। अस्ति का अर्थ है सत्ता, अतः छहों द्रव्यों की सत्ता तो है, किन्तु काय अर्थात् बहुप्रदेशीपना कालद्रव्य बिना शेष पांच द्रव्यों को ही है। कालद्रव्य में कायत्व नहीं हैं, क्योंकि कालद्रव्य परमाणुमात्र प्रमाणवाला है और इसमें मुख्य और उपचार दोनों प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना का अभाव है। शेष पांचों द्रव्य क्रमशः जीव असंख्यात–प्रदेशी, पुद्गल में संख्यात–असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। धर्म व अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है तथा आकाश अनन्त प्रदेशी हैं

शंका–पुद्गल द्रव्य के एक–प्रदेशी अणु को कायत्व कैसे प्राप्त होगा ?

समाधान–वस्तुतः एक प्रदेशवाले अणु के भी पूर्वोत्तर भाव–प्रज्ञापननय की अपेक्षा उपचार कल्पना से प्रदेशप्रचय कहा है। पुद्गल तो (अणु) द्रव्यतः एक प्रदेशमात्र होने से यथोक्त प्रकार से अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशादि के उद्भव के हेतुभूत तथाविध स्निग्ध–रुक्ष गुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है। इसलिए पर्यायतः अनेकप्रदेशित्व भी सम्भव होने से पुद्गल को द्विप्रदेशित्व से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी कहा गया है वह भी न्याय युक्त है।

2.14 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–छह द्रव्यों में से एक.....

(क) सूर्य ☐
(ख) जीव ☐
(ग) ये दोनों ☐

प्रश्न 2–जिनके मन है, और सोचने विचारने की विशिष्ट शक्ति है, वह ..... है।

(क) असंज्ञी ☐
(ख) संज्ञी ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 3–एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करने वाले ..... कहलाते हैं।

(क) मुक्त जीव ☐
(ख) संसारी जीव ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–द्रव्य का क्या स्वरूप है ? इसके कितने भेद हैं ? लिखिए।

प्रश्न 2–पुद्गल किसे कहते हैं ? इसके भेद भी लिखिए।

प्रश्न 3–धर्मद्रव्य का स्वरूप बताइए।

प्रश्न 4–आकाश द्रव्य का स्वरूप समझाइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–पंचास्तिकाय क्या है ? विस्तार से समझाइए।

पाठ-3 – जैनदर्शन में सात तत्त्व एवं नव पदार्थ

3.1 सप्त तत्त्व–

तत्त्व–जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है। वस्तु के असाधारणरूप स्वतत्त्व को तत्त्व कहते हैं। जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसका उस रूप होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। तत्त्व सात हैं–

1. जीव, 2. अजीव, 3. आस्रव, 4. बन्ध, 5. संवर, 6. निर्जरा और 7. मोक्ष।

ये तत्त्व अनादि हैं। जिस प्रकार काल अनादि, अनन्त है उसी प्रकार ये तत्त्व भी अनादि हैं। इन सात तत्त्वों की जानकारी प्रत्येक तत्त्व जिज्ञासु के लिए आवश्यक है।

3.2 जीवतत्त्व–

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप चेतनता ही जीव का लक्षण है। आत्मा व चेतन भी जीव के पर्यायवाची शब्द हैं। अतः यहां जीव के स्थान पर 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार रोगी को जबतक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक उसे यह निश्चय ही नहीं हो सकता कि मेरी वह अस्वस्थ अवस्था है। आरोग्यावस्था का परिज्ञान होने पर ही रोगजनित विकार की यथार्थ जानकारी सम्भव है। इसी प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण किये बिना विकारी आत्मा का परिज्ञान नहीं हो सकता है। विकारी अवस्था का ज्ञान होने पर आत्मा अपने यथार्थ–परिशुद्ध स्वरूप की प्राप्त करने का प्रयत्न करता है यही चरम लक्ष्य है।

विश्व में अनन्त आत्माएं हैं और उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रत्येक आत्मा का मौलिक स्वरूप एक होने पर भी संसारी आत्माओं में जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मोपाधि जन्य है। कर्मों के आवरण की तारतम्यता अनन्त प्रकार की सम्भव है अतः आत्मा के स्वाभाविक गुणों के विकास एवं ह्रास की भी अनन्त अवस्थाएँ हो सकती हैं। आत्मा का असाधारण गुण चेतना है। यह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं पाया जाता है। जिस प्रकार आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है उसी प्रकार आत्मा भी तीनों कालों में अविनाशी और अवस्थित है। इसका ग्रहण ज्ञान–दर्शन गुण के द्वारा होता है।

आत्मा के भेद–आत्मा को हम तीन भेदों में विभाजित कर सकते हैं यह भेद आत्मा के विकास–अपेक्षा किये गये हैं।

1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा।

बहिरात्मा–मिथ्यात्व व राग–द्वेष से मलीन, तीव्रकषायविष्ट, मद–मोह–मान से नित्य संतप्त, विषयों में अत्यासक्त, देह, कलत्र, पुत्र व मित्रादिरूप चेतना के विभावों में अपनत्व करने वाला, आत्मा के ज्ञान-ध्यान व अध्ययन सुखामृत को छोड़कर इन्द्रिय विषयों के सुखों का भोक्ता मिथ्यादर्शन से मोहित होने के कारण हेयोपादेय के विचार से रहित होता हुआ देह को ही आत्मा समझने वाला बहिरात्मा हैं।

बहिरात्मा उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं–मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट, सासादनगुणस्थान वर्ती मध्यम और मिश्रगुणस्थानवर्ती जघन्य बहिरात्मा हैं।

अन्तरात्मा–स्व–पर के विवेक से भेदविज्ञान सम्पन्न होने से शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि का अभाव होने पर जब जीव की दृष्टि बाह्य विषयों से हटकर अन्तर की ओर झुक जाती है और सभी प्रकार के जल्पों से रहित होता है वह यह अन्तरात्मा कहलाता है। अन्तरात्मा के भी तीन भेद हैं–

1. जघन्य अन्तरात्मा, 2. मध्यम अन्तरात्मा, 3. उत्कृष्ट अन्तरात्मा।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा, क्षीणकषाय नामक 12 वें गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट अन्तरात्मा

तथा इन दोनों के मध्य में पंचमगुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत के जीव मध्यम अन्तरात्मा जानना चाहिए।

परमात्मा–संसारी जीवों में सबसे उत्कृष्ट आत्मा परमात्मा है। अथवा शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा विशुद्ध ध्यान के बल से कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर उनको आत्मा से सर्वथा पृथक् कर यह आत्मा परमात्मा बन जाती है। परमात्मा के दो भेद हैं–1. सकल परमात्मा और 2. निकल परमात्मा।

कल अर्थात् शरीर सहित परमात्मा सकल परमात्मा है। केवलज्ञान से जान लिये हैं सकल पदार्थ जिन्होंने ऐसे शरीर सहित अर्हंत सकल परमात्मा हैं। जो शरीर रहित हैं एवं सम्पूर्ण कर्मकालिमा से मुक्त हैं वे निकल परमात्मा है।

कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा के भेद से भी परमात्मा के दो भेद जिनागम में कहे गये हैं। परमात्मा की प्रथम सकलपरमात्मरूप अर्हंत अवस्था कारणपरमात्मा और निकलपरमात्मारूप सिद्धावस्था कार्यपरमात्मा है।

कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा के भेद से भी परमात्मा के दो भेद जिनागम में कहे गये हैं। परमात्मा की प्रथम सकल परमात्मरूप अर्हंत अवस्था कारणपरमात्मा और निकलपरमात्मा सिद्धावस्था कार्यपरमात्मा हैं

इस प्रकार विकासक्रम की अपेक्षा आत्मस्वरूप को जानकर निष्ठापूर्वक अपनी आत्मा के विकारी भावों को दूर कर आत्मा की शुद्धदशा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

3.3 अजीवतत्त्व–

आत्मा को विकृत करने में, विभावरूप परिणमन कराने में अजीवतत्त्व ही निमित्त है। अजीव से ही आत्मा बंधती है और यही आत्मा की परतन्त्रता का कारण है। पूर्वोक्त छहद्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पांच की अजीवतत्त्व के अन्तर्गत परिगणना की जाती है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो आत्मा का इष्ट अनिष्ट करते नहीं है पुद्गलद्रव्य ही आत्मा के बन्ध का कारण है। इसी से शरीर, मन, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास और वचन आदि का निर्माण होता है। अतएव पुद्गल की प्रकृति का परिज्ञान आवश्यक है। जीवन की आसक्ति का प्रमुख केन्द्र यही है। इसके यथार्थ उपयोग से ही आत्मा का विकास किया जा सकता है।

आत्मा और अनात्मा दोनों द्रव्य हैं। दोनों अनन्तगुण–पर्यायों से अविच्छिन्न समुदाय हैं। वस्तुतः शरीर और चेतन का अनादिप्रवाही सम्बन्ध। चेतन और अचेतन अथवा आत्मा–अनात्मा या जीव पुद्गल चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं अतः वे सर्वदा एक नहीं हो सकते। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं हो सकता है। अतएव शरीर और आत्मा के सम्बन्ध का परिज्ञान और उसकी अनुभूति प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जीव के लिए आत्म और अनात्म दोनों ही तत्त्व हैं, क्योंकि जीव और पुद्गल का बन्ध अनादि से है और यह बन्ध जीव के अपने राग–द्वेष आदि के कारण उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं तब यह बन्ध आत्मा में नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और शनैः शनैः या एक साथ ही समाप्त हो जाता है। इन सात तत्त्वों में जीव और अजीव ही प्रधान तत्त्व है शेष पांच तत्त्व तो जीव–अजीव के संयोग–वियोग के कारण होते हैं। आस्रव और बन्ध तत्त्व संसार के तथा संवर निर्जरा मुक्ति के कारण हैं। मोक्ष तत्त्व जीव और अजीव के वियोग हो जाने का नाम है।

3.4 आस्रवतत्त्व–

जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन–वचन और काय से जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है वह जीव का भावास्रव है और उसके निमित्त से विशेष प्रकार की अचेतन पुद्गलवर्गणाएं आकर्षित होकर उसके (आत्म) प्रदेशों में प्रवेश करती हैं सो द्रव्यास्रव है। अथवा

पुण्य–पापरूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भर जाता

है वैसे ही मिथ्यादर्शनादि स्रोतों से आत्मा में कर्म आते हैं। साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव के भेद से आस्रव के दो भेद हैं। अथवा द्रव्यास्रव और भावास्रवरूप भी दो भेद हैं।

3.4.1 साम्परायिक आस्रव–कर्मों के द्वारा चारों ओर से स्वरूप का अभिभव होना साम्पराय है इसका दूसरा नाम संसार भी है। इस साम्पराय के लिए जो आस्रव होता है वह साम्परायिक आस्रव है। मिथ्यात्व गुणस्थान से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक कषाय का चेप रहने से योग के द्वारा आये हुए कर्म गीले चमड़े पर धूल के समान चिपक जाते हैं अर्थात् उनमें स्थितिबन्ध हो जाता है। यही साम्परायिक आस्रव है।

3.4.2 ईर्यापथ आस्रव–जिनकर्मों का आस्रव होता है, किन्तु बन्ध नहीं होता वे ईर्यापथकर्म हैं, ऐसे कर्मों का आस्रव ईर्यापथ आस्रव है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के योग से आगे हुए कर्म कषायों का चेप न होने से सूखी दीवार पर पड़े हुए पत्थर के समान झड़ जाते हैं बंधते नहीं हैं। बन्ध को प्राप्त कर्म परमाणु द्वितीय क्षण में ही सामस्त्य भाव से निर्जरा को प्राप्त होते हैं अतः यह ईर्यापथ आस्रव कहलाता है।

3.4.3 द्रव्यास्रव–भावास्रव–अपने–अपने निमित्तरूप योग को प्राप्त करके आत्मप्रदेशों में स्थित पुद्गलकर्म भावरूप से परिणमित हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसे द्रव्यास्रव कहते हैं और वह अनेक भेदों वाला है।

आत्मा के जिस परिणाम से पुद्गलद्रव्य कर्मपने को प्राप्त कर आत्मा में आता है उस शुभ या अशुभ परिणाम को भावास्रव कहते हैं।

3.5 बन्धतत्त्व–

दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहा जाता है। बन्ध द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। आत्मा के जिन राग–द्वेष मोहादि विकारी भावों से कर्मबन्ध होता है वे भाव तो भावबन्ध हैं तथा कर्म–पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है। आत्मा और कर्मपुद्गलों का दूध–पानी के समान एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है।

जिस प्रकार लोहा अग्नि से तपाया जाने पर तप्त हो जाता है और पानी में छोड़ देने पर वह चारों ओर से पानी को अपनी ओर खींचता है उसी प्रकार आत्मा अपनी संसारी अवस्था में कर्मों को खींचता है और इस प्रकार आत्मा व कर्मों का एकक्षेत्रावगाह हो जाना ही बन्ध है। बन्ध अवस्था में न तो आत्मा ही शुद्ध रहता है और न ही कर्म पुद्गल अपनी शुद्ध अवस्था में रहता है। जिस प्रकार दूध और पानी की मिश्रित अवस्था में न पानी यथार्थ है और न दूध ही यथार्थ है बल्कि दूध और पानी मिलकर एक तृतीय अवस्था हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा की बन्ध अवस्था को भी जानना चाहिए। कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग ये पांच कारण बताए गये हैं।

3.6 संवरतत्त्व–

आस्रव का निरोध संवर है। जिस प्रकार नाव के छिद्र रुक जाने से उसमें जल प्रवेश नहीं करता, इसी प्रकार मिथ्यात्वादि का अभाव हो जाने पर जीव में कर्मों का संवर होता है अर्थात् नवीनकर्मों का आस्रव नहीं होता। जिस नगर के द्वार अच्छी तरह बन्द हों, वह नगर शत्रुओं के अगम्य है उसी प्रकार गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवृत कर लिये हैं इन्द्रिय, कषाय व योग जिसने ऐसी आत्मा के नवीन कर्मों के द्वार का रूक जाना संवर है।

द्रव्यसंवर और भावसंवर के भेद से संवरतत्त्व दो प्रकार का है।

आत्मा में नवीनकर्मों का आगमन नहीं होना द्रव्यसंवर है तथा आत्मा के जिन भावों से नवीन कर्मों का आगमन होता है उनका निरोध भावसंवर है।

3.7 निर्जरातत्त्व–

पूर्वबद्ध कर्मों का झड़ना निर्जरा है। निर्जरा में कर्मों का एकदेश क्षय होता है। निर्जरा के दो भेद हैं–1. भावनिर्जरा, 2. द्रव्यनिर्जरा। अथवा सकाम निर्जरा, अकामनिर्जरा या सविपाक, अविपाकनिर्जरारूप दो भेद हैं।

जीव के जिन शुद्ध परिणामों से पुद्गल कर्म झड़ते हैं वे जीव के परिणाम भावनिर्जरा है। और कर्मों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है।

क्रम से अपने समय को पाकर स्वयं कर्मों का उदय में आ–आकर झड़ते रहना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा प्रत्येक प्राणी के प्रतिक्षण होती रहती है, इसमें पुराने कर्म निर्जीण होते रहते हैं तथा नवीन कर्म बंधते रहते हैं। अतः मोक्षमार्ग में इसका कोई महत्त्व नहीं है, किन्तु गुप्ति, समिति और तपरूपी अग्नि से कर्मों को फल देने के पहले ही भस्म कर देना है लक्षण जिसका ऐसी अविपाकनिर्जरा ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, क्योंकि यह निर्जरा संवर पूर्वक होती है। यहां यह ध्यातव्य है कि सम्यक् तप से होने वाली निर्जरा ही संवरपूर्वक होती है। असमीचीन कुतप से तो शरीर अवश्य क्षीण होता है, किन्तु कर्मबन्धन तो दृढ़ होते चले जाते हैं। अतः सुतप पूर्वक कर्मनिर्जरा ही महत्वशाली है।

3.8 मोक्षतत्त्व–

कर्म–बन्धनों से पूर्ण रूपेण छूट जाना अथवा कर्मों का आत्मा से सर्वथा विगलन हो जाना मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त होने पर आस्रव बन्ध के कारणभूत राग–द्वेष मोह कषायादि से होने वाली आत्मा की विभाव परिणति का नाश होकर आत्मा अपने परमशुद्ध चैतन्य स्वभाव में स्थित हो जाता है। मोक्ष में आत्मा जब शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो आत्मा से बद्ध कर्मों का जो विगलन हुआ वे पुद्गल परमाणु भी मुक्त हो जाते हैं अर्थात् अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। जीव और पुद्गल दोनों ही द्रव्य अपने निजस्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं।

मोक्ष के दो भेद हैं–1. भावमोक्ष 2. द्रव्यमोक्ष।

कर्मों के निर्मूल करने में समर्थ क्षायिकज्ञान–दर्शन व यथाख्यातचारित्र (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं उन परिणामों को मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं तथा सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

3.9 नवपदार्थ–

मुमुक्षु जीव के लिए प्रयोजनभूत जिन सप्त तत्त्वों का स्वरूप ऊपर बताया गया है उनमें पुण्य–पाप इन दो को मिला देने से नौ पदार्थ होते हैं तथा यदि पुण्य व पाप को आस्रवतत्त्व में अन्तर्भूत किया जावे तो सात तत्त्व ही होते हैं। पुण्य व पाप का स्वरूप निम्न प्रकार है–

पुण्य–''पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्'' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है। दान–पूजा षडावश्यकादिरूप जीव के शुभ–परिणाम तो भावपुण्य तथा भावपुण्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले सातावेदनीयादि शुभप्रकृतिरूप पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड द्रव्यपुण्य है।

यद्यपि सामान्य कथन की अपेक्षा पाप और पुण्य में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि दोनों ही संसार के कारण है अतः हेय हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सर्वथा संसार का ही कारण हो और पापरूप ही हो। मुमक्षु जीवों को निचली अवस्था में पुण्य प्रवृत्ति होती अवश्य है, किन्तु निदान रहित होने के कारण उना पुण्य पुण्यानुबन्धी है, जो कि परम्परा से मोक्ष का कारण है। लौकिक जीवों का पुण्य निदान व तृष्णा सहित होने के कारण पापानुबन्धी है तथा संसार में डुबाने वाला है। ऐसे पुण्य का त्याग ही परमार्थ से योग्य है।

जैसे इस जगत् में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज धान्यकाल में विपरीत रूप से फलित होते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु भेद से विपरीतरूप से फलता है। सर्वज्ञ द्वारा स्थापित (कथित) वस्तुओं में संयुक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। अर्थात् पुण्य दो प्रकार का है–एक सम्यग्दृष्टि का और दूसरा मिथ्यादृष्टि का। सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है और मिथ्यादृष्टि का पुण्य केवल स्वर्गसम्पदा का कारण। सम्यग्दृष्टि का पुण्य तीर्थंकर प्रकृति आदि के बन्ध का कारण होने से विशिष्ट प्रकार का है। जैसे तीर्थंकरों का पुण्य या भरत, सगर, राम व पाण्डवादि का पुण्य, जिसको प्राप्त करके भी वे मद, अहंकारादि विकल्पों के त्यागपूर्वक मोक्ष को प्राप्त हो गये। मिथ्यादृष्टि का पुण्य निदानसहित व भोगमूलक होने के कारण आगे जाकर कुगति का कारण होता है अतः अत्यन्त अनिष्ट है, क्योंकि निदानबन्ध से उत्पन्न हुए पुण्य से भवान्तर में राज्यादि विभूति की प्राप्ति करके मिथ्यादृष्टि जीव भोगों का त्याग करने में समर्थ नहीं हो सकने से उनमें आसक्त हो जाता है। अतः उस पुण्य से वह रावण आदि की भाँति नरकादि दुःखों को प्राप्त करता है।

आगम में भोगमूलक पुण्य का निषेध किया है, योगमूलक पुण्य का नहीं, क्योंकि योगमूलक पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है। यद्यपि दान–पूजा, व्रत, तप आदि व्यवहारधर्म पुण्य प्रधान अवश्य है, किन्तु निश्चयधर्म की ओर झुकाव होने से वह पुण्यप्रधान व्यवहारधर्म भी परम्परा से निर्जरा व मोक्ष का कारण है। व्यवहारपूर्वक ही निश्चयधर्म होता है अतः व्यवहारधर्मरूप व्रत, दान, पूजा, तप आदि पुण्य प्रसाधक होने से एकान्ततः त्याज्य ही नहीं है निचली अवस्था में मुमुक्षु जीव के लिए उपादेय हैं और सम्यक्त्व सहित की जाने वाली उन क्रियाओं से उत्पन्न होने वाला पुण्य परम्परा से मुक्ति का कारण होने से उपादेय है।

पाप–'पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्' अर्थात् जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है। जैसे–असातावेदनीय आदि। हिंसा, झूठ, चोरी आदिरूप अशुभ–असत् परिणाम भाव पाप हैं और भाव पाप के कारण उत्पन्न होने वाले असातावेदनीयादि अशुभरूप पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड द्रव्यपाप है। भगवान कुन्द–कुन्दाचार्यदेव के शब्दों में–

असावधानी या प्रमादपूर्वक सोचना, बोलना और कार्य करना मन में मैल रखना और भोग–उपभोग के पदार्थों में अत्यन्त लीन होना, दूसरे को कष्ट देना तथा बदनामी करना पाप के आस्रव करते हैं। आहारादि संज्ञाएं, कृष्णादि लेश्याएं, इन्द्रियों के वश में होना, बात–बात में आर्त (भीत–निराशा होना) और रौद्र (क्रोध, बदला आदि के भाव करना) होना, ज्ञान का दुरुपयोग करना तथा मोह के नशे में झूमना ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। अतः जितने भी काल तक इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का निग्रह करके शुभ या स्वभाव में रहा जाये उतनी देर के लिए पापों के आने का द्वार बन्द हो जाता है।

पुण्य–पाप के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शुभ परिणामों से किये गये कार्य पुण्य और अशुभ परिणामों से किये गये कार्य पाप हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, आदि कायिक पुण्य और सत्य, हित–मित वचन वाचनिक पुण्य हैं। अर्हदभक्ति, तप में रुचिरूप परिणाम, शास्त्र स्वाध्याय आदि मानसिक (भाव) पुण्य है। तथैव हिंसा, अपहरण करना, मैथुन आदि कायिक पाप हैं, भ्रामक, कठोर–असत्य शब्द वाचनिक पाप हैं तथा हिंसा के परिणाम, ईर्ष्यारूप परिणाम मानसिक पाप हैं। इनके अतिरिक्त भी आर्षवाणी में पुण्य–पाप के आस्रव के अनेकों कारण बताये गये हैं जिनसे पुण्य–पाप प्रकृतियों का आस्रव होता है। सबसे बड़ा पाप तो मिथ्यात्व है जिसके कारण अनादि से संसार परिभ्रमण चल रहा है।

3.10 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ-

प्रश्न 1-तत्व कितने होते है ?

(क) नौ ☐
(ख) सात ☐
(ग) आठ ☐

प्रश्न 1-पुण्य और पाप क्या हैं ?

(क) तत्व ☐
(ख) पंचास्तिकाय ☐
(ग) पदार्थ ☐

प्रश्न 1-जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह ..... है।

(क) पाप ☐
(ख) पुण्य ☐
(ग) आत्मा ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-तत्व किसे कहते हैं ? ये कितने होते हैं ? नाम बताइए।

प्रश्न 2-आत्मा को कितने भेदों में विभाजित किया गया है ? नाम भी बताइए।

प्रश्न 3-पदार्थ कितने होते हैं ? पुण्य और पाप की परिभाषा दीजिए।

प्रश्न 4- साम्परायिक आस्रव से आप क्या समझते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-सातों तत्वों को संक्षिप्त रूप में परिभाषित कीजिए।

पाठ-4 – जैनदर्शन में गुणस्थान एवं लेश्या

4.1 विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन का स्थान सर्वोपरि है। जैनदर्शन अद्भुत, अनन्य और अपराजित दर्शन है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में जितने भी आस्तिकवादी दर्शन हैं, वे पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं और इसी कारण उन्होंने आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार किया है, तथापि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में सभी दर्शनों की मान्यताएँ भिन्न–भिन्न हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीयदर्शनों के अन्तर्गत सर्वोत्कृष्ट अनादि–अनन्त जैनदर्शन की भी आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी मान्यता अपने आप में एक विशिष्ट मान्यता है। जैनदर्शन के अपने मौलिक सिद्धान्त हैं और उन सभी के सम्बन्ध में इस दर्शन ने गम्भीर चिन्तन किया है। आत्मा से परमात्मा बनने में जो आत्मा का क्रमिक विकास होता है उसे जैनदर्शन में गुणस्थान नाम से अभिहित किया गया है। आत्मा के क्रमिक विकास का वर्णन वैदिक और बौद्ध धर्मों में भी उपलब्ध है। वैदिक दर्शन में योगवाशिष्ठ और पातञ्जलि योग में भूमिकाओं तथा बौद्धदर्शन में अवस्थाओं के नाम से इसका अत्यन्त स्थूल वर्णन मिलता है, किन्तु जैसा जैनदर्शन में गुणस्थान का विस्तार सूक्ष्म, स्पष्ट व विस्तृतरूप से किया गया है वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है।

4.2 गुणस्थान विवेचन–

गुणों अर्थात् आत्मशक्तियों के स्थानों–विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। मोहनीयकर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम तथा योग के रहते हुए जिन मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा जीवों का विभाग किया जावे वे परिणाम विशेष गुणस्थान कहलाते हैं। यथा ज्वराक्रान्त रोगी का तापमान थर्मामीटर (ज्वरमापक यंत्र) द्वारा मापा जाता है, तथैव आत्मा का आध्यात्मिक विकास या पतन जानने के लिए गुणस्थान एक प्रकार से थर्मामीटर है।

अनादिकाल से यह जीव अज्ञान के वशीभूत होकर विषय और कषाय में प्रवृत्ति करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहा है। आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान के अभाव में भव–बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर भी वह सफलता प्राप्त नहीं कर सका। आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होने का प्रमुख कारण यह रहा कि इस जीव की दृष्टि अनादि काल से ही विपरीत रही और आत्मा से भिन्न पर पदार्थों में अपनत्वबुद्धि–आत्मबुद्धि करते हुए उन्हीं की प्राप्ति और उनके संरक्षण में अहर्निश प्रयत्नशील रहा, किन्तु इच्छानुसार उनकी प्राप्ति नहीं हो सकने से आकुल–व्याकुल होता रहा है। इस विपरीत दृष्टि वाले जीव को ग्रंथकारों ने बहिरात्मा कहा है। बहिरात्मा अपनी विपरीत–मिथ्यादृष्टि को छोड़कर यथार्थ–सम्यग्दृष्टि वाला अन्तरात्मा होकर किस प्रकार आत्मविकास करते हुए परमात्मा बन जाता है, उसके क्रमिक विकास के सोपान ही तो गुणस्थान कहे जाते हैं। अथवा यों कहें कि मोह और मन–वचन–कायरूप योग की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार–चढ़ाव का नाम गुणस्थान है।

परिणाम यद्यपि अनन्त हैं, किन्तु उत्कृष्ट मलिन–अशुद्ध परिणामों से उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उससे आगे वीतराग परिणाम तक की अनन्त वृद्धियों के क्रम को कहने के लिए उनको 14 श्रेणियों में विभाजित किया गया है, वे ही चौदह गुणस्थान कहे जाते हैं।

4.3 चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं–

1. मिथ्यादृष्टि 2. सासादन सम्यग्दृष्टि 3. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) 4. अविरत–सम्यग्दृष्टि 5. देशसंयत 6. प्रमत्तसंयत 7. अप्रमत्तसंयत 8. अपूर्वकरणसंयत 9. अनिवृत्तिकरणसंयत 10. सूक्ष्मसाम्परायसंयत 11. उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थसंयत 12. क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थसंयत 13. सयोगकेवली और 14. अयोगकेवलीगुणस्थान।

शंका–परिणाम तो अनन्त प्रकार के हैं अतः जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं कहे हैं ?

समाधान–नहीं, क्योंकि जितने परिणाम होते हैं उतने ही गुणस्थान यदि माने जावें तो (समझने, समझाने या कहने का) व्यवहार नहीं चल सकता अतः द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नियत संख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं।

4.3.1 मिथ्यादृष्टिगुणस्थान–

दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से अतत्व श्रद्धानरूप परिणाम रहता है इसी कारण जब तक जीव को आत्मस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता तब तक मिथ्यादृष्टि कहलाता है। अनादिकाल से संसार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथमगुणस्थान की भूमिका में रह रहे हैं। एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक मिथ्यात्वरूप परिणामों के कारण यह जीव इस पर्याय में तो दुःखी रहता ही है, किन्तु नवीन कर्मबन्ध करके आगामी पर्यायों में भी दुःखी रहने के कारण सामग्री संचित करता रहता है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से यह जीव शरीर की उत्पत्ति को ही आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के नाश को ही आत्मा का नाश मानता है। पुण्य–पाप के निमित्त से होने वाली इन्द्रिय जनित सुख–दुःख की सामग्री के संयोग–वियोग में हर्ष–विषादरूप परिणामों के द्वारा आकुल–व्याकुल होता रहता है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में जीव को 'स्व' और 'पर' का भेदज्ञान नहीं रहता, न तत्त्व का श्रद्धान होता और न आप्त, आगम और निर्ग्रंथ गुरु पर श्रद्धान ही होता है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। मिथ्यात्वरूप अवस्था में ही जो रच–पच रहा है वह स्वस्थान मिथ्यादृष्टि है। सद्गुरु के उपदेश से आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर कषायों की मन्दता तथा आत्मपरिणामों की विशुद्धि बढ़ती है तब उस आत्मविशुद्धि के कारण इस जीव के अनादि कालीन बन्ध को प्राप्त कर्मों का मन्द उदय तथा नवीनकर्मों का बन्ध हलका होने लगता है। उस समय में यह जीव करणलब्धि के प्राप्त होने पर अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में आत्मविशुद्धि करता हुआ सम्यक्त्वाभिमुख होता है यही सातिशय मिथ्यात्वावस्था है। सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव अपनी विशुद्धता के द्वारा नवीन बध्यमान कर्मों की स्थिति को अन्तःकोड़ाकोड़ीसागर से अधिक नहीं बांधता और सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति को उससे संख्यात हजारसागर कम करता है। इसी विशुद्धि के द्वारा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात का उपशम करके सम्यग्दृष्टि होता हुआ चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान आत्मविकास की प्रारम्भिक अवस्था है। यद्यपि यह गुणस्थान आत्मा के ह्रास की अवस्था का द्योतक है, तथापि आत्मा की उन्नतावस्था का प्रारंभ यहीं से होता है।

4.3.2 सासादन सम्यग्दृष्टिगुणस्थान–

सासादन का अर्थ है सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की विराधना। जिस आत्मा ने मिथ्यात्व का क्षय तो नहीं किया है, किन्तु मिथ्यात्व को उपशान्त करके सम्यक्त्वावस्था प्राप्त की थी उस आत्मा के मिथ्यात्व के साथ उपशमित शेष 6 प्रकृतियों में अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ में से किसी एक कषाय के उदय से सम्यक्त्वरूप पर्वत से नीचे गिरने पर और मिथ्यात्वभूमि को प्राप्त नहीं होने से पूर्व की जो अवस्था है वह सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान की अवस्था है। इस गुणस्थान में जीव 1 समय से लेकर 6 आवलिकाल तक अधिक से अधिक रहता है। तत्पश्चात् नियम से वह मिथ्यादृष्टिगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। काल का सबसे सूक्ष्म अंश समय कहलाता है ऐसे असंख्यात समयों की एक आवली होती है। छह आवली प्रमाण काल एक मिनट से भी बहुत छोटा होता है।

शंका–सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से मिथ्यादृष्टि भी नहीं है, समीचीन तत्त्वरुचि का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है तथा समीचीन और असीमचीनरूप उभय तत्त्वरुचि (सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचि) का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि नहीं है, क्योंकि समीचीन, असमीचीन तथा उभयरूप दृष्टि के आलम्बनभूत वस्तु के अलावा अन्य कोई वस्तु नहीं पायी जाती है अतः सासादन गुणस्थान असत् सिद्ध होता है।

समाधान–नहीं, क्योंकि इस गुणस्थान में विपरीताभिनेवश पाया जाता है अतः उसे असद्दृष्टि ही मानना चाहिए।

शंका–तो फिर इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिए, सासादन कहना उचित नहीं है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और चारित्र का प्रतिबन्ध करने वाली अनन्तानुबन्धीकषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश सासादन गुणस्थान में पाया जाता है अतः इस गुणस्थानवर्ती जीव असद्दृष्टि तो है, किन्तु मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेष वहां नहीं पाया जाता अतः उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं। केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं। अथवा जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीयगुणस्थान में जो विपरीताभिनिवेश होता है वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीय का भेद न होकर चारित्र का आचरण करने वाली होने से चारित्रमोहनीय का भेद है। अतः इस गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है।

शंका–सासादनगुणस्थान विपरीत अभिप्राय से दूषित है अतः सम्यग्दृष्टि व्यपदेश कैसे बन सकता है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि वह पहले सम्यग्दृष्टि था इसलिए भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि व्यपदेश बन जाता है। बात यह है कि उपशम सम्यक्त्व का काल जब कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण शेष रह जाता है तब अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय में से किसी एक का उदय होने से सासादन गुणस्थान होता है अतः सम्यक्त्व के काल में यह गुणस्थान सम्यक्त्व से च्युत होते हुए बनता है अतः सम्यग्दृष्टि व्यपदेश बन जाता है।

4.3.3 सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान–

उपशम सम्यग्दर्शन के काल में ही यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो चतुर्थगुणस्थान से च्युत आत्मा तृतीयगुणस्थान को प्राप्त हो जाती है। अतः यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान सम्यक्त्व से गिरते हुए ही बनते हैं चढ़ने की अपेक्षा से नहीं। हाँ ! सादिमिथ्यादृष्टि जीव चढ़ते हुए भी सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से मिश्रगुणस्थान को प्राप्त करता है। चढ़ने वाले जीव के परिणाम विशुद्ध हैं और उतरने वाले जीव के परिणाम निष्कृष्ट हैं यही सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय की समानता होते हुए भी दोनों में अन्तर है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही रहते और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप ही रहते, किन्तु उभयात्मक होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड़ का स्वाद खट्टा–मीठा मिश्रितरूप होता है उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम सम्यक्त्व–मिथ्यात्व की मिश्रितावस्था के कारण सम्यग्मिथ्यात्वरूप होते हैं। यद्यपि मिथ्यात्वगुणस्थान की अपेक्षा यह गुणस्थान ऊँचा है तथापि मिश्रपरिणामों के कारण यथार्थ प्रतीति नहीं रहती है। इस गुणस्थान का काल अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान वाला जीव सम्यक्त्व प्रकृति का यदि उदय आ जावे तो चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है और नहीं तो नीचे के गुणस्थानों में उसका पतन अवश्यंभावी है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि नीचे गिरता है तो सीधा मिथ्यात्वोदय से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को ही प्राप्त होता है। अर्थात् तृतीयगुणस्थानवर्ती जीव प्रथम और चतुर्थगुणस्थान को ही प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में मरण नहीं होता है।

शंका–संशय व वैनयिक मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है ?

समाधान–वैनयिक व संशयमिथ्यादृष्टि तो सभी देवों में तथा सभी शास्त्रों में से किसी एक की भी भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा ऐसा मानकर संशयरूप से भक्ति करता है उसको किसी एक देव या शास्त्र में निश्चय नहीं है, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि को दोनों में ही निश्चय है। यही अन्तर है।

4.3.4 असंयतसम्यग्दृष्टि–

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों से विरत नहीं है और न त्रस–स्थावर जीवों के घात से ही विरक्त हैं, किन्तु केवल जिनेन्द्रकथित तत्त्व का श्रद्धान करता है वह असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती जीव है। इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की

तीन और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सप्तप्रकृतियों के उपशम से औपशमिक, क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह सर्वघाति प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्वरूप देशघातिप्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है जिससे तत्त्वश्रद्धान तो उत्पन्न होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय रहने से संयमभाव जागृत नहीं होते अतः इसे असंयत या अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

असंयतसम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त नहीं होता, तथापि इन्द्रिय विषयों को अन्यायपूर्वक नहीं भोगता। इसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यभाव प्रकट होते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव की बाहरी क्रियाओं में और मिथ्यादृष्टि की बाह्य क्रियाओं में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई देता, किन्तु दोनों की अन्तरंग परिणति में बहुत बड़ा अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि की परिणति सदैव मलीन और आर्त–रौद्र–ध्यानरूप होती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि की परिणति प्रशस्त, विशुद्ध और धर्मध्यानमय होती है। अन्याय और अनीति पूर्वक व्यापार आदि कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करता है तथा विषयभोगों में मिथ्यादृष्टि के समान तीव्राशक्ति से युक्त न होता हुआ उनमें अनासक्त रहते हुए उनका सेवन करता है। इससे अतिरिक्त सम्यक्त्व की भूमिका योग्य वह जो कुछ भी आचरण करता है उसे आचार्यों ने सम्यक्त्वाचरण नाम दिया है। शुद्धोपयोग के अंश की प्रकटता या स्वानुभूति, स्वरूपाचरणचारित्र आदि की प्राप्तिरूप ऐसी कोई बात वहां उपलब्ध नहीं होती। हाँ ! दृष्टि की समीचीनता हो जाने से वह आत्म–अनात्मा के भेदज्ञान (विवेक) से सम्पन्न अवश्य होता हैं

इस प्रकार प्रारम्भ के चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय की अपेक्षा से कहे गये हैं तथा सासादनगुणस्थान सम्यक्त्वकाल में अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक के उदय की अपेक्षा बनता है। मिथ्यात्व के उदय में प्रथम, अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीय और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में तृतीय गुणस्थान बनता है जबकि उक्त सप्तप्रकृतियों के क्षय या उपशम अथवा यथासम्भव क्षयोपशम से चतुर्थ गुणस्थान बनता है।

4.3.5 देशसंयतगुणस्थान–

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय के क्षयोपशम से जिस गुणस्थान में एकदेशरूप चारित्र प्रकट होता है वह गुणस्थान देशसंयतगुणस्थान कहलाता है। संयतासंयत या देशविरत इसी के नामान्तर हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव हिंसादि पांच पापों का एकदेशरूप से त्याग करता है। चतुर्थगुणस्थान में श्रद्धा और विवेक की उपलब्धि होने पर जब उसके मन में यह विचार उठता है कि मैं जिन भोगों को भोग रहा हूँ वे कर्मबन्ध के कारण हैं, विनश्वर हैं तथा अन्त में दुःखों को देने वाले हैं तो देशसंयम की प्रतिबन्धक कषाय का क्षयोपशम होते ही वह हिंसा–झूठ–चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पांच पापों का स्थूल रूप से त्याग करता है। संकल्पपूर्वक त्रसहिंसा के त्याग से अहिंसाणुव्रत राज्यविरुद्ध, समाज विरुद्ध, देशविरुद्ध, धर्मविरुद्ध असत्य भाषण का त्याग कर सत्याणुव्रत, राजकीय दण्ड प्राप्त कराने में कारणभूत चोरी का परित्याग कर अचौर्याणुव्रत, अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्री मात्र को अपनी माता–बहिन और बेटी दृष्टि से देखते हुए उन पर बुरी भावना से दृष्टिपात करने का त्याग करके ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा आवश्यकताओं को सीमित रखते हुए अनावश्यक परिग्रह संचय का परित्याग करके परिग्रह परिमाणाणुव्रत को धारण करता है। इन पाँचों अणुव्रतों की अभिवृद्धि एवं रक्षा के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलों का भी परिपालन करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम अथवा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की तरतमता के कारण देशसंयत भावों के दर्शन, व्रत, सामायिकादि प्रतिमारूप एकादश सोपान होते हैं जिनपर आरोहण कर आत्मविकास

की पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। इस गुणस्थान से चारित्रिक विकास का प्रारम्भ होता है तथा पूर्ण संयम को प्राप्त करने का अभ्यास भी यहीं किया जाता है।

4..3.6 प्रमत्तसंयत गुणस्थान–

प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम और संज्वलनकषाय का तीव्र उदय रहने पर प्रमाद सहित संयम का होना प्रमत्तसंयत गुणस्थान है। इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो जाने के कारण हिंसादि पांच पापों का सर्वदेशरूप त्याग होने से महाव्रती हो जाता है, किन्तु संज्वलन कषाय का तीव्र उदय रहने से प्रमाद विद्यमान रहता है अतः इस गुणस्थानवर्ती जीव को प्रमत्तसंयत कहते हैं।

गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी जब यह जीव अनुभव करता है कि इस कुटुम्ब के निमित्त या धनोपार्जन आदि में अत्यन्त सावधानी रहते हुए भी मेरी आत्मिक शान्ति में बाधा ही है और हिंसादि पापों से पूर्णतया आत्मा अलिप्त नहीं है तो वह परिजनों से ममत्त्व हटाकर उनसे अपना सम्बन्ध तोड़कर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उत्तरोत्तर मन्दोदय होने से आचार्यपरमेष्ठी के पादमूल में उपस्थित होता है और मुनि दीक्षा के लिए प्रार्थना करता है, आचार्यदेव उसकी योग्यता की परीक्षा कर उसे आज्ञा प्रदान करते हैं तब वह उक्त कषाय के उसी मन्द उदयकाल में केशलोंच करके वस्त्रादि बाह्यपरिग्रह का परित्याग कर अहिंसादि पांच महाव्रतों को तथा उसके परिकर स्वरूप पांच समिति पंचेन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक और शेष केशलोंचादि 7 गुण इस प्रकार 28 मूलगुणों को धारण कर दिगम्बर मुनि अवस्था को प्राप्त होता है उस समय उसे सीधा सप्तमगुणस्थान होता है, किन्तु संज्वलन कषाय का तीव्र उदय होने से सातवें अप्रमत्तगुणस्थान से गिरकर प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। प्रथम, चतुर्थ या पंचम–गुणस्थान से मुनिदीक्षा धारण करने वाला जीव सीधा सप्तमगुणस्थान को ही प्राप्त होता है आरोहण की अपेक्षा छठे गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता गिरने की अपेक्षा ही छठा गुणस्थान होता है। इस प्रकार सातवें से छठे और छठे से सातवें गुणस्थान में सहस्रों बार आवागमन होता है। यह आरोहण–अवरोहण परिणामों की विचित्रता वश ही होता है। यद्यपि 28 मूल गुणों का निर्दोष पालन करता है तथापि क्रोध–मान–माया व लोभ रूप चार कषाय, स्त्री कथा–राजकथा भोजनकथा–देशकथा रूप चार विकथा, पंचेन्द्रिय विषयों की ओर झुकाव, स्नेह और निद्रा इन पंद्रह प्रमादों के कारण महाव्रतों के परिपालन में किंचित् दोष लगते हैं। साधु सदा आत्मचिन्तन में निरत नहीं रह सकता, उक्त 15 प्रमादों में से किसी न किसी प्रमाद की ओर किंचित् समय के लिए प्रवृत्ति हो जाती है अतः अप्रमत्तावस्था से गिरकर प्रमत्तदशा को प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थान का काल सामान्यतः अन्तर्मुहूर्त ही है।

4.3.7 अप्रमत्तसंयत गुणस्थान–

संज्वलन क्रोध, मान, माया व लोभ का उदय मन्द पड़ जाने पर जब प्रमाद का अभाव हो जाता है तब अप्रमत्तसंयत गुणस्थान प्रकट होता है। अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साधु की सावधान दशा ही सप्तम गुणस्थान है। जितनी देर आत्मचिन्तन में जागरूक रहता है उतनी देर अप्रमत्त होने से सप्तमगुणस्थान की भूमिका में स्थित होता है और ज्यों ही प्रमादरूप परिणति प्रकट होती है त्यों ही वह छठे गुणस्थान में आ जाता है। इस गुणस्थान का काल भी सामान्यतः अन्तर्मुहूर्त ही है तथापि वह छठे गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त से आधा काल है। इस गुणस्थान के दो भेद हैं–स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। सातवें से छठे और छठे से सातवें गुणस्थान में आना स्वस्थान अप्रमत्त दशा है और जो आगे श्रेणी चढ़ने का उपक्रम कर रहा है अर्थात् श्रेणी के सम्मुख जो अप्रमत्तसंयत जीव है वह सातिशय अप्रमत्त है। उपशम और क्षपक की अपेक्षा श्रेणी दो प्रकार की है। चारित्रमोह का उपशम जिसके फलस्वरूप होता है उसे उपशम श्रेणी, चारित्रमोह का क्षय जिसके फलस्वरूप होता है वह क्षपक श्रेणी है। क्षपक श्रेणी का का आरोहण क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही करता है, किन्तु उपशम श्रेणी का आरोहण द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि दोनों ही करते हैं।

सप्तम गुणस्थान की सातिशय अप्रमत्तावस्था में चारित्रमोह की उपशामना या क्षपणा के लिए होने वाले अधःकरण रूप परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान में नाना जीवों की अपेक्षा सम समयवर्ती और विषमसमयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और असमानता दोनों ही पाई जाती हैं। यहाँ पाये जाने वाले परिणामों के निमित्त से सातिशय अप्रमत्तसंयत चारित्रमोह के उपशम या क्षपण के लिए उद्यत होता हुआ आगे के गुणस्थानों में प्रवेश करता है। सातिशय अप्रमत्त अवस्था से आत्मा पूर्ण विकास की ओर अग्रसर होने में समर्थ होता है।

वर्तमानकाल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान से और उसमें भी स्वस्थान–अप्रमत्तदशा से ऊपर नहीं चढ़ सकता, क्योंकि ऊपर चढ़ने के योग्य उत्तमसंहननादि के अभाव में श्रेण्यारोहण की पात्रता ही नहीं है, किन्तु जिसकाल में सर्वप्रकार की पात्रता और साधन सामग्री सुलभ होती है उस समय साधु ऊपर के गुणस्थानों में भी चढ़ता है।

आगे के गुणस्थानों का स्वरूप लिखने से पूर्व यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि–आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। आठवां, नौवां, दशवां और ग्यारहवां ये चार गुणस्थान उपशम श्रेणी की अपेक्षा और आठवां, नौवां, दशवां और बारहवां ये चार गुणस्थान क्षपक श्रेणी की अपेक्षा होते हैं। क्षपकश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही आरोहण करते हैं किन्तु उपशम श्रेणी पर तद्भव मोक्षगामी और अतद्भवमोक्षगामी तथा औपशमिक और क्षायिकसम्यग्दृष्टि दोनों ही प्रकार के जीव चढ़ सकते हैं। इतना निश्चित है कि उपशमश्रेणी चढ़ने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशम करता है और उपशमजन्य वीतरागता का अनुभव करके भी कालक्षय या आयुक्षय के निमित्त से नीचे गिरता है। आयुक्षय से गिरने वाला जीव तो मरण हो जाने से देवगति में चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है, किन्तु कालक्षय की अपेक्षा गिरने वाला जीव क्रम से गिरते हुए छठे–सातवें गुणस्थान को भी प्राप्त होता है और यदि वहाँ परिणाम संभल जावें तो आगे पुनः भी बढ़ जाता है, अन्यथा और भी नीचे के गुणस्थानों को प्राप्त कर सकता है। यह कथन अतद्भवमोक्षगामी उपशमसम्यक्त्वसहित उपशम श्रेणी चढ़ने वाले जीव की अपेक्षा से है, किन्तु जो तद्भव मोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे ग्यारहवें गुण स्थान से क्रम से गिरते हुए सातवें गुणस्थान में पहुँचकर भी वहाँ पुनः चारित्रमोह की क्षपण का प्रारम्भ करते हुए आठवें आदि गुणस्थान में पहुँचते हैं। अतः आगे के गुणस्थानों का स्वरूप यथायोग्य दोनों श्रेणियों की अपेक्षा लिखा जावेगा।

4.3.8 अपूर्वकरणसंयत गुणस्थान–

करण का अर्थ अध्यवसाय का परिणाम है। जहाँ प्रतिसमय अपूर्व–अपूर्व अर्थात् नये–नये परिणाम होते हैं उस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। जब कोई सातिशय अप्रमत्तसंयतजीव चारित्रमोह के उपशमन या क्षपण के लिए अधःकरण परिणामों को करके इस गुणस्थान में प्रवेश करता है तब प्रतिक्षण उसके परिणाम अपूर्व–अपूर्व ही होते हैं। यहाँ परिणामों की विशुद्धि का वेग बढ़ता जाता है। यदि अनेक जीव इस गुणस्थान को प्राप्त हो तो उनमें से एकसमयवर्ती जीवों के परिणामों में सादृश्य और वैसादृश्य भी पाया जाता है, किन्तु भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणामों में सादृश्यता होती ही नहीं। इस गुणस्थान में रहते हुए जीव अपने परिणामों की अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा चारित्रमोहनीयकर्म के उपशमन या क्षपण की भूमिका बनाता है। यहाँ यद्यपि चारित्र मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नहीं कर पाता तथापि स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणीनिर्जरा और गुण संक्रमण इन कार्यों को प्रारम्भ करता है जिससे उसकी परिणामविशुद्धि वृद्धिंगत होती है तथा प्रति समय असंख्यात गुणितरूप से कर्मप्रदेशों की निर्जरा करता है।

4.3.9 अनिवृत्तिकरणसंयत गुणस्थान–

आठवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्तकालपर्यंत रहकर तथा अपूर्व–अपूर्व परिणामों के द्वारा आत्मविशुद्धि प्राप्त करते हुए विशिष्ट आत्मशक्ति का संचय करके अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करता है। इस गुणस्थान में एक समय वर्तीजीवों के परिणामों में निवृत्ति अर्थात् विषमता नहीं पायी जाती अतः उन अनिवृत्तिपरिणामों के कारण ही इस गुणस्थान को

अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। इस गुणस्थान में आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता है। उपशमश्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की सूक्ष्म लोभ प्रकृति को छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियों का उपशम कर देता है तथा क्षपकश्रेणी वाला उन्हीं का क्षय कर देता है। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि क्षपकश्रेणी वाला चारित्रमोहनीय कर्म प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की क्षपणा भी करता है।

4.3.10 सूक्ष्मसाम्पाराय गुणस्थान–

इस गुणस्थान में परिणामों को उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा चारित्रमोहनीय कर्म की शेष बची एक सूक्ष्मलोभ प्रकृति रही है वह प्रतिसमय क्षीण–शक्ति होती चली जाती है। उस सूक्ष्मलोभ प्रकृति को उपशमश्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय में उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है तथा क्षपकश्रेणीवाला जीव उसका क्षय करके 10 वें से सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है। जिस प्रकार धुले हुए कसूमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है उसी प्रकार इस गुणस्थान में लोभकषाय परिणाम विशुद्धि के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्मरूप में रहता है अतः इस गुणस्थान को सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि क्षपकश्रेणीवाला सूक्ष्मलोभ की क्षपण के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।

4.3.11 उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ, गुणस्थान–

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ का उपशम होते ही समस्त कषायों का उपशमन होने से यह जीव उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। जिस प्रकार गन्दे जल में कतकफल या फिटकरी आदि डालने पर उस जल का गन्दलापन नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है अथवा शरदकाल में सरोवर का पानी जिस प्रकार निर्मल होता है उसी प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे जीव के परिणामों में एकदम निर्मलता आ जाती है, किन्तु यह निर्मलता ऊपरी सतह के स्वच्छ जल के समान है सत्ता में तो मोहनीयकर्म अभी भी विद्यमान है। चूँकि मोहनीयकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त के लिए ही होता है अतः उस काल के पश्चात् मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का उदय होते ही यह जीव पतनोन्मुख होता हुआ अधस्तनवर्ती गुणस्थानों में चला जाता है। इस गुणस्थान में औपशमिक–यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। कर्ममल के उपशान्त हो जाने से वीतरागता तो प्रगट हुई है, किन्तु ज्ञानावरण–दर्शनावरण विद्यमान होने से अभी छद्मस्थता है। अतः इस गुणस्थान का उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ यह नाम अन्वर्थ है।

4.3.12 क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान–

क्षपकश्रेणीवाला जीव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्त में सूक्ष्मलोभ का क्षय करके सीधे 12 वें क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थगुणस्थान में पहुँचता है। इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का एकत्ववितर्क नामक द्वितीय भेद प्रकट होता है, जिससे वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायरूप तीन घातिया कर्मों का तथा नामकर्म की 13 प्रकृतियों का क्षय करता है मोहनीयकर्म का सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान में क्षय कर ही चुका था अतः चारों घातियाकर्मों के तथा नामकर्म की 13 प्रकृतियों के क्षय से अन्तर्मुहूर्तकाल में ही यह जीव कैवल्यावस्था को प्राप्त कर केवलज्ञानी होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त 12 गुणस्थानों में आदि के चार गुणस्थान दर्शनमोह की प्रधानता से उदय, उपशम या क्षय से तथा शेष आठ गुणस्थान चारित्रमोह की प्रधानता से (उदय, उपशम या क्षय से) होते हैं। आगे के दो गुणस्थान योग के सद्भाव और अभाव में होते हैं। सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का काल है। छद्मस्थ जीव के परम समाधि की स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकती अतः सातवें, आठवें आदि गुणस्थानों का पृथक्–पृथक् काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सभी का सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

4.3.13 सयोगकेवली गुणस्थान–

बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के सद्भाव में जीव अल्पज्ञ कहलाता है अत: वहां तक जीवों की छद्मस्थ संज्ञा है, किन्तु 12 वें गुणस्थान के अन्त में उन कर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव सर्वज्ञ–सर्वदर्शी बन जाता है। उसके केवलज्ञान में विश्व के चराचर समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। यही अरहन्त अवस्था है, केवलज्ञान के साथ अभी योग विद्यमान है अत: इस गुणस्थान को सयोगकेवली कहते हैं। चार घातियाकर्मों के क्षय हो जाने से इस सयोगकेवली गुणस्थान में अरहन्त भगवान के नव केवल लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्तज्ञान, दर्शनावरणकर्म के क्षय से अनन्तदर्शन, मोहनीयकर्म के क्षय से अनन्तसुख और क्षायिकसम्यक्त्व, अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त दान–लाभ–भोग–उपभोग और वीर्य की प्राप्ति होती है। जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृति सहित केवलज्ञान प्राप्त किया है उनके बाह्यविभूति स्वरूप समवसरण की रचना होती है, दिव्यध्वनि खिरती है। सामान्यकेवली के समवसरण विभूति का अभाव रहता है मात्र गन्धकुटी की रचना होती है, और दिव्यध्वनि खिरती है, किन्तु अन्तकृतकेवली और मूक केवलियों की दिव्यध्वनि नहीं खिरती। बाह्य विभूति में अन्तर होते हुए भी सभी प्रकार के केवलियों की अन्तरंग में अनन्त चतुष्टयरूप विभूति समान ही होती है। केवली भगवान की विहार और दिव्यध्वनि आदि रूप क्रियायें बिना इच्छा के भव्यों के भाग्य के वश से तथा वचनयोग के निमित्त से होती है। इस गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष एवं अन्तर्मुहूर्त कम (देशोन) एक कोटिपूर्व वर्ष है। इस गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान होता है जिससे कर्मों की अत्यधिक निर्जरा तो होती है, किन्तु क्षय किसी भी प्रकृति का नहीं होता। वीरसेनाचार्य इस शुक्लध्यान का फल योग निरोध मानते हैं।

जब 13 वें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्तकाल शेष रह जाता है और केवली भगवान की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु से शेष अघातियाकर्मों की स्थिति अधिक रहती है तब उनकी स्थिति को बराबर करने के लिए भगवान के केवली समुद्घात होता है। प्रथम समय में चौदह राजू प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्मप्रदेश फैलते हैं। दूसरे समय में आत्मप्रदेश कपाट के आकार में चौड़े हो जाते हैं तृतीय समय में प्रतर के आकार विस्तृत होते हैं और चौथे समय में समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं इसे लोकपूरण समुद्घात कहते हैं। इसी प्रकार चारों समयों में आत्मप्रदेशों की संकोचन क्रिया भी होती है और संकुचित होते हुए आत्मप्रदेश शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। इस केवली समुद्घात के द्वारा नाम गोत्र और वेदनीयकर्म की स्थिति भी आयुकर्म के बराबर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रह जाती है, तभी योग निरोधकर चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होते हैं।

4.3.14 अयोगकेवली गुणस्थान–

जिसमें योगों का सर्वथा अभाव हो जाता है उसे अयोग केवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ भेद प्रकट होता है। इस गुणस्थान के उपान्त्य समय में या द्विचरमसमय में केवली भगवान् अघातिया कर्मों की 72 प्रकृतियों का क्षय करते हैं और अन्तिम समय में 13 प्रकृति का क्षय करके एक क्षण में सर्वकर्म विप्रमुक्त होकर अयोगकेवली भगवान लोक के अन्त में तनुवातवलय के उपरितन भाग में 525 धनुष प्रमाण सिद्धक्षेत्र में जाकर विराजमान हो जाते हैं। सिद्धों की जघन्यतम अवगाहना 3–1/2 हाथ और उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष की रहती है। अयोगकेवलीगुणस्थान का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही कहा है, किन्तु वह 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में लगने वाले काल के बराबर ही है।

इस प्रकार कर्ममल से संयुक्त संसारी आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन चौदह गुणस्थान रूप सोपानों पर आरोहण करते हुए लोकान्त में स्थित सिद्धालय में पहुँच जाता है तथा संसार के अनन्त दु:खों से छूटकर अनन्त और शाश्वत अव्याबाध सुख का अनुभव करता है। प्रारम्भ के तीन गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा हैं, चतुर्थ से 12 वें गुणस्थान तक

के जीव अन्तरात्मा और 13–14 वें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा हैं। इस प्रकार बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिए गुणस्थान सोपानों पर आरोहण करके उत्तरोत्तर आत्मविकास का प्रयत्न करना चाहिए। गुणस्थान आत्मविकास के क्रमिक मणिसोपान है जिस पर चढ़कर सिद्धालय में पहुँचा जाता है। वहाँ पहुँचकर जीव पूर्ण परमात्मत्व को प्राप्त हो जाता है।

4.4 जैनागम में लेश्या–

लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो।।

4.5 लोकस्वरूप–

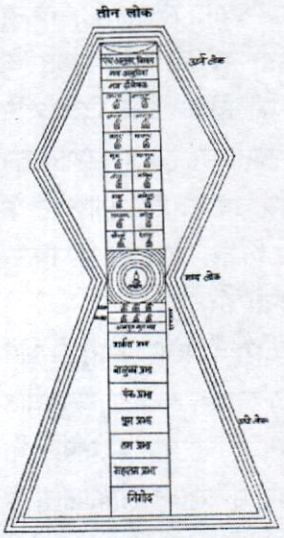

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी जैनागम में वर्णित लोक की रचना के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण कहते हैं कि "यह लोक अकृत्रिम, अनादिनिधन, स्वभावनिष्पन्न, जीव और अजीव पदार्थों द्वारा व्याप्त, सर्वाकाशावयव और नित्यस्वरूप है। लोक का स्वरूप वीतरागप्रभु ने केवलज्ञान द्वारा जैसा जाना है वह उक्त गाथा में सभी भारतीय दर्शनों की लोकस्वरूपसम्बन्धी मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए अनादि से अनन्त काल तक विद्यमान शाश्वत लोक रचना का वास्तविक स्वरूप आचार्य देव ने प्रकट किया है। लोक रचना के सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों की अनेक मान्यताएँ हैं उनका निराकरण करने हेतु आचार्य श्री ने अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है।

यह लोक 343 घनराजू प्रमाण है जिसका आकार पैर पसारे, कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष की आकृति से मिलता–जुलता है। चित्रकारों ने इस लोक का शास्त्रीय आधारों पर चित्रपट तैयार किया है उसी आधार पर हिन्दी कवियों ने आत्मा को पाप से निवृत्त और शुभ में प्रवृत्त कराने के लिए एकाधिक पूजा–पाठों की रचना की है, जिसमें कृत्रिम, अकृत्रिम जिनागारों का वर्णन किया है, क्योंकि जैनधर्म प्रकृतिमय है और इसके आराधक निवृत्ति मार्ग अपना कर स्वयं प्रकृतिस्थ होना ही धर्म का चरम लक्ष्य स्वीकार करते हैं। अत: प्रकृति की गोद में अनादि से स्वयं परिणमित जिनागार और जिनबिम्बों का ही आराधन जैनवर्ग को उपादेय रहा है। यही कारण है कि मध्यलोक में विद्यमान तथा अन्यत्र भी विराजित जिन चैत्यचैत्यालयों की पूजा भव्यजन सदा से करते आ रहे हैं। ये पूजन–पाठ विशालकाय हैं और संगीतमय तत्त्वज्ञान के पुंज हैं। गृहस्थ इनके माध्यम से अपने पुण्यफल स्वरूप न्यायोपार्जित द्रव्यादि का इष्टदेव के प्रति समर्पण कर महापापरूप परिग्रह का त्यागकर पुण्योपार्जन करता है। गृहस्थों के लिए पूजा और दान जो कि एक दूसरे के पूरक हैं, के अतिरिक्त जीवन सार्थक करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

4.6 लोक का चित्रपट–

तीन लोक के चित्रपट को सामने रखकर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्वयं का शास्त्रीयज्ञान प्रस्फुटित होने लगता है कि क्या यह सम्पूर्ण लोक मेरे द्वारा परिभ्रमण कर लिया गया है ? जैन तत्ववेत्ताओं ने पंच परावर्तन रूप अनादि–निधन संसार के स्वरूप का वर्णन करते समय यह स्पष्ट घोषणा की कि इस जीव ने अष्ट कर्मों के वशीभूत होकर अनन्तबार लोकस्थित प्राय: सभी द्रव्य, क्षेत्र और काल के निमित्त को पाकर संसार में परिभ्रमण किया है। यह कर्म की ही शक्ति है कि एक जीव लोक का लगभग कोना–कोना छान आया, किन्तु अपना शाश्वत निवास सिद्धपद प्राप्त नहीं कर पाया

जबकि कर्म की कृपा इसे अनेक बार प्राप्त भी हुई। कुछ पद इस प्रकार के अवश्य हैं जिन्हें प्राप्त कर अनिवार्यरूप से कर्मभार छूटता ही है। ये आत्मा के निजी पुरुषार्थ की देन है। आसन्न भव्य प्राणी ही इन पदों को प्राप्त कर क्रमशः मुक्ति लाभ करते हैं।

4.7 लोक चित्रपट में परिणामों के प्रतीक वर्ण–

लोक के चित्रपट में भिन्न जीवों के विभिन्न ज्ञान परिणमन को नाना प्रकार के रंगों (वर्णों) द्वारा अंकित किया गया है। जैसे लोक के नीचातिभाग का वर्ण चित्रपट में कुत्सित कृष्णवर्ण द्वारा दर्शाया गया है। यह अधोलोक का अन्तिम भाग है, जहाँ नित्यनिगोद का नियत क्षेत्र है। यह सामान्य जीवों की अपेक्षा उसी प्रकार अनादिनिधन है जैसे एक जीव जीवस्वरूप की अपेक्षा से अनादिनिधन है। कर्मबन्धन से मुक्त होने के कारण मुक्ति सादि–अनिधन है। लोक का अधोभाग जहां प्रचुर तथा सतत दुःखमय है उसी का प्रतिपक्षी मुक्तिस्थान सतत सुखमय है।

अधोलोक से ऊपर की ओर देखें तो यहां कृष्णवर्ण से लेकर अशुभनील और कापोतवर्णों का ही दर्शन होता है जो अशुभता का प्रतीक होते हुए दुःखों की कमी की ओर हमारी दृष्टि ले जाते हैं। ऊर्ध्वलोक का एक लाख योजन का क्षेत्र मध्यलोक है जिसमें सभी प्रकार के वर्णों में, द्वीप–समुद्रों का प्राकृतिक चित्रण है। इनकी महत्ता और समादरणीयता केवल उन धर्मायतनों से है, जिनसे आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने की भव्य जीवों को प्रेरणा मिलती है।

ऊर्ध्वलोक में केवल उन्हीं वर्णों (रंगों) का सद्भाव है जिन्हें शुभ सूचक कहा जाता है। पीत, पद्म, शुक्ल वर्णों की भव्यता विश्व में विदित है। ऊर्ध्वलोकवासी देवों की भावना का प्रतीक वह–वह वर्ण है जो नीचे से ऊपर की ओर समुज्जवल हो जाता है। सर्वार्थसिद्धि विमान इसका अन्तिम स्थल है। इससे मुक्ति समीप व अनिवार्य है। इस प्रकार अधोलोक के दुःखों को दर्शाते हुए ऊर्ध्वलोक के सुखों की ओर जाते हुए जीवों की प्राकृतिक प्रवृत्ति है अतः जीव का ऊर्ध्वगमन स्वीकृत किया है। निगोद से निकलकर सिद्धपद प्राप्ति तक पहुँचना जीव का अन्तिम पुरुषार्थ है और उस पुरुषार्थ का वर्णन ही चतुरनुयोगों में प्राप्त होता है।

अभिप्राय यह है कि वीतरागी धर्मोपदेष्टाओं ने जनसाधारण के भावज्ञान के लिए कृष्णादि वर्णों का अवलम्बन लेकर जीवों की भाव (विचार) प्रणाली के शुभाशुभरूप को हृदयंगम कराने का यह सरलतम प्रयत्न किया है और यह भाव प्रणाली ही संसार का बीज है। संसार नृत्यस्थली का रंगमंच है, जहाँ विभिन्न भावों वाले जीव अपनी–अपनी योग्यता व पुरुषार्थ द्वारा सांसारिक कष्ट व इन्द्रिय सुखों का फल भोगते हुए इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं।

4.8 लेश्या का स्वरूप–

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णिय अपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा।।

अर्थात् लेश्या के स्वरूप को जानने वाले प्रवर गणधरादि ने "जो जीवों को पुण्य–पाप से लिप्त करे" उसे लेश्या कहते हैं। आगे और कहा है–

जोगपउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्हं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं।।

'कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। इसलिए कषाय और योग, इन दोनों का ही कार्य चार प्रकार का बन्ध कराना है।'

द्रव्य संग्रह ग्रंथ में कहा है कि "**जोगा पयडि पदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति**" अर्थात् प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं। ये चारों बन्ध संसारबन्धन के कारण हैं और इनका

मूल लेश्या है। यह भावलेश्या है, इसी भाव लेश्या को स्पष्ट किया गया है द्रव्यलेश्या या वर्णभेद की दृष्टि से।

'वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।'

वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का वर्ण होता है उसे द्रव्य लेश्या कहते हैं। यह द्रव्यलेश्या सामान्यतः छह प्रकार की होती है–1 कृष्ण, 2. नील, 3. कापोत, 4. पीत, 5. पद्म, 6. शुक्ल। ये छह भेद तो संक्षेप कथन की दृष्टि से कहे गये हैं, किन्तु लेश्याओं के असंख्यात लोक प्रमाण भेद परमागम में कहे गये हैं। उक्तवर्णों में जिस प्रकार नानाविध तारतम्य पाया जाता है उसी प्रकार भावों के तारतम्य से भावलेश्या भी असंख्यातलोकप्रमाण भेद युक्त हो जाती है।

साधारणतः अशुभ लेश्याओं में तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र तथा शुभलेश्याओं में मन्द, मन्दतर और मन्दतम परिणाम होते हैं। इन परिणामों को चित्रात्मक बनाकर लेश्या वृक्ष की कल्पना इस प्रकार की गई है।

4.9 लेश्यावृक्ष का रूप–

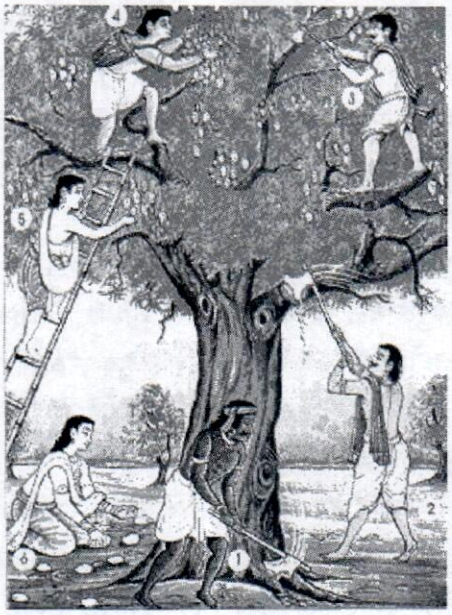

फलों से लदा हुआ एक सघन लहलहाता हुआ वृक्ष वन प्रदेश में विद्यमान था। पथभ्रष्ट होकर छह यात्री आये, वे क्षुधा, पिपासा और श्रम से पीड़ित होकर उस वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। इन छहों व्यक्तियों का वर्ण कृष्णादिरूप था। बाह्य शरीर वर्ण के साथ अन्तरंग योग–कषाय प्रवृत्ति भी विभिन्न थी। कृष्णालेश्या (वर्ण) धारी व्यक्ति विचार करता है कि मैं इस वृक्ष को मूल से उखाड़कर फलों को खाऊंगा। नीललेश्यावाला विचारता है कि मैं वृक्ष के स्कन्ध को काटकर फलों का भक्षण करूंगा। कापोत लेश्यावाला वृक्ष की शाखाओं को तोड़कर फल खाने का विचार करता है, परन्तु पीतलेश्यावाला वृक्ष की छोटी–छोटी टहनियों (शाखाओं) को गिराकर फल खाना चाहता है। पद्मलेश्यावाला फलों को ही तोड़कर खाने की इच्छा करता है तथा शुक्ललेश्यावाला जीव केवल टूटकर नीचे गिरे हुए फलों को ही खाने में संतुष्ट है। सभी व्यक्ति फल तो खाना चाहते हैं, किन्तु उनकी प्रक्रिया भिन्न है। इस प्रकार कषायों का तरतम भाव ही लेश्या के अनेक भेदों का जन्मदाता है, जिसका फल पुण्य और पाप है।

4.10 लेश्याओं के भेद युक्त परिणाम–

इन्हीं परिणामों के अनुसार जीवों का बाह्य एवं अन्तरंग प्रवृत्ति का तारतम्य करते हुए निम्नलिखित लेश्या लक्षणों का विवरण आगम ग्रंथों में पाया जाता है जैसे–

तीव्रक्रोधी, वैर को दीर्घकाल तक बांधने वाला, युद्ध करने की सतत प्रवृत्ति रखने वाला, धर्म और दया से रहित अत्यन्त दुष्ट, उग्रस्वभावी, अनियंत्रित, उद्दण्डस्वभावी जीव कृष्णलेश्या का धारक होता है।

कार्यसम्पादन में मन्द, स्वच्छंद, विवेकशून्य, पंचेन्द्रियलम्पट, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, पराभिप्राय–अनभिज्ञ, वंचक, निद्रालु, धन–धान्यादि का लोभी व्यक्ति नीललेश्यावान् होता है।

कापोत लेश्यावाला व्यक्ति दूसरों पर क्रोध करने वाला, परनिन्दक, परदुःखदाता, परस्पर बैरी, भयशोककारी, अन्य वैभव को सहन न करने वाला, तिरस्कारक, स्वप्रशंसक, अविश्वासी तथा कार्य–अकार्य का अपरीक्षक स्वभाव वाला होता है।

पीतलेश्यापरिणामी अपने कार्य–अकार्य, सेव्य–असेव्य का परीक्षक, कोमल परिणामवाला, दान व दया में तत्पर

सर्वत्र विवेकवान समदर्शी एवं सरलस्वभावी होता है।

दानशील, भद्रपरिणामी, उत्तमकार्यों के सम्पादन में अभिरुचि रखने वाला, उपद्रव आदि सहन करने वाला, देव, शास्त्र और गुरु का भक्त, दानादि कार्यों में उत्साही व्यक्ति पद्मलेश्या का धारक होता है।

पक्षपातरहित, निदान–अबंधक, सर्वजीवों में समता परिणामी, रागद्वेषरहित, पारिवारिक मोहरहित, सरल व मृदु व्यवहारी जीव शुक्ललेश्या परिणामी होता है।

उक्त लक्षण केवल जीवों की प्रवृत्ति का आधार लेकर ही बताये गए हैं। प्रतिसमय भावपरिवर्तन के कारण लेश्याओं का अंकन छद्मस्थज्ञानियों द्वारा सम्भव नहीं है।

4.11 गतियों में द्रव्य लेश्याएँ–

गतियों की अपेक्षा जीवों की द्रव्यलेश्या निम्नप्रकार होती हैं–

सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्णी हैं। कल्पवासी देवों के भावलेश्या के समान द्रव्य लेश्याएँ भी पीत, पद्म और शुक्लरूप होती हैं। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में तथा मनुष्य व तिर्यचों के छहों द्रव्य लेश्याओं का सद्भाव पाया जाता है। स्थूल जलकायिक जीव शुक्ल और बादर, अग्निकायिक जीव पीतलेश्या वाले होते हैं। सम्पूर्ण सूक्ष्मजीव कापोतलेश्यावाले हैं। विग्रहगति में जीवों का वर्ण शुक्ल होता है। वायुकायिक जीव गोमूत्रादि वर्णवाले होते हैं।

4.12 गुणस्थानापेक्षा लेश्याएँ–

गुणस्थानों की अपेक्षा 1-2-3-4 गुणस्थानों में छहों लेश्याएं पायी जाती हैं। 5-6-7 गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्याएं ही होती हैं। इसके आगे 8-9-10-11-12-13 गुणस्थानों में केवल शुक्ल लेश्या है। 14 वां गुणस्थान लेश्यारहित ही होता है। कषायरहित गुणस्थानों में योगसद्भाव होने से उपचाररूप लेश्या कही गई हैं

4.13 गतियों में भाव लेश्या–

भाव लेश्या की अपेक्षा चारों गतियों में लेश्या का सद्भाव निम्न प्रकार से पाया जाता है–

प्रथम नरक में कापोत लेश्या का जघन्य अंश है। दूसरे नरक में कापोत लेश्या का मध्यम अंश है। तृतीय नरक में कपोत लेश्या का उत्कृष्ट अंश और नीललेश्या का जघन्यअंश भी होता है। चौथी पृथ्वी में नील लेश्या का मध्यम अंश, पांचवीं पृथ्वी में नीललेश्या का उत्कृष्ट अंश एवं कृष्ण लेश्या का जघन्य अंश होता है। छठे नरक में कृष्णलेश्या का मध्यमअंश होता है। सप्तम पृथ्वी में कृष्णलेश्या का उत्कृष्ट अंश पाया जाता है।

मनुष्य और तिर्यंचों में सामान्यतः छहों लेश्याएं होती हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कृष्ण, नील, कपोत और पीत ये चार लेश्याएं तथा संज्ञी अपर्याप्तक, सासादन गुणस्थानवर्ती जीव, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। भोगभूमिज निवृत्त्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि के कपोत लेश्या का जघन्य अंश होता है और पर्याप्तावस्था में सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि के पीत आदि तीन शुभलेश्याएं होती हैं।

देवों में विशेष रूप से भवनत्रिक के देवों में पीतलेश्या का जघन्यअंश होता है। सौधर्म–ईशान स्वर्गवासी देवों के पीतलेश्या का मध्यमअंश होता है। सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग में पीत लेश्या का उत्कृष्ट अंश और पद्मलेश्या का जघन्य अंश है। ब्रह्मादि छह स्वर्गवासी देवों में पद्मलेश्या का मध्यमअंश और शतार–सहस्रार स्वर्गवासियों के पद्मलेश्या का उत्कृष्ट अंश एवं शुक्ललेश्या का जघन्य अंश होता है। आनतादि 4 स्वर्गों तथा नवग्रैवेयक में शुक्ललेश्या का मध्यमअंश और इससे ऊपर नवानुदिश और पांच अनुत्तर विमानवासी देवों के शुक्ल लेश्या का उत्कृष्ट अंश होता है, किन्तु भवनत्रिक में अपर्याप्तावस्था में तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं।

इस प्रकार चारों ही गतियों में लेश्या के विभिन्न अंश पाये जाते हैं। ये सब कषाय और योग के ही कार्य है, जिनमें कषाय की प्रमुखता है।

4.14 लेश्या धारियों का उत्पाद–

कषायों के तारतम्य के कारण उनके फल में भी अन्तर होता है, तथापि नाना जीवों की अपेक्षा आगम में यह व्यवस्था पाई जाती है। कृष्ण लेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सप्तम पृथ्वी के अवधि नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। जघन्य अंशवाले जीव पंचमपृथ्वी के तिमिस्र नामक अन्तिम पटल के इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। मध्यम अंशों से मरे हुए इन दोनों नरकों के मध्य में यथासम्भव नरकबिलों में जन्म लेते हैं।

नील लेश्या के उत्कृष्ट अंशों में मरे हुए जीव पंचमपृथ्वी के अन्ध्रनामक इन्द्रक बिल तथा पांचवें पटल में भी उत्पन्न होते हैं। इसी लेश्या के जघन्य भावों से मृत प्राणी तृतीय पृथ्वी के अन्तिम सम्प्रज्जवलित नामक इन्द्रक बिल में जन्म लेते हैं। मध्यम अंश वाले जीव उक्त दोनों के मध्यस्थानों में यथायोग्य जन्म लिया करते हैं।

कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अंशों से मरण को प्राप्त जीव तीसरे नरक के अन्तिम संज्वलित नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। और जघन्य अंशों वाले प्रथम पृथ्वी के सीमान्तनामक पटल में प्रथम इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। मध्यम अंश वाले मध्यम नरकों में यथायोग्य जन्म धारण करते हैं।

कृष्ण, नील, कपोत इन तीन लेश्याओं के मध्यम अंशों से मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि–तिर्यञ्च और मनुष्य तथा पीतलेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरे हुए भोगभूमिया मिथ्यादृष्टि तिर्यंच–मनुष्य में और भवनवासी–व्यंतर ज्योतिषि देवों में उत्पन्न होते हैं। कृष्ण, नील, कपोत, पीत लेश्या के मध्यम अंशों में मरे हुए तिर्यंच, मनुष्य, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी व सौधर्म–ईशान स्वर्गों के मिथ्यादृष्टि देव, बादरपर्याप्त पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होते हैं। कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं के मध्यम अंशों के साथ मरण को प्राप्त जीव मनुष्य या तिर्यच–तेजकायिक, वायुकायिक, विकलत्रय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय और साधारण वनस्पति में यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

भवनत्रिक आदि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के देव और सातों पृथ्वी सम्बन्धी नारकी अपनी–अपनी लेश्याके अनुसार मनुष्य या तिर्यंच होते हैं। शुभ लेश्याओं का विशेष वर्णन निम्न प्रकार है–

पीतलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव सौधर्म ईशान स्वर्ग के ऋतु–इन्द्रकविमान अथवा श्रेणिबद्ध विमान में जन्म लेते हैं। पीतलेश्या के उत्कृष्ट अंशों में मृत जीव सानत्कुमार–माहेन्द्र स्वर्ग के अन्तिम पटल में चक्रनामक श्रेणिबद्ध विमान में उत्पन्न होते हैं। मध्यम अंशवाले जीव सौधर्म–ईशान स्वर्ग के विमलनामक इन्द्रक विमान से लेकर सानत्कुमार–माहेन्द्र स्वर्ग के बलभद्र नामक इन्द्रक विमान तक उत्पन्न होते हैं।

शुक्ल लेश्या के जघन्य अंश से मरण को प्राप्त जीव सहस्रार स्वर्गपर्यन्त, मध्यम अंशों से मरण को प्राप्त जीव सर्वार्थसिद्धि से पूर्वतक तथा आनतादि स्वर्ग से ऊपर तक यथा सम्भव जाते हैं। शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंशों से मरे हुए जीव नियम से सर्वार्थसिद्धि विमान में जन्म लेते हैं।

इस प्रकार कषायों के प्रतिफल स्वरूप जीवों का संसार में कर्मबन्ध होता है और उसी के अनुसार फल भी पुण्य और पापरूप भोगना पड़ता है। जबतक कषाय है तब तक संसार वृद्धि होती रहती है। शुभ लेश्याओं से संसार निवृत्ति का संयोग बैठता है। जैसे–व्रत, नियम, तप, संयम आदि मोक्षानुकूल पुरुषार्थ जब जीव द्वारा होता है तब मलिन वस्त्र की मलीनता किसी मलनाशक सोडा, साबुन आदि के द्वारा दूर करके शुद्ध वस्त्र प्राप्त किया जाता है वैसे ही आत्मा के कर्ममल भी हटाये जाते हैं। संसार का कोई पुरुषार्थ ऐसा नहीं है जो आत्मा के साथ लगी हुई अनादिकालीन कर्मकालिमा को क्षणभर में सर्वथा नष्ट कर दे। मिथ्यात्वी जीवों के तो यह पूर्णशुद्धता प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वी जीव भी सभी लेश्याओं के केन्द्र बने रहते हैं। जब चारित्ररूपी साबुन का वे क्रमशः प्रयोग करते हैं तब उन्हें क्रमशः ही

स्वच्छता (स्वरूपता) प्राप्त होती है। राजमार्ग यही है। यह सब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की महिमा है।

4.15 लेश्या : जीव की मानसिक दशा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण–

जिन मंदिर में बने एक विशाल भित्ति–चित्र को देखकर एक जैनेतर धर्मी व्यक्ति ने जिज्ञासा से प्रश्न किया कि " यह वृक्ष और 6 आदमियों का चित्र क्यों बनाया गया है?

तब उसे बताया गया कि फलों से लदे हरे भरे इस वृक्ष के नीचे और शाखाओं पर विभिन्न रंगों से बनाये गये ये पुरुष जीवों के विभिन्न जातीय परिणामों के द्योतक हैं। इनमें से कोई पुरुष वृक्ष के फलों की प्राप्ति के लिए वृक्ष को जड़मूल से ही उखाड़ना चाहता है, कोई पुरुष वृक्ष को स्कंध से काटकर फल प्राप्त करना चाहता है।तीसरा व्यक्ति वृक्ष की दीर्घकाय शाखाओं को काटकर फल खाने की इच्छा कर रहा है। एक पुरुष वृक्ष की छोटी–छोटी टहनियों (शाखाओं) पर लगे फलों को प्राप्त करने के लिए उन लघुकाय शाखाओं को ही गिराना चाहता है तो पांचवां व्यक्ति ऐसा भी है जो मात्र फलों को ही तोड़कर अपनी क्षुधा शांत करना चाहता है, किन्तु छठा व्यक्ति सहज गिरे हुए फलों को खाना चाहता है। इन छहों व्यक्तियों के जैसे तीव्र–मन्द कषाय परिणाम हैं उनका दिग्दर्शन कराने हेतु ही चित्र में उनके शरीर को विभिन्न रंगों में दर्शाया गया है।प्रथम पुरुष से छठे पुरुष तक सभी के मानसिक परिणामों की स्थिति उत्तरोत्तर उज्जवल और विशुद्ध है। जैन–दर्शन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 'लेश्या' को समझाने के लिए ही इसका चित्रांकन किया गया है।

इस स्पष्टीकरण से वह जैनेतरधर्मी व्यक्ति सहसा आश्चर्यान्वित हुआ और उसने अपने मनोभाव इन शब्दों में अभिव्यक्त किये– "यह चित्र तो बड़ा मनोवैज्ञानिक है और जैनदर्शन के तत्त्वज्ञान का ज्वलंत दृष्टान्त है। जीव के मनोभावों की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम छटा से स्थूल भाव छटा इस चित्रमें दर्पण की भांति स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रही है।

4.16 लेश्या का सामान्य लक्षण–

क्रोधादि कषाय से अनुरंजित जीव की मन–वचन–काय की प्रवृत्ति भाव लेश्या है। यह प्रवृत्ति छह प्रकार की होती है और उसका निर्देश कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल इन रंगों के रूप में किया गया है। इनमें पीत, पदम् और शुक्ल ये तीन शुभ तथा कृष्ण, नील,कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएं हैं;

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च।
जीवो त्ति होइ लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खाया।।
जह गेरुवेण कुड्डी लिप्पइ लेवेण आम पिट्ठेण।
तह परिणामो लिप्पइ सुहासुह य त्ति लेव्वेण।।

जिसके द्वारा जीव पुण्य–पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं। जिसप्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा–

आत्मा और कर्म का जो सम्बन्ध कराती है, उसे लेश्या कहते हैं।

4.17 लेश्या के भेद–प्रभेद :

द्रव्य और भाव के भेद से लेश्या दो प्रकार की है। इन दोनों ही प्रकार की लेश्याओं के छह–छह उत्तर भेद हैं।

4.17.1 द्रव्यलेश्या—

शरीर नाम कर्मोदय से उत्पन्न द्रव्य लेश्या कहलाती है। अर्थात् वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का रंग है उसे द्रव्य लेश्या कहते है। कृष्णादि छह प्रकार के शरीरवर्णों की अपेक्षा यह द्रव्य लेश्या छह प्रकार की हैं। यथा– कृष्णलेश्या–भौंरे के समान, नीललेश्या–मयूरकंठ या नीलमणि सदृश, कपोतलेश्या–कबूतर के सदृश, पीत लेश्या–

सुवर्ण सदृश, पद्म लेश्या–कमल सदृश और शुक्ल लेश्या–शंख के समान श्वेत वर्णवाली होती है।

4.17.2 भावलेश्या—

''कषायानुरञ्जिता कायवाङ् मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या'' कषाय से अनुरंजित मन–वचन–कायरूप योग की प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं। अथवा–

मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम, अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जीव का स्पन्द भावलेश्या है। कृष्णादि के भेद से भावलेश्या भी छह प्रकार की है। भावलेश्याओं के लक्षण इस प्रकार हैं।–

कृष्णलेश्या—तीव्र क्रोध करने वाला, वैर को नहीं छोड़नेवाला, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म व दया से रहित हो, दुष्ट हो, जो किसी के वश में नहीं हो, कार्य करने में विवेकरहित हो, कलाचातुर्य से रहित हो, पंचेन्द्रिय के विषयों में लम्पटी हो, मानी, मायावी, आलसी और भीरु हो, अपने ही गोत्रीय तथा एक मात्र स्वकलत्र को भी मारने की इच्छा करनेवाला हो ऐसा जीव कृष्णलेश्या का धारक होता है।

नीललेश्या—जो बहुत निद्रालु हो, परवंचन में अतिदक्ष हो और धन-धान्य के संग्रह में तीव्र लालसा वाला हो विषयों में अत्यन्त आसक्त हो, प्रचुर मायाप्रपंच में संलग्न , लोभी तथा आहारादि संज्ञाओं में आसक्त हो, अनृत भाषण करनेवाला हो अतिमानी, कार्य करने में निष्ठा रखने वाला न हो, कायरता युक्त हो और अतिचपल हो वह नीललेशया वह का धारक होता है।

कापोतलेश्या—जो दूसरों पर रोष करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, अत्यन्त दोषों से युक्त हो, भय की बहलता से सहित हो, दूसरों से ईर्ष्या करने वाला हो, पर का पराभव करने वाला हो, स्वात्म प्रशंसक हो, कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से रहित हो, जीवन से निराश हो गया हो दूसरों पर विश्वास न करता हो, दूसरों के द्वारा स्तुति किये जाने पर अतिसन्तुष्ट हो तथा युद्ध में मरने की इच्छा रखता हो वह कापोतलेश्या का धारक होता है।

पीतलेश्या—जो अपने कर्तव्य और अकर्तव्य को, सेव्य–असेव्य को जानता हो, सभी में समदर्शी हो, दया और दान में रत हो, मृदुस्वभावी और ज्ञानी हो, दृढ़ता–मित्रता–सत्यवादिता–स्वकार्यपटुता आदि गुणों से समन्वित हो, वह तेजोलेश्या (पीतलेश्या) का धारक होता है।

पद्मलेश्या—जो त्यागी हो, भद्रपरिणामी हो, देव–गुरु गुण पूजन में रुचि, सच्चा हो, बहुत अपराध या हानि होने पर भी क्षमाशील हो, पाण्डित्य युक्त हो वह पद्मलेश्या का धारक होता है।

शुक्ललेश्या—जो पक्षपात न करता हो, निदान नहीं करता हो, सबमें समान व्यवहार करता हो, पर में राग–द्वेष–स्नेह न करता हो, निर्वैर हो, पाप कार्यों से उदासीन हो, श्रेयोमार्ग में रुचि रखता हो, परनिन्दा नहीं करता हो, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देता हो वह शुक्ललेश्या का धारी है।

उपर्युक्त लक्षणवाली छहों लेश्याएं यथासम्भव सभी संसारी जीवों में पायी जाती हैं। मिथ्यात्व–गुणस्थान से सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान तक कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति से होने वाली लेश्याएं हैं तथा 11–12–13 वें गुणस्थान में कषायों का अभाव हो जाने पर भी योग विद्यमान होने से वहां एक शुक्ललेश्या का सद्भाव पाया जाता है। अयोगकेवली और सिद्ध भगवान् लेश्या रहित हैं, क्योंकि वहां योग का भी अभाव हो गया है। सिद्ध भगवान तो संसार से मुक्त ही हो चुके हैं।

लेश्यासम्बन्धी विशेष शंका–समाधान निम्नप्रकार है–

शंका— कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस अर्थ के ग्रहण करने पर सयोगकेवली को लेश्या रहितपने की आपत्ति होती है।

समाधान— ऐसा नहीं है, सयोगकेवली के भी लेश्या पायी जाती है। कषायरहित जीवों में भी शरीर नामकर्म के

उदय से प्राप्त काययोग भी तो कर्मबन्ध में कारण है अत: उस योग प्रवृत्ति से ही वहां लेश्या का सद्भाव मानने में सयोगकेवली के लेश्या होती है इन वचनों का व्याघात नहीं पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि कषाय तो 10 वें गुणस्थान तक ही पाई जाती है आगे के गुणस्थानों में कषाय नहीं है, क्योंकि 11वें गुणस्थान में कषायों का उपशम हो गया है तथा 12 वें गुणस्थान में कषाएं क्षीण हो चुकी हैं अत: 11–12–13 वें गुणस्थान में कर्मलेप का कारण योग तो विद्यमान है इस अपेक्षा वहां शुक्ल लेश्या मानी है।

शंका— लेश्या को औदयिक भाव कहा गया है। 11वें–12वें और 13वें गुण स्थान में शुक्ललेश्या है ऐसा आगम वचन है, किन्तु वहां कषायों का उदय नहीं होने से लेश्या को औदयिकपना नहीं बन सकता।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायोदय से अनुरंजित है वही यह है, पूर्वभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उपशान्तकषायादि गुण स्थानों में भी लेश्या को औदयिक कहा गया है।

शंका—लेश्या योग को कहते हैं अथवा कषाय को या योग और कषाय दोनों को कहते हैं? इनमें से आदि के दो विकल्प (योग और कषाय) तो मान नहीं सकते, क्योंकि वैसा मानने पर योग और कषाय मार्गणा में ही उसका अन्तर्भाव हो जावेगा। तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते, क्योंकि वह आदि के दोनों विकल्पों के समान है।

समाधान—कर्मलेप रूप एक कार्य को करने वाले होने की अपेक्षा एक पने को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या माना है। यदि कहा जावे कि एकता को प्राप्त हुए योग और कषाय रूप लेश्या होने से उन दोनों में लेश्या का अन्तर्भाव हो जावेगा सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए द्वयात्मक एक धर्म का केवल एक के साथ एकत्व अथवा समानता मानने में विरोध आता है। केवल योग या केवल कषाय को लेश्या नहीं कह सकते हैं, किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते ऐसा नहीं मान लेना, क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं हैं, कारण कि वह योगप्रवृत्ति का विशेषण है। क्षीण–कषायादि जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग तो तब आता जब केवल कषायोदय से ही लेश्या की उत्पत्ति मानते।

शंका—योग और कषाय से पृथक् लेश्या मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदि के आलम्बनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायों से केवल योग और केवल कषाय के कार्य से भिन्न संसार की वृद्धि रूप कार्य की उपलब्धि है जो केवल योग और केवल कषाय का कार्य नहीं कहा जा सकता है अत: लेश्या उन दोनों से भिन्न है यह सिद्ध हो जाता है।

शंका– लेश्या का कषायों में अन्तर्भाव क्यों नहीं कर देते?

समाधान– यद्यपि लेश्या और कषाय दोनों औदयिक भाव हैं तथापि कषायोदय के तीव्र, मंद आदि तारतम्य से अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है।

शंका–नारकी जीवों के अशुभ लेश्याएं ही हैं फिर वहां सम्यक्त्व कैसे सम्भव है?

समाधान– यद्यपि नारकियों के नियम से अशुभ लेश्या है तथापि उस लेश्या में कषायों के मन्द अनुभागोदय के वश से तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप गुण के कारण परिणामरूप विशुद्धि विशेष की असम्भावना नहीं है।

इस प्रकार लेश्यामार्गणा में निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन 16 अधिकारों द्वारा सिद्धान्त ग्रन्थों में अति विस्तृत कथन किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को धवलादि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। करणानुयोग प्रधान सिद्धान्त ग्रन्थों में अशुद्धनय से जीव की कर्मोपाधि सहित भावावस्था का वर्णन किया गया है। विस्तार रुचि शिष्य के लिए 14 मार्गणाओं द्वारा जीव का

अन्वेषण किया गया है। उन मार्गणाओं में लेश्या भी एक मार्गणा है।

छह लेश्याओं द्वारा जैनदर्शन में भावनाओं का, विचार तरंगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, भावों का पृथक्करण अत्यन्त सरल व सूक्ष्मतम गहन दृष्टि से समझाया गया है। मन के विचारों की श्रेणियां ही जैनदर्शन में लेश्या नाम से अभिहित हैं। लेश्या मार्गणा का विस्तृत और स्पष्ट अथवा संक्षेप पठन–मनन–चिंतन करने का उद्देश्य और उसकी सार्थकता यही है कि द्रव्यदृष्टि से स्वभावतः शुद्ध आत्मा में कषायोदय का निमित्त पाकर मन–वचन–काय की सकंपता से कर्मों का जो अनादिकालीन गहनतम कर्म लेप लगा है उसे हम पृथक् करने का पुरुषार्थ करें। कषाय अथवा लेश्या आदि रूप औदयिक भावों का स्वरूप जानकर यह निर्णय करें कि ये औदयिकादि भाव हमारी आत्मा का अहित करने वाले हैं आत्मा के लिए उपादेय नहीं हैं और निर्णयकर औदयिक भावों को छोड़ने के लिए सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप भेद–अभेद रत्नत्रय को स्वीकार कर आत्मा की शुद्धदशा पर लगी कर्मकालिमा को दूर करते हुए अलेश्यभाव को परम पारिणामिक भाव स्वरूप चैतन्यदशा को प्राप्त करें।

4.18 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–चौदह गुणस्थानों में पहला गुणस्थान–

(क) सासादन सम्यग्दृष्टि ☐

(ख) मिथ्यादृष्टि ☐

(ग) सयोगकेवली ☐

प्रश्न 2–जब तक जीव को आत्मस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता तब तक ..... कहलाता है।

(क) मिथ्यादृष्टि ☐

(ख) सम्यग्दृष्टि ☐

(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 3–छः लेश्याओं में ये शुभ लेश्या कौन–सी है ?

(क) कापोत ☐

(ख) नील ☐

(ग) शुक्ल ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–गुणस्थान किसे कहते हैं ? ये कितने होते हैं ? नाम बताइये।

प्रश्न 2–अयोग केवली गुणस्थान किसे कहते हैं ? इस गुणस्थान का काल कितना है ?

प्रश्न 3–लेश्या किसे कहते हैं ? ये कितनी होती हैं ? नाम भी बताइए।

प्रश्न 4–लेश्या का सामान्य लक्षण बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–लेश्याओं के भेद युक्त परिणाम किस प्रकार हैं ? बताइए।

इकाई–3 आचार्य श्री कुन्दकुन्द की कृतियों में श्रावक एवं श्रमणधर्म

प्रास्ताविकी

श्री कुन्दकुन्द स्वामी मूलसंघ के अग्रणी आचार्य हुए हैं। यही कारण है कि वर्तमान में मंगल हेतु कुन्दकुन्द का नाम गौतम गणधर के अनंतर लिया जाता है। प्राचीन शिलालेखों एवं विद्वानों के निर्णयानुसार इनका जन्म दक्षिण भारत में माना गया है।

"कौण्डकुन्दपुर" नामक ग्राम में कर्मण्डु की पत्नी श्रीमती के गर्भ से कुन्दकुन्द का जन्म हुआ था। इनके समय के बारे में विद्वानों का काफी मतभेद है।

नन्दीसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि. सं. 45 में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। 44 वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। 51 वर्ष 10 महीने तक आप उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। आपकी आयु 95 वर्ष 10 महीने 15 दिन की थी।

इसी नंदीसंघ की पट्टावली से ज्ञात होता है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु का नाम आचार्य जिनचंद्र था और कुन्दकुन्द के पट्टशिष्यों में प्रथम नाम आचार्यश्री उमास्वामी का आता है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द को भद्रबाहु श्रुतकेवली का परम्परा शिष्य कहा है।

इनके विषय में कई बातें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जैसे–विदेह क्षेत्र में गमन, चारण ऋद्धि प्राप्ति और ऊर्जयंत पर्वत पर अम्बिका देवी को बुलवा कर दिगम्बर धर्म की प्रभावना करना इत्यादि। जैसा कि कविवर वृन्दावन जी ने भी लिखा है–

संघसहित श्री कुन्दकुन्द गुरु, वंदन हेतु गए गिरनार।
वाद परयो जहँ संशयमति सों, साक्षी वदी अंबिकाकर।।
सत्यपंथ निरग्रंथ दिगम्बर, कही सुरी तहं प्रगट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघन हरण मंगल करतार।।

इससे यह ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द स्वामी विशाल चतुर्विध संघ के अधिनायक आचार्य थे। वे एक बार संघ सहित यात्रा हेतु गिरनार पहुँचे। वहाँ पर श्वेताम्बर साधुओं का भी संघ पहुँचा। पर्वत की पहले वंदना कौन करे इस पर विवाद होने पर कुन्दकुन्द देव ने वहां पर स्थित सरस्वती देवी की मूर्ति को मंत्र के बल पर बुलवा दिया था।

श्रीकुन्दकुन्दस्वामी के पांच नाम भी आगम में बताये गये हैं–कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृध्दपिच्छ और पद्मनंदी।

श्रीकुन्दकुन्द की रचनायें–चौरासी पाहुड़, षट्खण्डागम टीका, दशभक्ति, अष्टपाहुड़, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, द्वादशानुप्रेक्षा, समयसार, मूलाचार और कुरलकाव्य।

वि. सं. 990 में आचार्यश्री देवसेन ने दर्शनसार ग्रंथ में कुन्दकुन्दाचार्य के विदेह गमन की बात कही है कि "यदि पद्मनंदी स्वामी सीमंधर स्वामी के दिव्यज्ञान से सम्बोधन न प्राप्त करते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जानते ?"

वर्तमान युग में आचार्यश्री कुन्दकुन्दस्वामी के ग्रंथ हम लोगों के लिए विशेष मुक्तिपथप्रदर्शक हैं। उन श्री कुन्दकुन्द स्वामी की समस्त उपलब्ध कृतियों का आलोडन करके पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने हमें उनकी रचनाओं में छिपे सभी आयामों से परिचित कराया है ताकि हम सभी उन कुन्दकुन्द स्वामी के मात्र आध्यात्मिक व्यक्तित्व से ही नहीं, प्रत्युत उनके सर्वतोमुखी सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करा सकें। इसी लक्ष्य को लेकर एम.ए. पूर्वार्ध के इस चतुर्थ पत्र की तृतीय इकाई के चारों पाठ में कुन्दकुन्द स्वामी की कृतियों से ही सामग्री संग्रहीत करके प्रस्तुत किया है।

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) श्री कुन्दकुन्दाचार्य का जिनभक्ति अनुराग

(2) श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा प्रतिपादित श्रावक धर्म

(3) मुनियों की सरागचर्या : कुन्दकुन्द की दृष्टि में

(4) वीतराग चारित्र एवं उसका फल

पाठ 1–श्री कुन्दकुन्दाचार्य का जिनभक्ति अनुराग

1.1 तीर्थंकर स्तुति–

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे।।

(चौबीस तीर्थंकर भक्ति गाथा-1)

शंभु छन्द–

श्री जिनवर तीर्थंकर केवलज्ञानी, अर्हत्परमात्मा हैं।
जो हैं अनन्तजिन मनुजलोक में, पूज्य परम शुद्धात्मा हैं।।
निज कर्म मलों को धो करके, जो महाप्राज्ञ कहलाते हैं।
ऐसे जिनवर की स्तुति कर, चरणों में शीश झुकाते हैं।।

अर्थ–जो जिनवर——कर्मशत्रु को जीतने वालों में श्रेष्ठ हैं, केवली——केवलज्ञानी हैं, अनंतजिन——अनंत संसार को जीतने वाले हैं, नरप्रवरलोकमहित——लोक में श्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि से पूजित हैं, विधुतरजोमल——ज्ञानावरण–दर्शनावरण नामक रजरूपी मल को धो चुके हैं और महाप्राज्ञ——सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं, ऐसे तीर्थंकरों की मैं स्तुति करूँगा।

भावार्थ–श्री कुन्दकुन्ददेव ने तीर्थंकर भक्ति आदि दश भक्तियाँ बनाई हैं जिनमें से मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के कृतिकर्म में प्रत्येक भक्ति की प्रारम्भ विधि में इस 'थोस्सामि' स्तव को पढ़ा जाता है। यह चौबीस तीर्थंकर भक्ति है। इसे 'थोस्सामि स्तव' से भी जाना जाता है।

1.2 चौबीस तीर्थंकर भक्ति–

लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेव केवलिणो।।

(चौबीस तीर्थंकर भक्ति गाथा-2)

निजज्ञान किरण के द्वारा जो, त्रैलोक्य ज्ञेय उद्योत करें।
उन धर्म तीर्थकर्त्ता जिन का, वंदन निज में सुख स्रोत भरे।।
अरहंत अवस्था प्राप्त केवली, जितने भी तीर्थंकर हैं।
उन त्रैकालिक चौबिस जिनवर का, वंदन सबको सुखकर है।।

अर्थ–लोक को प्रकाशित करने वाले, धर्मरूपी तीर्थ के कर्त्ता जिनवरों की मैं वंदना करता हूँ और अर्हंत पद को प्राप्त, केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरों की मैं स्तुति करता हूँ।

भावार्थ–भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है। इनमें से चौथे काल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। ढाई द्वीप में पाँच भरत, पाँच ऐरावत हैं। विदेह एक सौ साठ हैं, इनमें हमेशा ही चतुर्थकाल की

व्यवस्था रहने से तीर्थंकर होते ही रहते हैं अतः एक साथ यदि अधिकतम तीर्थंकर भगवान होवें तो एक सौ सत्तर (170) हो सकते हैं, उन सबको मेरा नमस्कार होवे।

1.3 सिद्धों की वंदना–

उड्ढमहतिरियलोए, छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसग्गणिरुवसग्गे, दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि।।

(सिद्धभक्ति गाथा-3)

जो ऊर्ध्व-अधो अरु मध्यलोक से, सिद्ध हुए शुद्धात्मा हैं।
सुषमा आदिक छह कालों में, निर्वाण प्राप्त सिद्धात्मा हैं।।
उपसर्ग सहन करके अथवा, उपसर्ग बिना जो शुद्ध हुए।
मैं नमन करूँ सब सिद्धों को, जो द्वीप उदधि से सिद्ध हुए।।

अर्थ–जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक से सिद्ध हुए हैं, जो सुषमा-सुषमा आदि छह कालों में निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, जो उपसर्ग सहन कर या बिना उपसर्ग से सिद्ध हुए हैं तथा जो द्वीप अथवा समुद्र से निर्वाण को प्राप्त हुये हैं ऐसे समस्त सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ।

भावार्थ–इस सिद्धभक्ति में बारह गाथाओं द्वारा श्री कुन्दकुन्ददेव ने भूत नैगमनय से नाना भेद को प्राप्त सिद्धों की वन्दना की है। इसे पढ़कर प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करके इन सिद्धों के भेदों को समझना चाहिये। ऊर्ध्वलोक और अधोलोक से या छहों कालों से जो सिद्ध होते हैं, वे संहरण सिद्ध कहलाते हैं। किसी ने उन्हें उठाकर ऐसे स्थलों पर छोड़ा, वहीं से केवली होकर मोक्ष चले गये ऐसे ही समुद्रों से समझना।

1.4 पंचपरमेष्ठी से प्रार्थना–

अरुहा सिद्धाइरिया, उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
एयाण णमुक्कारा, भवे भवे मम सुहं दिंतु।।

(पंचपरमगुरु भक्ति गाथा-7)

अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय, साधु पंचपरमेष्ठी हैं।
इन पाँचों की भक्ती भव-भव में, हब सबको सुख देती है।।
इन पंचपरमगुरु भक्ती में, श्री कुन्दकुन्द भी लीन हुए।
हम भी उनसे प्रेरित होकर, जिनवर भक्ती को किया करें।।

अर्थ–अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। इन पाँचों को किया गया नमस्कार भव-भव में मुझे सुख प्रदान करे।

भावार्थ–पंचपरमगुरुभक्ति करते हुए श्रीकुन्दकुन्ददेव ने सुख की याचना की है। ऐसे महान आचार्य भी भक्ति और उसका फल सुख की प्राप्ति की भावना रखते हैं अतः हम और आप सभी को भी भगवान की और गुरुओं की भक्ति करके सच्चे सुख की भावना करते रहना चाहिये।

1.5 निर्वाण प्राप्त सिद्धों की वंदना–

अट्ठावयम्मि उसहो, चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो, पावाए णिव्वुदो महावीरो।।

(निर्वाणभक्ति गाथा-1)

अष्टापद से श्री वृषभदेव, अरु वासुपूज्य चंपापुरि से।
गिरनारगिरी से नेमिनाथ, अरु महावीर पावापुरि से।।
निर्वाणधाम को प्राप्त जिनेश्वर, को मैं वंदन करता हूँ।
श्री कुन्दकुन्द गुरु के सदृश, निर्वाणभक्ति मैं करता हूँ।।

अर्थ–भगवान ऋषभदेव कैलाश पर्वत से, भगवान वासुपूज्य चंपापुरी से, भगवान नेमिनाथ गिरनार पर्वत से और भगवान महावीर स्वामी पावापुरी से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ–'इनको मैं नमस्कार करता हूँ' यह क्रिया आगे है। इसी निर्वाण भक्ति में पंचकल्लाणठाणि वि कहकर पंचकल्याणक से पवित्र क्षेत्रों की, पर्वतों की और अतिशय क्षेत्रों की वंदना की है। श्री गौतम स्वामी ने भी अष्टापद पर्वत आदि तीर्थों की वंदना की है। वास्तव में भगवान के कल्याणक आदि से पवित्र स्थल और तिथियाँ भी पूज्य बन जाती हैं।

1.6 सम्मेदशिखर की वंदना–

वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।

(निर्वाण भक्ति गाथा-2)

सम्मेदशिखर पर्वत से बीस, जिनेश्वर मोक्ष पधारे हैं।
सब कर्मक्लेश को धो करके, लोकाग्र शिखर पर राजे हैं।।
अमरासुर से वंदित वे प्रभु, उन सबको मेरा वंदन है।
व्यवहार नयाश्रित तीर्थंकर के, मुक्तिधाम को वंदन है।।

अर्थ–श्री अजितनाथ से लेकर शेष बीस तीर्थंकर सुर-असुर, इन्द्रों से वंदित होते हुए कर्मों से छूटकर सम्मेदशिखर पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। इन सभी चौबीस तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार होवे।

भावार्थ–निर्वाण क्षेत्रों के नामों का उच्चारण करके जो निर्वाणभक्ति की गयी है वह व्यवहारनय के आश्रित ही है। श्रीकुन्दकुन्ददेव यहाँ स्वयं व्यवहारनय से भक्ति करते हुए महामुनियों के लिये भी व्यवहारनय की उपयोगिता को सिद्ध कर रहे हैं, पुनः अविरती और श्रावकों के लिये तो व्यवहारनय के आश्रित भक्ति, पूजा, वंदना आदि क्रियाएं उपयोगी हैं ही, यह निष्कर्ष निकलता है।

1.7 आचार्यों की भक्ति–

देसकुलजाइसुद्धा, विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिह, मंगलमत्थु मे णिच्चं।।

(आचार्यभक्ति गाथा-1)

जो देश जाति-कुल से विशुद्ध, होकर जिनदीक्षा लेते हैं।
मन-वचन-काय की शुद्धि से, संयुत मुनिदीक्षा लेते हैं।।
इन गुण से युत आचार्यप्रवर, तुम चरण कमल मंगलकारी।
होवें सदैव मेरे जीवन के, लिये तथा जनहितकारी।।

अर्थ–देश-कुल और जाति से शुद्ध, विशुद्ध तथा मन-वचन-काय से संयुक्त हे आचार्यवर्य! आपके चरणकमल नित्य ही मेरे मंगल के लिये होवें।

भावार्थ–यहाँ यह समझना कि कुल और जाति को माने बिना कुल, जाति से शुद्धि नहीं बन सकती है अतः

सज्जातीयत्व के बिना दिगम्बर मुनि नहीं हो सकते हैं। यह बात भी श्रीकुन्दकुन्ददेव के शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। सज्जाति, सद्गृहस्थ, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, आर्हंत्यपद और निर्वाण ये सात परम-स्थान हैं। इनमें से सज्जाति के बिना आगे कोई भी स्थान प्राप्त नहीं हो सकते हैं।

1.8 योगभक्ति में संघ के लिये याचना–

एवं मए अभित्थुया, अणयारा रागदोसपरिसुद्धा।
संघस्स वरसमाहिं, मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु।।

(योगभक्ति गाथा-23)

इस विधि मेरे द्वारा संस्तुत, रागद्वेषादि रहित मुनिवर।
वर बोधि-समाधी दो मुझको, चउविधि संघ को तुम हे यतिवर!।
मेरे भी दु:खों का क्षय करके, सिद्धगती दिलवा दीजे।
मुझ कुन्दकुन्द का हृदय कमल, निज ज्ञान किरण से भर दीजे।।

अर्थ–इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत तथा रागद्वेष से रहित—विशुद्ध अनगार—मुनिगण संघ को उत्तम समाधि प्रदान करें और मेरे भी दु:खों का क्षय करें।

भावार्थ–योगभक्ति में आचार्यदेव ने तेईस गाथाओं द्वारा सर्व प्रकार से तपस्वी मुनियों की वंदना करके याचना की है कि वे सर्वमुनिगण संघ को समाधि धर्मध्यान की सिद्धि प्रदान करें। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये बहुत बड़े चतुर्विध संघ के आचार्य थे, एकाकी नहीं थे।

1.9 भक्तिराग से स्तुति–

एवमए सुदपवरा, भत्तीराएण संत्थुया तच्चा।
सिग्घं मे सुदलाहं, जिणवरवसहा पयच्छंतु।।

(श्रुत भक्ति गाथा-11)

हे जिनवर मैंने भक्तिराग से, श्रुतसागर में रमण किया।
जो द्वादशांगमय श्रेष्ठ आपकी, वाणी में मैं मगन हुआ।।
उस जिनवाणी की भक्ती से, मैं शीघ्र ज्ञान का लाभ करूँ।
अज्ञान हटाकर आत्मा का, मैं आत्म लाभ को प्राप्त करूँ।।

अर्थ–इस प्रकार मैंने 'भक्ति के राग' से द्वादशांगरूप श्रेष्ठ श्रुत का स्तवन किया है। जिनवर वृषभदेव या जिनवरों में श्रेष्ठ सभी तीर्थंकर देव मुझे शीघ्र ही श्रुत का लाभ देवें।

भावार्थ–श्रुतभक्ति की ग्यारह गाथाओं में द्वादशांगरूप श्रुत की वंदना करके आचार्यदेव ने श्रुत के लाभ की याचना की है तथा यह भी कहा है कि मैंने 'भक्तिराग' से स्तवन किया है। टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने "भक्तानुरागाभ्यां–श्रद्धाप्रीतिभ्यां" भक्ति और अनुराग–'श्रद्धा और प्रीति से' ऐसा अर्थ किया है जिससे श्रीकुन्दकुन्ददेव भी भक्ति के राग से सहित थे, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

1.10 भक्ति करके याचना करना दोष नहीं है–

आरोग्ग बोहिलाहं, दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं, णवरि विभासेत्थ कायव्वा।।

(मूलाचार गाथा-568)

जिनदेव मुझे आरोग्य लाभ, अरु बोधि-समाधि प्रदान करें।
ऐसी स्तुति का भाव कहो, क्या नहिं निदान परिणाम करें।।
यह तो वैकल्पिक भाषा है, जिनवर की स्तुति करने में।
यह नहिं निदान का बन्ध करे, मुक्ती का कारण है सच में।।

अर्थ–वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें। क्या यह निदान नहीं है ? अर्थात् नहीं है, यह तो मात्र वैकल्पिक भाषा है, ऐसा समझना।

भावार्थ–जिनेन्द्रदेव से आरोग्य लाभ——जन्म-मरण का अभाव, बोधिलाभ——जिनागम का श्रद्धान या दीक्षा लेने का परिणाम और समाधिमरण के समय धर्मध्यानरूप परिणाम, इनकी याचना करना निदान नहीं है यह एक भक्ति की भाषा का प्रकार है।

1.11 वीतराग भगवान से भी माँगना दोष नहीं है–

भासा असच्चमोसा, णवरि हु भत्तीय भासिदा एसा।
ण हु खीणरागदोसा, दिंति समाहिं च बोहिं च।।

(मूलाचार गाथा-569)

याचनारूप संस्तुति असच्चमोसा, भाषा कहलाती है।
यह भाषा केवल भक्ती करने, के प्रयोग में आती है।।
रागद्वेषादि रहित जिनवर, बोधी-समाधि नहीं देते हैं।
परिणामविशुद्धी के बल पर, वे भक्त उन्हें पा लेते हैं।।

अर्थ–पूर्व में की गयी याचना एक असत्यमृषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गयी है क्योंकि रागद्वेष से रहित भगवान समाधि और बोधि को नहीं देते हैं।

भावार्थ–यह बोधि समाधि के लिये की गई याचना न सत्य है, न असत्य है, प्रत्युत् अनुभय भाषा है क्योंकि वीतराग भगवान कुछ भी नहीं देते। यदि वे देने लगेंगे तो रागी-द्वेषी हो जावेंगे किन्तु उनसे याचना करने से फल मिलता ही मिलता है। तात्पर्य यही है कि भक्ति से परिणामों में निर्मलता आने से जो पुण्य बन्ध होता है, उसी से सर्व मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। यह भक्ति मुक्ति की प्राप्ति में भी कारण है।

1.12 वीतराग भगवान सब कुछ देते हैं–

जं तेहिं दु दादव्वं, तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसणणाणचरित्तस्स, एस तिविहस्स उवदेसो।।

(मूलाचार गाथा-570)

जो कुछ भी देने योग्य रहा, सब कुछ जिनवर ने दे डाला।
रत्नत्रय के उपदेशों से, भव्यों को पावन कर डाला।।
जिनके प्रसाद से कितने ही, नर मुक्तिधाम में पहुँच गये।
पर को उपदेशित कर प्रभुवर भी, सिद्धिधाम को प्राप्त किये।।

अर्थ–उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरों ने वह दे दिया है। सो वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का उपदेश है।

भावार्थ–भगवान ने देने योग्य ऐसे रत्नत्रय का उपदेश दिया है जिसके प्रसाद से अनन्त भव्यजीव मोक्ष प्राप्त कर

चुके हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे अत: उन्हें अब कुछ भी देना शेष नहीं रहा है फिर भी भव्य जो कुछ माँगते हैं, उनकी वह इच्छा पूर्ण होती ही है।

1.13 भगवान की भक्ति से कर्मों का भी क्षय हो जाता है–

भत्तीए जिणवराणं, खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य, विज्जा मंता य सिज्झंति।।

(मूलाचार गाथा-571)

जिनवर की भक्ती से भव-भव के, संचित कर्म विनशते हैं।
आचार्यों के प्रसाद से विद्या, मन्त्र सिद्ध नर करते हैं।।
जैसे जिनवर की भक्ति बिना, नहिं मुक्ति प्राप्त हो सकती है।
वैसे ही गुरु की भक्ति बिना, नहिं मंत्र सिद्धि हो सकती है।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्व भवों में संचित कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और आचार्यों के प्रसाद से विद्या तथा मंत्र सिद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ–जिनेन्द्रदेव की भक्ति, पूजा, वंदना, स्तुति आदि पूर्वक उपासना करने से अनंत-अनंत जन्म में संचित अनंतों पाप नष्ट हो जाते हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि दिगम्बर मुनियों की वंदना, भक्ति, स्तुति आदि करने से विद्या-मन्त्र आदि तो सिद्ध होते ही हैं, परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति भी हो जाती है। लोक में भी यह नियम है कि बिना गुरु प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि नहीं हो सकती।

1.14 गुरुओं की भक्ति से कर्म निर्जरा भी होती है–

आइरियउवज्झायाणं, पवत्तयत्थेरगणधरादीणं।
एदेसिं किदियम्मं, कादव्वं णिज्जरट्ठाए।।

(मूलाचार गाथा-593)

आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तक, स्थविर तथा गणधर माने।
श्री कुन्दकुन्द ने पाँचों ही, आधार संघ चउ के माने।।
कृतिकर्म सहित इनका वंदन, पापों का नाश कराता है।
निर्जरा पूर्व कर्मों की कर, शुभ कर्म बन्ध करवाता है।।

अर्थ–आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इनको कृतिकर्म विधिपूर्वक वंदना और भक्ति कर्मों की निर्जरा के लिये करना चाहिये।

भावार्थ–आचार्य, उपाध्याय आदि मुनियों की भक्ति, वंदना, स्तुति से असंख्य पाप कर्मों की निर्जरा हो जाती है अत: गुरुओं की भक्ति सतत करते ही रहना चाहिये। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर संघ में ये पाँच पद मूलाचार में माने गये हैं।

1.15 भक्ति श्रावक और मुनि दोनों करते हैं–

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहिं पण्णत्तं।।

(नियमसार गाथा-134)

जो श्रावक या मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चरित भक्ती करते।
वे ही निर्वाण भक्ति करके, क्रम से मुक्तीश्री को वरते।।
व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय, के अधिकारी मुनि ही हैं।
लेकिन भक्ती के अधिकारी, श्रावक अरु मुनि दोनों ही हैं।।

अर्थ–जो श्रावक या मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भक्ति करते हैं उनके ही निर्वाण भक्ति-मुक्ति की भक्ति या प्राप्ति होती है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ–नियमसार ग्रन्थ में श्रीकुन्दकुन्ददेव ने चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन किया है पुनः आगे पाँचवें अधिकार से ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चय प्रतिक्रमण आदि का वर्णन किया है। इस पूरे ग्रन्थ में परम भक्ति अधिकार में श्रावक का नाम लिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय के अधिकारी मुनि ही हैं किन्तु भक्ति के अधिकारी श्रावक भी हैं और मुनि भी हैं।

1.16 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-श्री कुन्दकुन्ददेव ने कितनी भक्तियाँ बनाई हैं ?

(क) आठ ☐
(ख) चौबीस ☐
(ग) दस ☐

प्रश्न 2-पूरे ढाईद्वीप में एक साथ कितने तीर्थंकर हो सकते हैं ?

(क) चौबीस ☐
(ख) एक सौ सत्तर ☐
(ग) एक सौ साठ ☐

प्रश्न 3-चौबीस तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्र कितने हैं ?

(क) 24 ☐
(ख) 20 ☐
(ग) 5 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-परम स्थान कितने और कौन-कौन से हैं ? इनमें से किसके बिना आगे के स्थानों की प्राप्ति सम्भव नहीं है ?

प्रश्न 2-संहरण सिद्ध किसे कहते हैं ? सिद्धों की वन्दना करते हुए सिद्धभक्ति में कौन सी गाथा कही गई है ?

प्रश्न 3-वीतराग भगवान से याचना करना क्या दोषास्पद है ? इसे स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 4-भक्ति कौन-कौन करता है ? इसे नियमसार की गाथा द्वारा स्पष्ट कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-भगवान एवं गुरुओं की भक्ति से किस प्रकार कर्म निर्जीर्ण होते हैं, सविस्तार परिभाषित कीजिए ?

पाठ 2 – श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा प्रतिपादित श्रावक धर्म

2.1 चारित्र के दो भेद–

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं, जिणणाणसदेसियं तं पि।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-5)

शंभु छन्द–

सम्यक्त्वचरण चारित्र प्रथम, श्री जिनवर ने उपदेशा है।
जो सम्यग्दर्शन और ज्ञान, से शुद्ध चरित निर्देशा है।।
दूजा है संयमचरण चरित जो, सकल-विकल द्वयरूप कहा।
जिनज्ञान देशना से विकसित, चरणानुयोग में यही कहा।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव भाषित ज्ञान-दर्शन से शुद्ध पहला सम्यक्त्वचरण चारित्र है और दूसरा संयमचरण चारित्र है वह भी जिनेन्द्रदेव के ज्ञान से उपदेशित शुद्ध है।

भावार्थ–इस सम्यक्त्वचरणचारित्र में शंका, कांक्षा आदि आठ दोष और तीन मूढ़ता आदि सर्वदोष छोड़कर नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ गुणों को धारण करना होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि के यह सम्यक्त्वचरण ही होता है न कि स्वरूपाचरण, क्योंकि पूर्वाचार्यों के वचनों के अनुसार ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

2.2 सम्यक्त्वचरण चारित्र का लक्षण–

तं चेव गुणविसुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-8)

ऐसी वाणी को जो जिनवर के, वचन मान श्रद्धान करें।
नि:शंकितादि गुण से विशुद्ध, वास्तविक तत्त्व का ज्ञान करें।।
वह ही सम्यक्त्वचरण चारित्र, अवस्था प्रथम कहाती है।
यह मोक्ष प्राप्ति के साधन में, पहली सीढ़ी बन जाती है।।

अर्थ–वही जिन भगवान का श्रद्धान जब नि:शंकित आदि गुणों से विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है, तब वही प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र कहलाता है। यह चारित्र मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ–वात्सल्य, विनय, दया, दान, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, पर के दोषों को ढकना——उपगूहन, स्थितिकरण और आर्जव भाव ये सब सम्यक्त्व के गुण हैं। शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता इन पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन विशुद्ध कहलाता है। ऐसे सम्यक्त्वी के सम्यक्त्वचरण चारित्र होता है।

2.3 सम्यग्दर्शन का लक्षण–

हिंसारहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पावयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-90)

जीवों की दया स्वरूप अहिंसा, धर्म में जो श्रद्धान करे।
अठरह दोषों से रहित, वीतरागी देवों का ध्यान करे।।
निर्ग्रन्थ गुरू अर्हत्प्रवचनमय, जिनवाणी का श्रद्धानी।
सम्यग्दर्शन से युक्त उसे ही, बतलाती है प्रभुवाणी।।

अर्थ–हिंसारहित धर्म में, अठारह दोषरहित देव में, निर्ग्रंथ गुरु में और अर्हंत के प्रवचन—जिनशास्त्र में जो श्रद्धा है, वही सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ–जीव दया ही धर्म है। अठारह दोषों से रहित वीतरागी, हितोपदेशी, सर्वज्ञ भगवान ही देव हैं। दिगम्बर मुद्राधारी मुनि ही गुरु हैं और जिनागम ही सच्चे शास्त्र हैं। इनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है जो कि मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है।

2.4 संयम के दो भेद–

दुविहं संजमचरणं, सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे, परिग्गहारहिय खलु णिरायारं।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-21)

सागार और अनगाररूप, संयम के हैं दो भेद कहे।
इनके पालन से श्रावकमुनि, दोनों ही शिव का मार्ग लहें।।
सागार चरित सग्ग्रंथ श्रावकों, में ही माना जाता है।
अनगार चरित निर्ग्रन्थ दिगम्बर, मुनियों में बन जाता है।।

अर्थ–सागार और अनागार के भेद से संयमचरण चारित्र दो प्रकार का है। उनमें से सागारचारित्र परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार चारित्र परिग्रह रहित मुनियों के होता है।

भावार्थ–श्रावक धर्म और मुनि धर्म के भेद से संयम के दो भेद माने हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावक के 12 व्रत होते हैं। (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है।) दिग्व्रत, अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और अंतिम सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं। श्री गौतमस्वामी ने और श्रीकुन्दकुन्ददेव ने शिक्षाव्रत में ही सल्लेखना को लिया है।

2.5 श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम–

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य।।

(चारित्रपाहुड़ गाथा-22)

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में, दर्शन-व्रत-सामायिक है।
प्रोषध-सचित्त का त्याग रात्रि-भोजन का त्याग आदि भी है।।
शुभ ब्रह्मचर्य-आरम्भत्याग, परिग्रह-अनुमति-उद्दिष्टि त्याग।
इनके पालन से देशव्रती, श्रावक, पा जाते चरम त्याग।।

अर्थ–दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये देशविरत श्रावक के ग्यारह भेद हैं।

भावार्थ–इन ग्यारह स्थानों को प्रतिमा भी कहते हैं। इनमें से छह प्रतिमा तक व्रतों का पालन गृहस्थ भी कर सकते हैं, यह जघन्य श्रावक हैं। ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर नवमीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक होते हैं और अंतिम दो प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा में भी क्षुल्लक और ऐलक ये दो भेद होते हैं। पहली प्रतिमा में गुणों से सहित, दोषों से रहित सम्यक्त्व प्रधान है और दूसरी प्रतिमा में अणुव्रत आदि बारह व्रत लिये जाते हैं।

2.6 सम्यग्दृष्टि के चवालीस दोष नहीं होते–

मयमूढ़मणायदणे, संकाइवसणभयमईयारं।
जेसिं चउदालेदे, ण संति ते होंति सद्दिट्ठी।।

(चौबीस तीर्थंकर भक्ति गाथा-1)

मद आठ मूढ़ता तीन अनायतनं, छह अठ शंकादि दोष।
भय सात व्यसन भी सात पंच, अणुव्रत के जो अतिचार दोष।।
ये सभी चवालिस दोष दूर, करके जो सम्यग्दृष्टि बनें।
वे शिवपथगामी बन करके, क्रम-क्रम से सारे कर्म हनें।।

अर्थ–आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंका आदि आठ दोष, सात व्यसन, सात भय और पाँच अणुव्रतों के पाँच अतिचार, ये चवालीस दोष जिनके नहीं होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

भावार्थ–जाति, कुल, रूप, विद्या, ऐश्वर्य, ज्ञान, बल और तप इनके निमित्त से अहंकार करना ये आठ मद हैं। देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखण्डमूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके आश्रितजन ये छह अनायतन हैं। शंका आदि आठ दोष हैं। जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या-सेवन, शिकार, चोरी और परस्त्रीसेवन ये सात व्यसन हैं। इहलोक, परलोक, मरण, अगुप्ति, अरक्षा, वेदना और आकस्मिक ये सात भय हैं। पाँच अणुव्रत के पाँच अतिचार समेत इन 44 दोषों को दूर करना चाहिए।

2.7 श्रावक का धर्म दान और पूजा है–

दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झययं मुक्खं, जइ-धम्मे तं विणा तहा सो वि।।

(रयणसार गाथा-10)

दाणं पूजा मुक्खो श्रावक के, धर्म प्रमुख कहलाते हैं।
क्योंकि इनसे विरहित मानव, श्रावक संज्ञा नहिं पाते हैं।।
मुनि पदवी में हैं ध्यान और, अध्ययन प्रमुख जाने जाते।
क्योंकि इनसे विरहित साधू, नहिं मुनी अवस्था को पाते।।

अर्थ–श्रावक धर्म में दान और पूजा ये दो मुख्य हैं, क्योंकि इनके बिना श्रावक नहीं हो सकते हैं। मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य हैं क्योंकि इनके बिना मुनि नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ–श्रावक के दान, पूजा, शील और उपवास ये चार धर्म हैं। सम्यक्त्व सहित ये चारों ही क्रियाएँ परम्परा से मोक्ष के लिये कारण हैं। इनमें अथवा देव-पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह क्रियाओं में भी दान और पूजा ये दो क्रियाएँ श्रावक को नित्य करनी ही चाहिए।

2.8 आहारदान में पात्र-अपात्र का विचार नहीं करना चाहिए-

दाणं भोयणमेत्तं, दिण्हई धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं, संदंसणे किं वियारेण।।

(रयणसार गाथा-14)

श्रावक मुनि को आहार मात्र, दे करके धन्य कहाता है।
नहिं पात्र-अपात्र विचार करे, वह ही भाक्तिक कहलाता है।।
मुद्रा सर्वत्र पूज्य होती, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिवर की।
आहार मात्र देने हेतू, नहिं उचित परीक्षा यतिवर की।।

अर्थ-गृहस्थ भोजन मात्र दान देता है और धन्य हो जाता है अतः मुनि के दर्शन मिलने पर यह पात्र है या अपात्र है ? ऐसा विचार करने से क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ-पिच्छी-कमण्डलुधारी दिगम्बर मुनि को देखकर उन्हें आहारदान देना चाहिये। यह पात्र है या नहीं ? सच्चे मुनि हैं या शिथिलचारित्री ? इन बातों का विचार नहीं करना चाहिये। कहा भी है-'**भुक्तिमात्र प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनां**'। आहारमात्र देने के लिये तपस्वियों की क्या परीक्षा करना ? अतः आज के मुनियों को भक्ति से आहारदान देना उचित है।

2.9 श्रावकों की त्रेपन क्रियाएँ-

गुणवयतवसमपडिमा-दाणं, जलगालणं अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।

(रयणसार गाथा-137)

गुण व्रत तप समता दान और, प्रतिमा आदिक बतलाई हैं।
जलगालन रात्रीभुक्ति-त्याग, रत्नत्रयरूप कहाई हैं।।
ये भेदरूप श्रावक की त्रेपन, क्रिया नहीं हैं आगम में।
इनके त्रेपन व्रत भी होते, जो बतलाए जिनशासन में।।

अर्थ-अष्टमूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, समता भाव, ग्यारह प्रतिमाएं, चार दान, पानी छानकर पीना, रात्रिभोजन नहीं करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये श्रावकों की त्रेपन क्रियाएँ कही गयी हैं।

भावार्थ-पाँच उदम्बर, तीन मकार—मद्य, माँस, मधु का त्याग करना ये आठ मूलगुण हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश तथा प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये बारह तप हैं। ग्यारह प्रतिमा के नाम आ चुके हैं। आहार, औषधि, शास्त्र और अभय ये चार दान हैं। इन त्रेपन क्रियाओं के त्रेपन व्रत भी किये जाते हैं।

आत्मा के तीन भेद-

तिपयारो सा अप्पा, परभिंतरबाहिरो दु हेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवायेण चयहि बहिरप्पा।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-4)

बहिरात्मा अन्तर आत्मा, परमात्मा से आत्मा त्रय विध है।
पुद्गल शरीर में छिपी हुई, आत्मा निश्चय से ही प्रभु है।।

बहिरात्म अवस्था को तजकर, अन्तर आत्मा बनना चहिए।
अन्तर आत्मा के द्वारा परमात्मा, का पद लहना चहिए।।

अर्थ–यह आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तर आत्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन से रहित परवस्तु को अपनी मानने वाला बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि होकर अपनी आत्मा को ही अपनी समझकर क्रम से चारित्र में बढ़ने वाले अन्तरात्मा हैं और अर्हंत-सिद्ध भगवान परमात्मा हैं। पहले गुणस्थान से तीसरे तक बहिरात्मा हैं। चौथे गुणस्थान से बारहवें तक अन्तरात्मा हैं। इनमें भी चौथे गुणस्थानवर्ती जघन्य, पाँचवें से ग्यारहवें तक मध्यम और बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अंतरात्मा हैं। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

2.10 बहिरात्मा संसार में भ्रमण करता है–

पुत्तकलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पापबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदिसंसारे।।

(द्वादश अनुप्रेक्षा गाथा-30)

जो पुत्र-कलत्रादिक निमित्त से, धन का अर्जन करते हैं।
जो पापबुद्धि से निजकुटुम्ब का, पालन-पोषण करते हैं।।
जो जीवदया अरु दान आदि, विरहित बहिरात्मा होते हैं।
वह जीव भवभ्रमण कर-करके, मानव जीवन को खाते हैं।।

अर्थ–जो जीव पुत्र, स्त्री आदि के निमित्त पापबुद्धि से धन का उपार्जन करता है, जीव दया और दान को छोड़ देता है, वह संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है।

भावार्थ–जो अपने कुटुम्ब के पोषण के लिये ही पाप करके—झूठ, चोरी करके धन कमाता है और जीव दया आदि अणुव्रतों को धारण नहीं करता है एवं धन को दान में नहीं लगाता है वह संसार में ही घूमता रहता है, यह बहिरात्मा का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती श्रावक और महाव्रती मुनि अन्तरात्मा हैं।

2.11 तीनों लोकों में जीव का भ्रमण–

तेयाला तिण्णिसया, रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं।
मुत्तूणट्ठपएसा, जत्थ ण ढुरुढुल्लियो जीवो।।

(भावपाहुड़ गाथा-36)

यह लोक तीन सौ तैंतालीस, राजू प्रमाण है कहा गया।
इसके मधि आठ प्रदेशों को, तज सभी जगह यह जीव गया।।
मेरू पर्वत की जड़ में आठ, प्रदेश नित्य ऐसे रहते।
बस उनको तज सम्पूर्ण लोक में जीव जन्म लेते रहते।।

अर्थ–तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण लोक क्षेत्र में मध्य के आठ प्रदेशों को छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नहीं है कि जहाँ इस जीव ने भ्रमण नहीं किया हो।

भावार्थ–यह लोक तीन सौ तेंतालीस (343) राजू प्रमाण है। असंख्यात योजनों का एक राजू होता है। सुमेरू की जड़ में लोकाकाश के मध्य के आठ प्रदेश हैं। उन आठ प्रदेशों को छोड़कर बाकी इस असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में यह जीव सम्यक्त्व के बिना अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। जब केवली समुद्घात होता है तब आत्मा के मध्य के

आठ प्रदेश सुमेरू की जड़ के आठ प्रदेशों में स्थित हो जाते हैं बाकी सर्व प्रदेश सर्व लोकाकाश में फैल जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये लोकानुयोग का ज्ञान करना आवश्यक है।

2.12 शरीर में कितने रोग होते हैं–

एक्केक्केंगुलिवाही, छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे, रोया भण कित्तिया भणिया।।

(भावपाहुड़ गाथा-37)

मानव शरीर के इक-इक अंगुल-मात्र प्रदेशों में जानो।
इतने लघुकाय प्रदेशों में, छ्यानवें रोग होते मानो।।
तब मानव का शरीर कितने, रोगों से देखो भरा हुआ।
हे जीव! अपावन इस शरीर में, पावन आत्मा छिपा हुआ।।

अर्थ–मनुष्य के शरीर के एक-एक अंगुलमात्र प्रदेश में जब छियानवे-छियानवे रोग होते हैं तब शेष समस्त शरीर में कितने-कितने रोग कहे जा सकते हैं। हे जीव! यह तू जान।

भावार्थ–मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल बराबर स्थान में छियानवे-छियानवे रोग माने गये हैं तो पूरे शरीर में संख्यात रोग माने गये हैं अतः इस शरीर को रोगों की खान समझकर इससे संयम की साधना करके मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही उचित है। अन्यत्र सर्व रोगों की संख्या 56899584 प्रमाण कही गयी है। इस रोगी, क्षणिक, अपवित्र शरीर से ही पूर्ण स्वस्थ, अविनाशी, शुद्ध पवित्र आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

2.13 अंतर्मुहूर्त में क्षुद्रभवों की संख्या–

छत्तीसं तिण्णिसया, छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अंतोमुहुत्तमज्झे, पत्तोसि णिगोयवासम्मि।।

(भावपाहुड़ गाथा-28)

हे जीव निगोदवास में तूने, इक अन्तर्मुहूर्त भीतर।
छ्यासठ हजार त्रयशत छत्तिस, भव धारण किए सोच अन्तर।।
यह जीव निगोदवास में जाने, कितने काल बिताता है।
रत्नत्रय के प्रयास बल पर, मृत्युंजय पदवी पाता है।।

अर्थ–हे जीव! तूने निगोदवास में अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण प्राप्त किया है।

भावार्थ–एक श्वांस के अठारहवें भागप्रमाण सबसे जघन्य आयु से लेकर जन्म-मरण करना क्षुद्रभव कहलाता है। अड़तालीस मिनट के अन्दर ही काल में एक जीव के उपर्युक्त संख्या प्रमाण जन्म-मरण हो जाते हैं अतः इन क्षुद्रभवों से डरकर ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे बार-बार जन्म-मरण ही न करना पड़े। वह उपाय रत्नत्रय ही है इससे ही मृत्युंजय पद प्राप्त किया जाता है।

2.14 अकालमृत्यु कैसे होती है ?

विसवेयणरत्तक्खय, भयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं, णिरोहणा खिज्जए आऊ।।

(भावप्राभृत गाथा-25)

विष खाने तीव्र वेदना से, रक्तक्षय भय शस्त्रादिक से।
संक्लेश आहार निरोध और, स्वासोच्छ्वासादिक रुकने से।।
इन विविध हेतुओं से अकाल, मृत्यू परमागम में मानी।
इसके निर्वारण में भक्ती, औषधि भी है निमित्त मानी।।

अर्थ–विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र ग्रहण, संक्लेश, आहार-निरोध और श्वासोच्छ्वास के निरोध आदि से आयु का क्षय हो जाता है।

भावार्थ–विष खा लेने से, तीव्र वेदना के उठ जाने से, शरीर से खून अधिक निकल जाने आदि कारणों से अकाल में ही आयु की उदीरणा होकर अकाल मृत्यु अपमृत्यु हो जाती है। आज जो अकालमरण का निषेध करते हैं तो उन्हें यह गाथा कंठाग्र कर लेनी चाहिये। उत्तरपुराण में कहा है कि महाभारत के युद्ध में सर्वाधिक अकालमृत्यु हुई है। अकालमृत्यु के निवारण हेतु औषधि आदि प्रयोग व चिकित्साशास्त्र भी माने गये हैं।

2.15 वीरमरण से मरना चाहिये–

धीरेण वि मरिदव्वं, णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं, वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं।।

(मूलाचार गाथा-100)

हो धैर्यरहित या धैर्यसहित, सबको ही मरना पड़ता है।
यदि मरना आवश्यक है तो, धीरजयुत मरना अच्छा है।।
संन्यासविधी से वीरमरण, करना समाधि कहलाती है।
इसके विपरीत मरण से भव, की परम्परा बढ़ जाती है।।

अर्थ–धैर्यशाली को भी मरना पड़ता है और नियम से धैर्यरहित जीव को भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो धैर्यसहित होकर ही मरना अच्छा है।

भावार्थ–मरण से डरने वाले जीव धैर्य छोड़कर हा-हाकार करते हैं, रोते-धोते हैं तो भी मरते ही हैं, उन्हें मरण से कोई बचा नहीं सकता है और मरने से नहीं डरने वाले धीर-वीर मनुष्य भी मरते ही हैं। पुनः धैर्य धारण कर सन्यास विधि से मरण करना ही अच्छा है ऐसे वीरमरण से तो संसार की परम्परा ही समाप्त हो जाती है और पुनः-पुनः मरना नहीं पड़ता है। इससे विपरीत अधीर होकर मरने से जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती ही चली जाती है।

2.16 यह जीव अकेला ही जन्म-मरण करता है–

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादिमरणं, एगो सिज्झदि णीरयो।।

(नियमसार गाथा-101)

यह जीव अकेला मरता है, अरु जन्म अकेला ही पाता।
इक जीव के जन्म-मरण होते, इकला ही मुक्ती में जाता।।
ऐसी एकत्व भावना ही, संसार भ्रमण छुड़वाती है।
पर से ममत्व का भाव हटा, आत्मा का भान कराती है।।

अर्थ–जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है। एक जीव के ही यह जन्म-मरण होता है और अकेला ही यह जीव कर्मरहित होता हुआ सिद्धपद प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ–यह एकत्व भावना ही जीव को मुक्ति के मार्ग में लगा देती है और संसार के बन्धन को छुड़ा देती है। इस भावना के द्वारा परिवार से या शिष्यपरिकर से मोह छूटता है तथा शरीर से भी निर्ममता बढ़ती है अतः प्रतिदिन तो क्या, प्रतिक्षण भी इसकी भावना भाते रहना चाहिये।

2.17 जिनवचन ही परम औषधि है–

जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।

(दर्शनपाहुड़ गाथा-17)

जिनदेव वचन औषधि स्वरूप, इन्द्रिय सुख त्याग कराती है।
यह है ऐसी अमृतवाणी, जरमरण व्याधि नश जाती है।।
क्या और कहें इस वाणी से, सब दुःखों का क्षय हो जाता।
केवल सुनने से नहिं प्रत्युत्, गुनने से ही फल दिलवाता।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव के वचन औषधिस्वरूप हैं। विषय सुखों का विरेचन–– त्याग कराने वाले हैं, बुढ़ापा-मरण आदि की पीड़ा को दूर करने वाले हैं तथा समस्त दुःखों का क्षय करने वाले हैं।

भावार्थ–जिनागम के स्वाध्याय से विषय सुखों से वैराग्य होता है, यह ज्ञान ही परम औषधिस्वरूप होने से अमृततुल्य है। जन्म, जरा, मरण आदि को दूर करके संसार के सर्व दुःखों से छुड़ाने वाला है और तत्काल में भी शांति देने वाला है। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है, मोक्षमार्ग में प्रीति होती है, आत्मा के स्वरूप की पहचान होती है और परिणामों में दृढ़ता आती है।

2.18 व्रत से स्वर्ग जाना अच्छा है–

वरवयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-25)

व्रत और तपस्या के द्वारा, स्वर्गादि प्राप्त करना अच्छा।
लेकिन अव्रत और बिना तपस्या, नरक में जाना नहिं अच्छा।।
छाया व धूप में खड़े प्रतीक्षक, दो नर में कितना अन्तर।
वैसे ही मोक्ष प्रतीक्षा में, व्रत-अव्रत में भारी अन्तर।।

अर्थ–व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त करना अच्छा नहीं है। देखो! छाया और धूप में बैठकर इष्ट पुरुष की प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा अन्तर है।

भावार्थ–अणुव्रत, महाव्रत लेकर तथा तपश्चरण आदि करके स्वर्ग को प्राप्त करने वाले अच्छे हैं, किन्तु बिना व्रत और बिना तप के भला नरक जाना कौन चाहेगा ? देखो, किसी मित्र की प्रतीक्षा में एक तो छाया में बैठा है और दूसरा घाम–धूप में बैठा है, दोनों में बहुत अन्तर है। ऐसे ही मोक्ष की प्रतीक्षा करते हुए व्रतादि से स्वर्ग में जाना अच्छा है, अव्रती रहकर नरक आदि दुर्गतियों में नहीं जाना चाहिये।

2.19 सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दो से मोक्षमार्ग नहीं है–

ण हि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि।।

(प्रवचनसार गाथा-237)

यदि जीव-अजीवादिक पदार्थ, श्रद्धान न प्राणी करता है।
तो आगमज्ञानमात्र से ही, वह सिद्ध नहीं बन सकता है।।
श्रद्धान पदार्थों का भी यदि, अविरत श्रावक को हो जावे।
तो भी निर्वाण प्राप्त करने में, नहिं समर्थता वो पावे।।

अर्थ–यदि जीवाजीवादि का श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगम के ज्ञान से ही जीव सिद्ध नहीं हो सकता है अथवा पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत—अव्रती है तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ–**''आगमज्ञानतत्त्वार्थसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव।''** आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतावस्था इन तीनों के एकसाथ न होने से 'मोक्षमार्ग' नहीं बन सकता है, क्योंकि रत्नत्रय में मात्र सम्यग्दर्शन और ज्ञान से मोक्षमार्ग नहीं माना गया है, तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दृष्टि अविरति के मोक्षमार्ग के दो ही अवयव हैं इसलिये अविरति को सम्यक्चारित्र ग्रहण करना ही चाहिए।

2.20 वस्त्र सहित वेष में मुनि की चर्या नहीं करना चाहिये–

सूत्तत्थपयविणट्ठो, मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडेवि ण कायव्वं, पाणिप्पत्तं सचेलस्स।।

(सूत्रपाहुड़ गाथा-7)

जो आगम के सूत्रार्थ और, पदज्ञान से विरहित होते हैं।
उनको मिथ्यादृष्टी जानो, वे अज्ञानी ही होते हैं।।
यदि खेल-खेल में भी गृहस्थ, करपात्र में भोजन करते हैं।
वे वस्त्र सहित मुनिचर्या कर, मुनिराज नहीं बन सकते हैं।।

अर्थ–जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित है, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। वस्त्र सहित को क्रीड़ा मात्र में भी पाणिपात्र में भोजन नहीं करना चाहिये।

भावार्थ–जो मुनि बनकर भी वस्त्रधारी हैं अथवा गृहस्थ हैं, ऐसे को साधु मानकर खेल-खेल में भी करपात्र में आहार नहीं देना चाहिये। हाँ, मुनियों की चर्या पालने वाली आर्यिकाओं को करपात्र में आहार लेने का विधान है अत: सवस्त्र मुनि का निषेध समझना चाहिये और गृहस्थों को खेल-खेल में भी करपात्र में आहार, केशलोंच करना, पिच्छी आदि लेने की चर्या नहीं करनी चाहिये।

2.21 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-चारित्र के कितने भेद हैं ?

(क) पांच ☐
(ख) तीन ☐
(ग) दो ☐

प्रश्न 2-सम्यक्त्व के अंगों में से आठवाँ अंग–

(क) प्रभावना ☐
(ख) स्थितिकरण ☐
(ग) वात्सल्य ☐

प्रश्न 3-विशुद्ध सम्यग्दर्शन कितने दोषों से रहित होता है ?

(क) आठ ☐
(ख) पच्चीस ☐
(ग) छह ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते हुए देव-शास्त्र-गुरु की परिभाषा बताइए ? साथ ही यह भी बताइए कि मोक्षमहल की पहली सीढ़ी क्या है ?

प्रश्न 2-संयमचरण चारित्र के कितने भेद हैं, परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 3-सम्यग्दृष्टि के कितने और कौन-कौन से दोष नहीं होते हैं ?

प्रश्न 4-श्रावकों की त्रेपन क्रियाएँ कौन-कौन सी हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आत्मा के तीनों भेदों को बताते हुए बहिरात्मा का लक्षण विस्तारपूर्वक बताइए ? तीनों लोकों में यह जीव किस प्रकार भ्रमण करता है ?

पाठ 3 – मुनियों की सरागचर्या : कुन्दकुन्द की दृष्टि में

3.1 बारह अनुप्रेक्षा–

अद्धुवमसरणमेगत्त-मण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवर णिज्जर, धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो।।

(द्वादशानुप्रेक्षा गाथा-2)

शंभु छन्द–

अध्रुव-अशरण-एकत्व और, अन्यत्व तथा संसार-लोक।
अशुचित्व तथा आस्रव संवर, निर्जरा-धर्म अरु ज्ञान बोध।।
इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का, चिंतन साधू जो करते हैं।
उनकी आत्मा में तीव्ररूप, वैराग्यभाव परिणमते हैं।।

अर्थ–अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि, ये बारह अनुप्रेक्षाएं हैं। इनका हमेशा चिंतवन करना चाहिये।

भावार्थ–इन बारह भावनाओं का जो क्रम है, उसी क्रम से एक-एक का विस्तार से वर्णन किया गया है। यही क्रम श्री आचार्यदेव ने मूलाचार में भी रखा है। आज प्रसिद्धि में जो बारह भावनाओं का क्रम है, वह तत्त्वार्थसूत्र के आधार से है। इन भावनाओं के चिंतवन करने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है और व्यक्ति मुनि, आर्यिका आदि दीक्षा लेकर मोक्षमार्गी बन जाता है। तीर्थंकर भी इन बारह भावनाओं का चिंतवन करके दीक्षा धारण करते हैं, इसलिये ये बारह भावनाएँ महान हैं।

3.2 नियम से धारण करने योग्य रत्नत्रय ही हैं–

णियमेण य जं कज्जं, तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं, भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।

(नियमसार गाथा-3)

जो नियम से करने योग्य कार्य, वह 'नियम' शब्द से कहलाता।
वह दर्शनज्ञान चरित्र ही करने, योग्य कार्य है कहलाता।।
विपरीत अर्थ परिहार हेतु, उसमें भी 'सार' शब्द जोड़ा।
तब 'नियमसार' यह पद सार्थक, बन गया मुक्तिपथ का मोड़ा।।

अर्थ–नियम से जो करने योग्य है वह 'नियम' है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। विपरीत को दूर करने के लिये इसमें 'सार' शब्द जोड़ा गया है। इस प्रकार यह 'नियमसार' पद सार्थक है—सम्यक् रत्नत्रय का वर्णन करने वाला है।

भावार्थ–'नियमसार' ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्यदेव ने नियम का अर्थ रत्नत्रय करके 'सार' का अर्थ 'समीचीन' किया है अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और 'मिथ्याचारित्र' का परिहार करने के लिये 'सार' पद है। नियमसार ग्रन्थ में व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय का वर्णन है।

3.3 साधु को नित्य ही रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये–

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

(समयसार गाथा-16)

साधू को दर्शन-ज्ञान-चरित का, सेवन नित करना चहिये।
व्यवहार रत्नत्रय के बल पर, आत्माराधन करना चहिये।।
निश्चय रत्नत्रय ध्यान में ही, होता यह जिनवर वाणी है।
साधन व्यवहार साध्य निश्चय, यह कुन्दकुन्द की वाणी है।।

अर्थ–साधु को नित्य ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सेवन करना चाहिए और निश्चयनय की अपेक्षा से इन तीनों को आत्मा ही जानना चाहिए।

भावार्थ–व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन हैं और निश्चयनय से इनसे परिणत—एकरूप हुई आत्मा ही निश्चय रत्नत्रय है अत: व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करना चाहिए। यह निश्चय रत्नत्रय ध्यान में होता है अत: व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है, ऐसा आगे कहा गया है।

3.4 सम्यक्त्व एवं आप्त का लक्षण–

अत्तागमतच्चाणं, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्ता।।

(नियमसार गाथा-5)

जो आप्त-जिनागम-तत्त्वों का, दृढ़तापूर्वक श्रद्धान करे।
उसका निर्मल सम्यग्दर्शन, व्यवहार क्रिया का ज्ञान करे।।
सम्पूर्ण दोष से रहित सकल, गुण सहित आप्त कहलाते हैं।
इनसे अतिरिक्त न आप्त कोई, सर्वज्ञदेव बतलाते हैं।।

अर्थ–आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। सर्व दोषों से रहित और सकल गुणों से सहित आत्मा ही आप्त कहलाती है।

भावार्थ–सम्पूर्ण दोषों से रहित भगवान ही वीतरागी होते हैं। इनमें से क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष प्रमुख हैं। सर्वगुणों से सहित कहने से सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये दोनों आ जाते हैं क्योंकि उनके द्वारा कथित वचन ही आगम कहलाते हैं, ऐसा आगे कहेंगे इसलिये वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता इन तीन गुणों से युक्त जो होते हैं, वे ही आप्त हैं और वे अर्हंतदेव ही हो सकते हैं, अन्य कोई नहीं। यहाँ यह व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण द्वितीय प्रकार से कहा गया है।

3.5 आगम एवं तत्त्व का लक्षण–

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

(नियमसार गाथा-8)

सर्वज्ञदेव के मुख से निकले, वचन जिनागम कहलाते।
पूर्वापर दोषों से विरहित, निर्दोष वचन वे बतलाते।।
आगम में जो वर्णित होता, वह ही तत्त्वार्थ कहलाता है।
उसमें ही श्रद्धा करने से, सम्यग्दर्शन कहलाता है।।

अर्थ–आप्त के मुख से निकले हुए वचन ही 'आगम' कहलाते हैं। यह आगम पूर्व–अपर दोषों से रहित और शुद्ध—निर्दोष है। इस आगम में कहे गये 'तत्त्वार्थ' होते हैं।

भावार्थ–सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित वाणी ही जिनवाणी है। उसमें छह द्रव्यों का वर्णन है– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। नियमसार में इन छह द्रव्यों को ही 'तत्त्वार्थ' कहा है। कालद्रव्य को छोड़कर ये ही पाँच द्रव्य 'पाँच अस्तिकाय' कहलाते हैं। नियमसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थ में भी आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने यह सम्यक्त्व का लक्षण व्यवहारप्रधान किया है।

निश्चयनयानुसार जीव के गुणस्थानादि नहीं हैं—

चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरणरोयसोका य।
कुलजोणिजीवमग्गण, ठाणा जीवस्स णो संति।।

(नियमसार गाथा-42)

चारों गतियों में भ्रमण जन्म, अरु मरण जीव यह करता है।
जर-रोग-शोक-कुल-योनि-मार्गणा, गुणस्थान में रहता है।।
व्यवहारनयाश्रित कर्म उदय से, जीव के ही ये भाव कहें।
लेकिन निश्चयनय से कोई भी, भाव जीव के नहीं कहें।।

अर्थ–चार गति में भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थान ये जीव के नहीं हैं।

भावार्थ–नरक आदि गतियों में भ्रमण करना, जन्म, मरण, रोग, शोक, कुल, चौरासी लाख जातियाँ, चौदह जीवसमास, गति, जाति, आदि मार्गणायें और गुणस्थान आदि जो भी जीव के माने गये हैं, वे सब व्यवहारनय से कर्मों के उदय से ही माने गये हैं निश्चयनय से नहीं, क्योंकि आगे आचार्यदेव स्वयं नय विवक्षा खोल रहे हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहारनय से ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था है।

3.6 शुद्धनय की भावना–

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जय लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदी णेया।।

(नियमसार गाथा-48)

जीवात्मा अशरीरी अविनाशी, और अतीन्द्रिय कहलाता।
निर्मल विशुद्ध आत्मा निश्चय-नय से भगवान कहा जाता।।
जैसे लोकाग्र भाग पर स्थित, सिद्ध मुक्त आत्मा माने।
वैसे ही शुद्ध नयाश्रय से, संसारी भी जाते जाने।।

अर्थ–यह जीव शरीर रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, कर्ममल रहित है और विशुद्ध है, जैसे लोक के अग्रभाग पर सिद्ध भगवान स्थित हैं वैसे ही संसार में भी ये जीव शुद्ध हैं, ऐसा जानना।

भावार्थ–शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सभी संसारी जीव सिद्धों के समान ही शुद्ध हैं। यह कथन शक्ति की अपेक्षा से समझना जैसे कि दूध में घी है इत्यादि। व्यवहारनय से अग्नि के संयोग से जल उष्ण है और उष्ण जल भी शुद्धनय से शीतल है, फिर भी उबलते जल को छूने से हाथ जलता ही जलता है अतः व्यवहारनय मिथ्या नहीं है। नहीं तो संसार में ही जीव मुक्त हैं तो पुनः मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ का उपदेश क्यों दिया गया है ?

3.7 दोनों नय सापेक्ष हैं–

एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा।।

(नियमसार गाथा-49)

जीवों की यही अवस्थाएँ, व्यवहारनयापेक्षा मानी।
इन संसारी पर्यायों का, वर्णन करती है जिनवाणी।।
नय शुद्ध दृष्टि से संसारी, आत्मा भी सिद्धस्वभावी है।
यदि अपनी शक्ति प्रगट कर लें, तो बनते सिद्धस्वभावी हैं।।

अर्थ–ये सभी भाव व्यवहारनय की अपेक्षा से ही कहे गये हैं। शुद्धनय से तो संसार में सभी जीव सिद्ध स्वभाव वाले ही हैं।

भावार्थ–चार गति आदि में भ्रमण करने आदि रूप सभी अवस्थायें व्यवहार नय की अपेक्षा से ही शास्त्र में कही गई हैं। सारा द्वादशांग जीव की इन संसारी पर्यायों का ही वर्णन करता है फिर भी शुद्धनय से संसार में रहते हुये भी सभी संसारी प्राणी सिद्ध ही हैं। वे चाहे नारकी हों या पशु, चाहे भव्य हों या अभव्य अतः जैन सिद्धान्त के नय कथन को अच्छी तरह समझना चाहिये अन्यथा एकांती निश्चयाभासी होकर अपना ही घात कर लेंगे इसलिये जैनेश्वरी दीक्षा लेकर आत्मा को शुद्ध करना चाहिये।

3.8 दिगम्बर मुनियों के मूलगुण–

पंचय महव्वयाइं, समिदीओ पंच जिणवरूद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा, छप्पि य आवासया लोओ।।

(मूलाचार गाथा-2)

हैं पाँच महाव्रत पाँच समिति, इन्द्रिय निरोध भी पाँच कहे।
छह आवश्यक अरु केशलोच, मुनियों के ये गुण मूल कहे।।
इनसे संयुक्त दिगम्बर मुनि, संयम उपकरण पिच्छि धरते।
शौचोपकरण प्रासुक जल युत, इक कमण्डलु को भी रखते।।

अर्थ–पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक क्रियाएँ और केशलोंच–ये जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के मूलगुण कहे हैं।

भावार्थ–यहाँ बाईस मूलगुणों के नाम हैं, शेष छह अगली गाथा में हैं। इन मूलगुणों के साथ दिगबर मुनि संयम का उपकरण मयूरपंख की पिच्छिका और शौच का उपकरण काठ का कमण्डलु रखते हैं। यह दिगम्बर मुद्रा जिनमुद्रा या अर्हंतमुद्रा कहलाती है। यह मुद्रा तीनों लोकों में पूज्य मानी गयी है।

दिगम्बर मुनियों के शेष मूलगुण–

आचेलकमण्हाणं, खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं, मूलगुणा अट्ठवीसा दु।।

(मूलाचार गाथा-3)

वस्त्रों को त्याग अचेलक हैं, स्नान नहीं वे करते हैं।
क्षितिशयन अदंतधवन खड्गासन, से वे भोजन करते हैं।।

निजपाणिपात्र में एक बार, दिन में आहार ग्रहण करते।
सब मिल अट्ठाइस मूलगुणों का, यतिवर हैं पालन करते।।

अर्थ–आचेलक्य—वस्त्र का त्याग, अस्नान—स्नान नहीं करना, क्षितिशयन—भूमि पर सोना, अदंतधावन—दंत मंजन आदि का त्याग, स्थितिभोजन—खड़े होकर भोजन करना और एकभक्त—दिन में एक बार भोजन करना, पिछली गाथा से सम्बन्धित महाव्रत आदि ये अट्ठाईस मूलगुण हैं।

भावार्थ–श्री जिनेन्द्रदेव ने पाँच महाव्रत से लेकर एकभक्त तक अट्ठाईस मूलगुण कहे हैं, ये मुनियों के मूलगुण हैं। इसमें भूमिशयन से घास, चटाई, पाटा भी लिये जाते हैं और आचेलक्य से सर्व प्रकार के वस्त्र, आभूषण का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा ग्रहण की जाती है।

3.9 सावधान मुनि पापों से नहीं बँधते–

मरदु व जिवदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदीसु।।

(प्रवचनसार गाथा-217)

जीवों के मरने-जीने में, यदि यत्नाचार नहीं पाला।
प्राणीवध नहीं हुआ तो भी, हिंसा का पाप कमा डाला।।
जो यत्नाचार सहित मुनिवर, समिती में वर्तन करते हैं।
यदि हिंसा भी हो जाए कदाचित्, नहीं बंध वे करते हैं।।

अर्थ–जीव मरे या जिये किन्तु सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति न करने वाले के नियम से हिंसा होती है और प्रयत्नपूर्वक समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के हिंसामात्र से भी बंध नहीं होता है।

भावार्थ–मुनिराज चार हाथ आगे जमीन देखकर चलते हैं, कदाचित् उनके पैर के नीचे कोई जीव अकस्मात् आकर मर भी जावे तो भी ईर्या समिति से चलते हुए मुनि को पाप बन्ध नहीं होता है और यदि देखकर नहीं चल रहे हैं तब जीव मरे या न मरे किन्तु हिंसा का पाप लग जाता है अतः सावधानीपूर्वक प्रत्येक क्रिया करनी चाहिए।

3.10 मुनियों की क्षमा भावना–

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।।

(मूलाचार गाथा-43)

सब जीवों पर है क्षमा मेरी, सब जीव मुझे भी क्षमा करें।
सबसे है मैत्री भाव मेरा, नहिं वैर किसी से किया करें।।
ऐसी उत्कृष्ट क्षमावाणी, प्रतिदिन साधूगण करते हैं।
प्रतिक्रमण तथा सामायिक में, निज आत्मशुद्धि को करते हैं।।

अर्थ–सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें। सभी जीवों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है।

भावार्थ–यह श्लोक दशलक्षण पर्व के क्षमा दिवस पर तो पढ़ा ही जाता है, दशलक्षण पर्व के समापन के समय क्षमावणी के दिन भी इसे ही पढ़कर सभी जैन नर-नारी परस्पर में क्षमा-याचना करते हैं और आपस के वैरभाव को भुलाकर मैत्रीभाव को स्थापित कर लेते हैं तथा साधुवर्ग प्रतिदिन दिन में पाँच बार सामायिक और प्रतिक्रमण के समय

इसका पाठ करते हैं। यह क्षमा भावना भव-भव के वैरभाव को दूर कर परस्पर में प्रेम भाव स्थापित करती है।

3.11 अट्ठाईस मूलगुण का उपदेश कौन देते हैं ?

बावीसं तित्थयरा, सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण, भवयं उसहो य वीरो य।।

(मूलाचार गाथा-535)

बाईस तीर्थंकर ने सामायिक, संयम का उपदेश दिया।
श्रीवृषभदेव महावीर ने, छेदोपस्थापन संयम भी कहा।।
वृषभेश वीर के शिष्य सरल, अति मूढ़ बुद्धि के धारी थे।
बाकी बाईस जिनवर के शिष्य, उत्तम बुद्धी के धारी थे।।

अर्थ-बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का ही उपदेश देते हैं। भगवान श्री वृषभदेव और भगवान महावीर पुनः छेदोपस्थापना संयम का भी उपदेश देते हैं।

भावार्थ-भगवान ऋषभदेव के शिष्य अति सरल और जड़ स्वभावी थे तथा भगवान महावीर के समय के शिष्य अति कुटिल और मूढ़ हैं अतः ये दोनों ही तीर्थंकर छेदोपस्थापना अर्थात् अट्ठाईस भेदरूप चारित्र का उपदेश देते हैं और भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकर मात्र एक अभेदरूप सामायिक चारित्र का ही उपदेश देते थे क्योंकि इनके शिष्य बुद्धिमान होते थे।

3.12 एकलविहारी मुनि कौन हो सकते हैं ?

तवसुत्तसत्तएगत्त - भावसंघडणधिदिसमग्गो य।
परिआआगमबलिओ, एयविहारी अणुण्णादो।।

(मूलाचार गाथा-149)

तप सूत्र सत्त्व एकत्वभाव, संहनन धैर्य संयुत मुनिवर।
एकलविहार कर सकते हैं, इनसे संयुत दीक्षित यतिवर।।
ये जिनकल्पी कहलाते हैं, इनको नहिं कोई डिगा सकता।
ये परमतपस्वी महामुनी, गुणपार न कोई पा सकता।।

अर्थ-तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण दीक्षा और आगम में बली मुनि एकलविहारी स्वीकार किए गए हैं।

भावार्थ-उत्तम संहनन से सहित तपस्वी, अंग-पूर्व आदि के ज्ञानी महामुनि ही एकलविहारी हो सकते हैं किन्तु आजकल के हीनसंहनन वाले अल्पज्ञानी, धैर्य आदि गुणों से रहित मुनि एकलविहारी नहीं हो सकते हैं। ऐसे मुनियों को संघ में ही रहना चाहिये।

3.13 आज के मुनि एकलविहारी नहीं हो सकते-

सच्छंदगदागदी-सयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य, मा मे सत्तूवि एगागी।।

(मूलाचार गाथा-150)

आगमन गमन सोएँ बैठें, आहार आदि को ग्रहण करें।
मलमूत्र विसर्जन आदि कार्य में, जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करें।।
स्वच्छंद रुचि से जिनकी, वचनालापों में वृत्ति होवे।
ऐसा कोई मेरा शत्रू, एकलविहारी मुनि नहिं होवे।।

अर्थ–गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मल-मूत्रादि विसर्जन करना, इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला है और बोलने में भी स्वच्छंद रुचि वाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे।

भावार्थ–जो मुनि स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला है, वह भले ही मेरा शत्रु ही क्यों न हो किन्तु फिर भी वह एकलविहारी न बने, ऐसी श्रीकुन्दकुन्ददेव की आज्ञा है। यह आज्ञा आज के सभी मुनि-आर्यिकाओं को पालन करनी चाहिये।

3.14 सरागसंयमी मुनियों की चर्या–

वंदणणमंसणेहिं, अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ, ण णिंदिया रायचरियम्मि।।

(प्रवचनसार गाथा-247)

मुनियों को वंदन नमस्कार, उठकर सम्मान आदि करना।
उनके पीछे-पीछे चलना, इत्यादि विनयवृत्ति करना।।
रागी मुनियों के लिये यही, उपचार विनय श्रेयस्कर है।
कर्त्तव्य मानकर करने से, ये पुण्य कार्य क्षेमंकर हैं।।

अर्थ–सराग चारित्र की अवस्था में अपने पूज्य मुनियों की वंदना करना, नमस्कार करना, उन्हें आते हुए देखकर खड़े होना, उनके जाते समय पीछे-पीछे चलना इत्यादि विनय प्रवृत्ति करना तथा उनके श्रम-थकावट को दूर करना यह निंदित नहीं है।

भावार्थ–छठे गुणस्थानवर्ती मुनि-मुनियों की यथायोग्य वंदना करें, उन्हें नमस्कार करें, उन्हें आते देखकर विनय से उठकर खड़े होकर उनका स्वागत करें इत्यादि प्रवृत्तियाँ सरागचारित्रधारी मुनियों के लिये उचित ही हैं। जब मुनियों के लिये यह मार्ग है तब श्रावकों के लिये तो मुनियों की विनय भक्ति, वंदना आदि करना कर्त्तव्य ही है, ये श्रीकुन्दकुन्ददेव के वाक्य हैं।

3.15 शिष्यों का संग्रह आदि मुनियों का कर्त्तव्य है–

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं, जिणिंदपूजोवदेसो य।।

(प्रवचनसार गाथा-248)

दर्शन व ज्ञान उपदेश शिष्य, संग्रह उनका पोषण करना।
जिनवर की पूजा आदि करो, जन-जन को सम्बोधित करना।।
यह सब शुभोपयोगी मुनियों की, चर्या मानी जाती है।
यह मोक्षमार्ग की प्रमुख क्रिया, शास्त्रों से जानी जाती है।।

अर्थ–दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का

उपदेश देना यह सब सरागी मुनि–शुभोपयोगी मुनियों की चर्या है।

भावार्थ–''रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं स्वीकारस्तेषामेव पोषणमशनपानादिचिंता।'' रत्नत्रय की आराधना में तत्पर शिष्यों का संग्रह करना और उनके आहार आदि की चिंता करना इत्यादि संघ व्यवस्था संभालना यह सरागी मुनि आचार्यों की चर्या है, इसके बिना मोक्षमार्ग चल नहीं सकता है। ऐसे ही श्रावकों के लिये दान-पूजा का उपदेश देना शास्त्रसम्मत ही है।

3.16 मुनि निंदक के सम्यग्दर्शन नहीं है–

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं, हवेइ णियमेण जिनवरुद्दिट्ठा।
सिविणे वि ण रुच्चइ, पुण जीवा अच्छंति भवगहणे।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-47)

जिनदेव कथित मुनि लिंग नियम, ये सिद्धि सुख का साधन है।
जो इसे ग्रहण कर लेते हैं, वे ही बन जाते पावन हैं।।
जिन जीवों को यह मुनिमुद्रा, नहिं स्वप्न मात्र में रुचती है।
वह भव वन में ही भ्रमण करें, उनकी नैया नहिं तिरती है।।

अर्थ–जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट जिनमुद्रा—दिगम्बर मुद्रा नियम से सिद्धिसुख स्वरूप है। जिन जीवों को यह मुनिमुद्रा स्वप्न में भी नहीं रुचती है, वे संसाररूपी गहन वन में ही भ्रमण करते रहते हैं।

भावार्थ–जो दिगम्बर मुनियों के प्रति स्वप्न में भी द्वेष या अनादर भाव करते हैं वे सम्यग्दर्शन से दूर हैं, उनका संसार भ्रमण नष्ट नहीं होगा क्योंकि यह मुनि—मुद्रा ही मोक्ष के लिये कारण है। मुनि—निंदा और सम्यग्दर्शन ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते, इनमें परस्पर विरोध है, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

3.17 पंचमकाल के अन्त तक मुनि रहेंगे–

भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेई साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे, ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-76)

इस भरतक्षेत्र में आज भी, पंचम काल में मुनिवर दिखते हैं।
आत्मस्वभाव में रत होकर, वे धर्मध्यान को करते हैं।।
जो नहीं मानते मुनि उन्हें, अज्ञानी वे कहलाते हैं।
चउविध संघ पंचमकाल, अंत तक रहेगा श्रुत बतलाते हैं।।

अर्थ–इस भरतक्षेत्र में आज दु:षमकाल में आत्मस्वभाव में स्थित हुए साधु को धर्मध्यान होता है, जो उन्हें नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं।

भावार्थ–आज भी पंचमकाल में भावलिंगी दिगम्बर मुनि हैं और पंचमकाल के अन्त तक रहेंगे, ऐसा जो नहीं मानते हैं और आज के मुनियों को नमस्कार नहीं करते हैं वे अज्ञानी जिनमत से बहिर्भूत हैं। श्रीकुन्दकुन्ददेव के वचनों को नहीं मानने से मिथ्यादृष्टि हैं। पंचमकाल के अन्त तक मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकारूप से चतुर्विध संघ रहेगा, ऐसा तिलोयपण्णत्ति में भी कहा है।

3.18 आज के मुनि लौकांतिक देव तक हो सकते हैं–

अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-77)

तीनों रत्नों से शुद्ध दिगम्बर, मुनि आज भी होते हैं।
आत्मा को ध्याकर इन्द्रों का, पद लौकान्तिक भी होते हैं।।
वहाँ से आकर नरभव पाकर, निर्वाण प्राप्त वे कर लेंगे।
इस युग में भी इक भव अवतारी, बनने वाले गुरु होंगे।।

अर्थ–आज भी तीन रत्न से शुद्ध दिगम्बर मुनि आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं पुनः वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–श्रीकुन्दकुन्ददेव के सामने भी कुछ ऐसे लोग होंगे जो कि मुनियों को नहीं मानते होंगे, तभी उन्होंने ऐसा कहा है कि आज भी रत्नत्रय से पवित्र मुनि होंगे, वे धर्मध्यान के प्रभाव से इन्द्रपद तो क्या लौकांतिक देव भी हो सकते हैं क्योंकि आज पंचमकाल में यहाँ से मोक्ष नहीं है अतः वे वहाँ से आकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। इतने विशेष चारित्रधारी मुनि भावलिंगी नहीं तो भला कैसे होंगे ? अतः आज भी सच्चे मुनि हैं।

3.19 सुखिया जीवन का तत्त्वज्ञान टिक नहीं पाता है–

सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-62)

सुखिया जीवन में किया गया, जो तत्त्वज्ञान सुख देता है।
वह ही सुख थोड़ा दुःख आने पर, ज्ञान नष्ट कर देता है।।
इसलिये यथाशक्ति दुःखों में, आत्मा का चिन्तवन करें।
जिससे कि परिषह आने पर भी, वे समाधि में रमण करें।।

अर्थ–सुख में भावित किया गया तत्त्वज्ञान दुःख के आने पर नष्ट हो जाता है अतः योगी यथाशक्ति दुःखों में अपनी आत्मा की भावना करें।

भावार्थ–सुखिया जीवन में की गयी तत्त्व की चर्चाएँ दुःखों के आ जाने पर नहीं टिक पाती हैं अतः मुनियों को दुःखों को आमंत्रित कर-करके व्रत, उपवास, कायक्लेश आदि कर-करके आत्मतत्त्व की भावना करते रहना चाहिए जिससे उपसर्ग और परिषहों के आने पर भी तत्त्वज्ञान काम आ सके और अंतिम समाधि की सिद्धि हो सके।

3.20 तीर्थंकर भी तपश्चरण करते हैं–

धुवसिद्धि तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
पाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाणजुत्तो वि।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा-60)

तीर्थंकर की सिद्धि निश्चित, वे चार ज्ञानधारी होते।
तो भी वे तपस्या करते हैं, उनके बिन सिद्ध नहीं होते।।

इसलिये ज्ञान से युत होकर, तुम भी कुछ तपश्चरण कर लो।
तप का अभ्यास बढ़ा करके, निर्जरा कर्म की भी कर लो।।

अर्थ–तीर्थंकर का मोक्ष जाना निश्चित है, वे चार ज्ञानधारी हैं फिर भी तपश्चरण करते हैं, ऐसा जानकर तुम्हें ज्ञानसहित होकर भी नियम से तपश्चरण करना चाहिये।

भावार्थ–जब तीर्थंकर देव नियम से मोक्ष जाने वाले ही हैं और दीक्षा लेते ही उन्हें मन:पर्ययज्ञान भी हो जाता है फिर भी वे तपश्चरण करते ही हैं। भगवान आदिनाथ ने एक हजार वर्ष तक तप किया था, अत: हमारा-आपका भी कर्त्तव्य है कि तपश्चरण का अभ्यास बढ़ाते ही रहें। इससे कर्मों की भी निर्जरा होती है और कष्टों में तत्त्वज्ञान बना रहता है।

3.21 सच्चे दिगम्बर मुनि चलते-फिरते भगवान हैं–

भिक्खं वक्कं हिययं, सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू, भणिओ जिणसासणे भयवं।।

(मूलाचार गाथा-1006)

जो भिक्षा वचन और मन का, शोधन कर नित्य विचरते हैं।
वे ही साधू कहलाते हैं, अर्हन्मुद्रा को धरते हैं।।
जिनशासन में ऐसे सुस्थित, मुनिवर भगवान कहे जाते।
तीनों लोकों में पूज्य यही, सिद्धीकान्ता को हैं पाते।।

अर्थ–जो आहार, वचन और हृदय—मन का शोधन करके नित्य ही आचरण करते हैं, वे ही साधु हैं। जिनशासन में ऐसे सुस्थित साधु भगवान कहे गये हैं।

भावार्थ–आहारशुद्धि, वचनशुद्धि और भावशुद्धि से सहित मुनि यहाँ लोक में विचरण करते हुए भी 'भगवान' हैं क्योंकि ये 'जिनमुद्राधारी' हैं अत: तीनों लोकों में पूज्य हैं।

3.22 व्यवहारचारित्र के बाद ही निश्चयचारित्र होता है–

एरिसयभावणाए, ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।

(नियमसार गाथा-76)

ऐसी व्यवहार भावना से, व्यवहारिक चारित होता है।
जिनवर की भक्ती से सराग, चारित्र मुनि के होता है।।
इसके आगे निश्चयचारित्र का, निश्चयनय से कथन करूँ।
दोनों प्रकार चारित्र धार मैं, मुनि बन करके कब विचरूँ।।

अर्थ–इस पूर्वकथित भावना से व्यवहारनय का चारित्र होता है, जब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा।

भावार्थ–नियमसार में चौथे अधिकार में तेरह प्रकार के चारित्र का और पंचपरमेष्ठी की भक्ति का वर्णन करके आचार्यदेव ने कहा है कि यहाँ तक मैंने व्यवहारनय का चारित्र कहा है, अब आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारचारित्रधारी मुनि ही निश्चयचारित्र के पात्र हो सकते हैं, न कि गृहस्थ। स्वयं कुन्दकुन्ददेव भी व्यवहार चारित्रधारी महामुनि थे अत: उन्हीं के ग्रन्थों को पढ़कर मुनियों को नहीं मानना श्रीकुन्दकुन्द देव की ही अवमानना है।

3.23 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के अनुसार बारह अनुप्रेक्षाओं में से आठवीं अनुप्रेक्षा कौन सी है ?

(क) निर्जरा ☐
(ख) आस्रव ☐
(ग) अशरण ☐

प्रश्न 2-नियम से धारण करने योग्य क्या है ?

(क) धर्म ☐
(ख) अलंकार ☐
(ग) रत्नत्रय ☐

प्रश्न 3-व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय में साध्य और साधन क्या-क्या हैं ?

(क) व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है। ☐
(ख) निश्चय साधन है और व्यवहार साध्य है। ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं। ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आप्त, आगम एवं तत्त्व का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 2-दिगम्बर मुनियों के कितने मूलगुण होते हैं, नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 3-एकलविहारी मुनि कौन हो सकते हैं ?

प्रश्न 4-सरागसंयमी मुनियों की चर्या कैसी होती है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-पंचमकाल के अन्त तक मुनि रहेंगे और वे लौकान्तिक देव भी हो सकते हैं, मोक्षपाहुड़ ग्रंथानुसार इसे स्पष्ट कीजिए ?

पाठ 4–वीतराग चारित्र एवं उसका फल

4.1 निश्चयचारित्र किनके होता है ?

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि।।

(नियमसार गाथा-152)

निश्चयनय आश्रय से जो, प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ होती हैं।
निश्चयचरित्रधारी मुनि के वे, सभी क्रियाएँ होती हैं।।
इस हेतु उन्हें ही वीतराग, मुनि की संज्ञा मिल जाती है।
श्रेणी में चढ़कर क्षण भर में, अर्हंत अवस्था आती है।।

अर्थ–निश्चयनयाश्रित प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करने वाले के निश्चयनय का चारित्र होता है, इसी हेतु मुनि वीतराग चारित्र में स्थित होते हैं।

भावार्थ–पूर्व में निर्विकल्प ध्यान को ही निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान आदि कहा है अतः ये निश्चयनयाश्रित चारित्र शुद्धोपयोग में ही होता है। यह सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है और ये सप्तम आदि गुणस्थान भी छठे गुणस्थानवर्ती दिगम्बर मुनि के ही सम्भव है, गृहस्थों के नहीं।

4.2 आज के मुनि क्या करें ?

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जदि, सद्दहणं चेव कायव्वं।।

(नियमसार गाथा-154)

यदि करना शक्य तुम्हें है तो, प्रतिक्रमण ध्यानमय ही कर लो।
जब तक करने की शक्ति नहीं, तब तक केवल श्रद्धा कर लो।।
इस हीन संहनन से तुमको, अध्यात्म ध्यान संभव नहिं है।
शुद्धात्मा की श्रद्धा करना, इस युग में भी अशक्य नहिं है।।

अर्थ–यदि करना शक्य हो तो तुम्हें प्रतिक्रमण आदि ध्यानमय करना चाहिये और जब तक शक्ति नहीं है तब तक श्रद्धान ही करना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथा में टीकाकार ने कहा है कि पंचमकाल में हीनसंहनन होने से अध्यात्मध्यान सम्भव नहीं है अतः अपनी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ही करना चाहिये। हाँ, दिगम्बर मुनि को सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पध्यान सम्भव भी है किन्तु गृहस्थ के तो निर्विकल्प ध्यान असम्भव ही है अतः शुद्धात्मा की श्रद्धा और भावना ही करना उचित है।

4.3 चारित्र ही धर्म है–

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो।।

(नियमसार गाथा-7)

चारित्र नियम से धर्म कहा, वह धर्म सदा समतामय है।
मिथ्यात्व मोह अरु क्षोभ रहित, आतम स्वभाव समतामय है।।

ऐसा ही यथाख्यात चारित, शुद्धात्मरूप कहलाता है।
यह साध्य तथा साधन सराग, चारित्र भाव कहलाता है।।

अर्थ–नियम से चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है वह समता भाव ही है, ऐसा कहा गया है। मोह-मिथ्यात्व तथा क्षोभ, राग-द्वेष से रहित जो आत्मा का परिणाम है, वही समता भाव है।

भावार्थ–यहाँ चारित्र को ही धर्म कहा है। टीकाकारों ने चारित्र के दो भेद किये हैं—सरागचारित्र और वीतरागचारित्र। छठे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक के मुनियों का चारित्र सरागचारित्र है। इससे आगे ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में वीतरागचारित्र है। यही चारित्र मिथ्यात्व, राग-द्वेष से रहित शुद्ध, साम्यपरिणामरूप यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह साध्य है और सरागचारित्र साधन है।

4.4 धर्म से सहित आत्मा ही धर्म है–

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तह्मा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो।।

(नियमसार गाथा-8)

जिस समय द्रव्य जिस रूप, परिणमन करके परिणत होता है।
वह उसी काल में उसी रूप, परिणमता तन्मय होता है।।
इसलिये धर्म से परिणत आत्मा, धर्मरूप बन जाता है।
जैसे घृत युत मिट्टी का घट भी, घृत का घट कहलाता है।।

अर्थ–द्रव्य जिस काल में जिस रूप से परिणमन करता है वह उस काल में उसी रूप ही हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है इसलिये धर्म से परिणत आत्मा धर्म ही हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ–शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की अपेक्षा धर्म के दो भेद हैं अथवा एकदेश चारित्र और सकलचारित्र की अपेक्षा भी दो भेद होते हैं। यह आत्मा जब जिस धर्म से परिणत होता है वह उस समय तन्मय—तद्रूप ही माना जाता है। यहाँ तो टीकाकारों ने मुनियों के सरागचारित्र और वीतरागचारित्र को ही लिया है।

4.5 निश्चयमोक्षमार्ग के साधनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण–

धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवं हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति।।

(पंचास्तिकाय गाथा-160)

धर्मादिक द्रव्यों की श्रद्धा, करना सम्यक्त्व कहाता है।
अंगादिपूर्व का ज्ञान करो, वह सम्यग्ज्ञान कहाता है।।
तप-संयम में प्रवृत्ति करना, सम्यक्चारित्र कहलाता है।
इन तीनों से युत मुक्ति का, व्यवहारमार्ग बन जाता है।।

अर्थ–धर्म, अधर्म आदि का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, अंग-पूर्व का ज्ञान होना ज्ञान है और तप में प्रवृत्ति करना चारित्र है, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

भावार्थ–वीतराग सर्वज्ञदेव प्रणीत तत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान ये दोनों मुनि तथा गृहस्थ दोनों में होते हैं किन्तु अंग-पूर्व का ज्ञान मुनियों को ही होता है। आर्यिकाओं को अंग का ज्ञान हो सकता है, पूर्व का नहीं। पंचमहाव्रत आदि चारित्र छठे-सातवें गुणस्थान योग्य मुनियों के होता है और श्रावक के दान, शील, पूजा, उपवासरूप या ग्यारह प्रतिमारूप चारित्र होता है। मुनियों के व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय रत्नत्रय असम्भव है अतः यह व्यवहार साधन है।

4.6 व्यवहार मोक्षमार्ग से साध्य निश्चयमोक्षमार्ग का कथन–

णिच्चयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।।

(पंचास्तिकाय गाथा-161)

जो आत्मा इस रत्नत्रय में, एकाग्र परिणती करता है।
उसमें ही तन्मय होकर वह, नहिं अन्य कार्य कुछ करता है।।
इच्छापूर्वक तजता भी नहिं, वह निश्चय मोक्षमार्ग जानो।
जैसे फल आने के पहले, फूलों को तुम कारण मानो।।

अर्थ–जो आत्मा इन तीनों—दर्शन, ज्ञान, चारित्र से एकाग्र परिणत होता हुआ अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता ही है, वह निश्चय से मोक्षमार्ग है।

भावार्थ–**''अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्नः।''** इसलिये निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्यसाधन भाव अतिशयरूप से घटित होता है। मुनि ही व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर एकाग्रध्यान में स्थित होकर निश्चय रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग में परिणत हो जाते हैं। जैसे फल आने के लिये फूल कारण है वैसे ही निश्चय रत्नत्रय के लिये व्यवहार रत्नत्रय कारण है। यहाँ ऐसा क्रम समझने के लिये ये दो गाथाएँ हैं।

4.7 संवर का क्रम–

सुहजोगस्स पवित्ती, संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोगेण संभवदि।।

(द्वादश अनुप्रेक्षा गाथा-63)

जब जीव मन, वचन और काय की, शुभ प्रवृत्ति को करता है।
तब अशुभ योग का स्वयं रूप से, ही निरोध वह करता है।।
शुद्धोपयोग में वही जीव जब, स्थिर चित्त हो जाता है।
तब शुभ योगों का भी निरोध, स्वयमेव जीव कर पाता है।।

अर्थ–शुभ योग की प्रवृत्ति अशुभ योग का निरोध करती है, पुनः शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ योग का निरोध संभव है।

भावार्थ–अशुभ क्रियायोग हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों के त्याग से पुण्य होता है और पुण्य से शुभोपयोग होता है। यह ध्यान में ही होता है अतः महामुनि के ही शुद्धोपयोग के द्वारा पाप-पुण्य दोनों का संवर हो जाता है।

4.8 तीन गुप्ति सहित मुनि ही ज्ञानी हैं–

जं अण्णाणी कम्मं, खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण।।

(प्रवचनसार गाथा-238)

अज्ञानी आत्मा उन कर्मों को, लाखों भव में नष्ट करे।
ज्ञानी आत्मा उन कर्मों को, उच्छ्वास मात्र में नष्ट करे।।
क्योंकी वे तीन गुप्तियों से, संयुक्त महामुनि होते हैं।
अपने शुद्धात्म ध्यान बल पर, वे ही कर्मों को धोते हैं।।

अर्थ–अज्ञानी जीव जितने कर्मों को लाखों-करोड़ों भवों में नष्ट करता है, तीन गुप्तियों से सहित ज्ञानी जीव उतने

कर्मों को उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है।

भावार्थ–यहाँ 'ज्ञानी' शब्द से तीन गुप्ति से सहित, शुद्धोपयोगी महाध्यानी महामुनि को ही लेना चाहिये न कि शब्दशास्त्र के ज्ञानी, जैसा कि 'तिहिं गुत्तो' पद है अतः यह लक्षण चतुर्थकालीन उत्तम संहनन वाले जिनकल्पी महामुनि में ही घटेगा। उससे पूर्व आज के मुनियों को शुद्धध्यान की भावना करना ही शक्य है।

4.9 स्वसमय-परसमय का लक्षण–

जीवो चरित्तदंसण, णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेस-ट्ठियं च तं जाण परसमयं।।

(समयसार गाथा-2)

जो आत्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान, चरित में सुस्थित होते हैं।
उनको ही तुम स्वसमय जानो, वे निज में स्थित होते हैं।।
जो आत्मा पुद्गल कर्मप्रदेशों, में ही स्थित रहते हैं।
उन जीवों को अध्यात्म शास्त्र, "परसमय" शब्द से कहते हैं।।

अर्थ–दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जो जीव हैं, उसे ही तुम स्वसमय जानो और पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित जो जीव हैं, उन्हें 'परसमय' समझो।

भावार्थ–केवलज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ जो भेद विज्ञानरूप निश्चय रत्नत्रय है, जो कि बारहवें गुणस्थान में स्थित वीतरागचारित्रस्वरूप है वही 'स्वसमय' है, उसके अतिरिक्त सभी जीव 'परसमय' हैं अथवा शुद्धात्मा का जो स्वरूप है वही 'स्वसमय' है, शेष नर-नारक आदि पर्यायों में स्थित जीव 'परसमय' हैं।

4.10 स्वचरित या स्वसमय का लक्षण–

जो सव्वसंगमुक्को, णण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं, सो सगचरियं चरदि जीवो।।

(पंचास्तिकाय गाथा-158)

सम्पूर्ण परिग्रह तजकर जो, एकाग्रमना हो जाते हैं।
निश्चल होकर निज आत्मा में, स्वाभाविक भाव जगाते हैं।।
उनका ही दर्शन और ज्ञान, स्वचरित आचरण कहाता है।
वह निर्विकल्प ध्यानी बनकर, निश्चय रत्नत्रय पाता है।।

अर्थ–जो सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर एकाग्रमना होता हुआ स्वभाव से निश्चल होकर आत्मा को जानता है और देखता है, वह जीव स्वचरित का आचरण करता है।

भावार्थ–जो परिग्रहरहित मुनि आत्मध्यान में निश्चल होकर अपनी शुद्ध आत्मा को ही देखते-जानते हैं, वे स्वचरित में लीन हुए स्वरूपाचरण चारित्रधारी या स्वसमय कहलाते हैं। जो योगीन्द्र निर्विकल्पध्यानी होते हैं, वे निश्चय रत्नत्रयधारी हैं। **"अतएव उभयनयायत्ता परमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।"** इसलिये परमेश्वर की तीर्थ-प्रवर्तना दोनों नयों के आश्रित ही हैं।

4.11 बहिरात्मा-अन्तरात्मा परसमय और परमात्मा स्वसमय हैं–

बहिरंतरप्पभेयं, परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पा सगसमयं, तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे।।

(रयणसार गाथा-128)

जिनवर ने बहिरात्मा अन्तर, आत्मा दो भेद बताये हैं।
इन दोनों ही भेदों को जिनवर, ने परसमय बताए हैं।।
परमात्मा को स्वसमय माना, वे निज में स्थित रहते हैं।
अब इनको ही गुणस्थानों में, श्रीकुन्दकुन्द गुरु कहते हैं।।

अर्थ–श्री जिनेन्द्रदेव ने बहिरात्मा और अंतरात्मा इन दोनों भेदों को 'परसमय' कहा है और परमात्मा 'स्वसमय' है। अब इन भेदों को गुणस्थानों में समझो।

भावार्थ–आत्मा के तीन भेद हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। समय के दो भेद हैं–परसमय और स्वसमय। गुणस्थानों के 14 भेद हैं–मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इनसे परे सिद्ध भगवान होते हैं।

4.12 गुणस्थानों में स्वसमय-परसमय–

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा, तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
सत्तेत्तिमज्झिमंतर, खीणुत्तर परमजिणसिद्धा।।

(रयणसार गाथा-129)

मिथ्यात्व मिश्र सासादन में, तरतमता से बहिरात्मा हैं।
अविरत सम्यग्दृष्टी प्राणी तो, जघन्य अन्तर आत्मा हैं।।
आगे के सात गुणस्थानों तक, मध्यम अन्तर आत्मा हैं।
हैं क्षीणमोह उत्तम एवं दो, और सिद्ध परमात्मा हैं।।

अर्थ–मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थान तक के जीव तरतमता से बहिरात्मा हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अंतरात्मा हैं। सात गुणस्थान तक——पाँचवें गुणस्थान वाले से ग्यारहवें तक मध्यम अंतरात्मा हैं और क्षीणमोह——बारहवें गुणस्थान वाले उत्तम अंतरात्मा हैं तथा तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान वाले और सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

भावार्थ–बारहवें गुणस्थान तक के महामुनि भी 'परसमय' ही हैं। अर्हंत- सिद्ध भगवान स्वसमय हैं, ऐसा समझना।

4.13 विषयों की कथा परिचित है, शुद्धात्मा कथा अपरिचित–

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

(समयसार गाथा-4)

श्रुत-परिचित अरु अनुभूत काम-भोगों की सभी कथाएँ हैं।
इसलिये सुलभ हैं क्योंकि अनन्तों, बार सुनी चर्चाएँ हैं।।
लेकिन एकत्व शुद्ध निश्चय की, उपलब्धी नहिं सुलभ हुई।
क्योंकि शुद्धात्मा का परिचय, नहिं हुआ अतः दुर्लभ ही रही।।

अर्थ–काम और भोग से सम्बन्धित कथा सभी जीवों के सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई है इसलिए सुलभ है किन्तु एक शुद्ध और सबसे भिन्न की उपलब्धि सुलभ नहीं है।

भावार्थ–सभी ने अनादिकाल से लेकर आज तक काम-भोगों की चर्चाएँ अनंत बार सुनी हैं, परिचय किया है और अनंतों बार ही उनको भोगा है किन्तु रत्नत्रयस्वरूप शुद्ध एक आत्मा का स्वरूप न तो सुना ही है, न परिचय में लिया

है और न अपनी उस एक आत्मा का अनुभव ही किया है और न आत्मज्ञानी मुनियों की उपासना ही की है इसीलिये इस स्वात्मतत्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है।

4.14 दर्शन-ज्ञान-चारित्र भेद व्यवहार से हैं, निश्चय से नहीं–

ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।

(समयसार गाथा-7)

ज्ञानी आत्मा के दर्शन-ज्ञान, चारित्र भाव जो माने हैं।
वे केवल व्यवहारिक नय से, आत्मा के भेद बखाने हैं।।
निश्चयनय से उसके न ज्ञान, नहिं दर्शन और न चारित है।
वह ज्ञायक मात्र शुद्ध आत्मा, ऐसा आगम प्रतिपादित है।।

अर्थ–ज्ञानी जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्र–ये तीन भाव व्यवहारनय से कहे जाते हैं। निश्चयनय से तो उसके न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है वह तो मात्र ज्ञायक शुद्ध ही है।

भावार्थ–यहाँ व्यवहारनय कर्म की उपाधि को कहने वाला नहीं है, प्रत्युत् आत्मा के अनंत गुणों को भेदरूप कहने वाला है और निश्चयनय मात्र अभेद ज्ञानमात्र आत्मा को कहने वाला है अतः यह व्यवहारनय असत्य नहीं है, यह शुद्ध आत्मा 1008 या अनन्त गुणों को मानता है किन्तु अभेदग्राही शुद्ध निश्चयनय से आत्मा एक ज्ञानमात्र ही है।

4.15 आत्मा ज्ञायकमात्र है–

ण वि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणुगो दु जो भावी।
एवं भणंति सुद्धं, णाओ जो सो उ सो चेव।।

(समयसार गाथा-6)

जो आत्मा का ज्ञायक स्वभाव, वह नहिं प्रमत्त-अप्रमत्तरूप।
इसलिये शुद्ध कहते उसको, वह कभी न होता अन्य रूप।।
द्रव्यार्थिक शुद्ध नयाश्रय से शुभ, अशुभ भाव नहिं करता है।
बस इसीलिए उन रूप भाव में, कभी नहीं परिणमता है।।

अर्थ–जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है, इस प्रकार से उसे शुद्ध कहते हैं तथा जो यह ज्ञायक रूप से जाना गया है, वह वही है, अन्य कोई नहीं है।

भावार्थ–जो शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुभ-अशुभ भावरूप परिणमन नहीं करने से न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। प्रमत्त से यहाँ पहले से छठे गुणस्थान तक लेना और अप्रमत्त से सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक लेना अतः यह ज्ञायक भाव गुणस्थानों से परे शुद्ध एक ज्ञानमात्र है, यही शुद्धात्मा है, ज्ञाता है ऐसा समझना। पूरे समयसार में इस एक ज्ञानमात्र आत्मा का ही वर्णन किया गया है।

4.16 व्यवहार के बिना निश्चय नहीं है–

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं।।

(समयसार गाथा-8)

जैसे म्लेच्छों को म्लेच्छों की, भाषा बिन नहिं समझा सकते।
वैसे ही व्यवहारी जन को, परमार्थ नहीं बतला सकते।।
उनको तो व्यवहारिक नय द्वारा, ही समझाया जा सकता।
क्रम-क्रम से संयम पालन कर, रत्नत्रय पाया जा सकता।।

अर्थ–जैसे म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना कुछ ग्रहण कराना–समझाना शक्य नहीं है वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करना भी अशक्य ही है।

भावार्थ–आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र–ये तीन गुण हैं, इस व्यवहारनय से ही आत्मा को एक अखण्ड ज्ञानमात्रस्वरूप तक पहुँचाया जा सकता है क्योंकि पहले भेदरत्नत्रय को ग्रहण कर ही मुनि अभेदरत्नत्रयरूप एक परमार्थ का ध्यान कर सकते हैं। बिना मुनि बने कोई भी शुक्लध्यानी नहीं हो सकते हैं, ऐसा यहाँ अभिप्राय है।

4.17 व्यवहार अभूतार्थ है, निश्चय भूतार्थ–

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिहो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो।।

(समयसार गाथा-11)

व्यवहार कहा है अभूतार्थ, भूतार्थ शुद्धनिश्चयनय है।
ऐसा मुनियों ने दिखलाया, व्यवहार और निश्चयनय है।।
भूतार्थ नयाश्रित हुआ जीव, निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।
यह वीतराग मुनिवर में ही, घट सकती सम्यक्दृष्टि है।।

अर्थ–व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा मुनियों ने दिखलाया है। भूतार्थ के आश्रित हुआ जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ–श्री जयसेनाचार्य ने व्यवहारनय के भूतार्थ और अभूतार्थ दो भेद तथा शुद्धनय के भी भूतार्थ और अभूतार्थ ऐसे दो भेद किये हैं अर्थात् भेदग्राही व्यवहार और उपाधिग्राही व्यवहार तथा शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय ऐसे चार भेद किये हैं। आगे अनेक स्थलों पर इनके प्रयोग किये गये हैं तथा शुद्धनय का आश्रय लेने वाले सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा कहने से वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेना चाहिये क्योंकि व्यवहार के आश्रित जीव व्यवहार या सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं।

4.18 व्यवहारनय कहाँ तक प्रयोजनीभूत है ?

सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमेट्ठिदा भावे।।

(समयसार गाथा-12)

शुद्धात्मा को कहने वाला, जो शुद्ध नयाश्रय माना है।
वह परमभावदर्शी मुनियों ने, ही सचमुच पहचाना है।।
जो अपरमभावों में मुनि हैं, उनका व्यवहार सहारा है।
क्रम से आश्रय लेने वालों ने, जीवन स्वयं सुधारा है।।

अर्थ–शुद्ध आत्मा को कहने वाला जो शुद्धनय है, वह परमभावदर्शी महापुरुषों के द्वारा जानने योग्य है पुनः जो अपरमभाव में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय का उपदेश दिया गया है।

भावार्थ–अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प ध्यान में स्थित बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि शुद्धनय में स्थित हैं। अविरती श्रावक और छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज, इन सबके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक के सभी जीव अपरमभाव में स्थित हैं। श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है कि व्यवहारनय से तीर्थ चलता है और निश्चयनय से तत्त्व को समझा जाता है।

4.19 समयसार में सम्यक्त्व का लक्षण–

भूयत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर, बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।

(समयसार गाथा-13)

भूतार्थ से जाने जीव-अजीव, अरु पुण्य-पाप-आस्रव-संवर।
हैं बंध-निर्जरा और मोक्ष ये, सब पदार्थ माने सम्यक्।।
ये नव पदार्थ सम्यक्त्व प्राप्ति के, लिये सदा सहकारी हैं।
इन पर श्रद्धा करते रहने से, मुक्त हुए संसारी हैं।।

अर्थ–भूतार्थ—निश्चय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव-पदार्थ ही सम्यक्त्व हैं।

भावार्थ–ये नव पदार्थ सम्यक्त्व के विषय हैं और कारण हैं इसलिये कारण में कार्य का उपचार कर देने से ये ही सम्यक्त्व कहे गये हैं किन्तु निश्चय से आत्मा का श्रद्धानरूप परिणाम ही सम्यक्त्व है। ये नव पदार्थ तीर्थवंदना के निमित्त होने से भूतार्थ हैं और महामुनि के निर्विकल्प ध्यान में अभूतार्थ हो जाते हैं क्योंकि वहाँ एक शुद्ध आत्मा ही अनुभव में आता है। ऐसे ही प्रमाण, नय, निक्षेप भी आगे ध्यान में अभूतार्थ हो जाते हैं। यहाँ भूतार्थ से अशुद्ध निश्चयनय लेना चाहिये क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से नव तत्त्वों की व्यवस्था ही नहीं है।

4.20 अज्ञानी जीव का लक्षण–

कम्मे णोकम्मम्हि य, अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।

(समयसार गाथा-19)

जो कर्म और नोकर्म आदि में, आत्मभावना होती है।
मैं कर्मरूप हूँ कर्म मेरे यह, अहम् भावना होती है।।
जब तक ऐसी बुद्धी रहती, तब तक अज्ञानी रहता है।
सम्यक् बुद्धी के आते ही, वह ज्ञानी भी बन सकता है।।

अर्थ–कर्म और नोकर्म—शरीर आदि में 'यह मैं हूँ और ये मेरे हैं' जब तक ऐसी बुद्धि रहती है तब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी ही रहता है।

भावार्थ–शरीर और द्रव्यकर्म आदि को अपने समझना 'यह शरीर ही मैं हूँ' आत्मा और शरीर में एकरूपता है भेद नहीं है, ऐसी धारणा अज्ञान ही है–इसी का नाम मिथ्यात्व है। इससे यह अर्थ निकलता है कि जो शरीर और आत्मा को एक नहीं मानते, वे ज्ञानी हैं। आगे इसे ही पूर्व पक्ष में रखकर नयों की अपेक्षा समाधान दे रहे हैं।

4.21 तीर्थंकरों की स्तुति मिथ्या है क्या ?

जदि जीवो ण सरीरं, तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा, तेण दु आदा हवदि देहो।।

(समयसार गाथा-26)

यदि जीव शरीर नहीं है तो, तीर्थंकरादि स्तुति व्यर्थ।
आचार्यों के भी जो शरीर का, वंदन वह सब हुआ व्यर्थ।।
इसलिये आत्मा और शरीर को, एक रूप मैं समझ रहा।
हे गुरुवर! यदि ऐसा नहिं तो, जिनवर शरीर क्यों पूज्य कहा ?।।

अर्थ–यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्यों की जो स्तुति है, वह सभी मिथ्या हो जावेगी इसलिये आत्मा और शरीर एकरूप ही हैं, ऐसा शिष्य ने अपना पक्ष रखा है।

भावार्थ–यदि जीव और शरीर भिन्न हैं, एक नहीं हैं तो पुनः **'द्वौ कुँदेंदुतुषारहारधवलौ'** दो तीर्थंकर श्वेत वर्ण के हैं इत्यादि प्रकार से जो तीर्थंकरों की स्तुति है और **'देसकुलजाइसुद्धा'** जो देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं ऐसे आचार्य मेरा मंगल करें, इत्यादि स्तुतियाँ क्यों की जाती हैं ? ये स्तुतियाँ व्यर्थ ही हो जाएँगी ? ऐसा शिष्य के कहने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं।

4.22 नय विवक्षा ही सम्यग्दर्शन है–

ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि एकट्ठो।।

(समयसार गाथा-27)

व्यवहारिक नय यह कहता है, जीव रू शरीर तो इक ही है।
लेकिन निश्चयनय कहता है, आत्मा-शरीर नहिं एक रहे।।
निश्चय से तीनों कालों में ये, एक नहीं हो सकते हैं।
लेकिन व्यवहार बिना जिनवर की, स्तुति नहिं कर सकते हैं।।

अर्थ–व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक ही हैं किन्तु निश्चयनय कहता है कि ये जीव और शरीर किसी काल में भी एक नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ–जो स्तुति, वंदना, भक्ति आदि क्रियाएँ हैं ये सब व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होती हैं। निश्चयनय से तो आत्मा स्वयं सिद्ध है, शुद्ध है अतः स्तुति आदि की आवश्यकता ही नहीं है। मुनिराज निश्चयनय का अवलम्बन लेकर मात्र शुद्धात्मा के ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञानी हो जाते हैं।

4.23 आत्मा कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है–

कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा, कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।

(नियमसार गाथा-18)

आत्मा व्यवहार नयाश्रय से, पुद्गल कर्मों का कर्ता है।
भोक्ता भी है क्योंकि कर्मों के, सुख-दुख फल का भर्ता है।।
कर्मोदय से उत्पन्न हुए, रागादि भाव जो आत्मा के।
निश्चयनय से उन कर्मों का, कर्त्ता भोक्तापन आत्मा में।।

अर्थ–आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। यही आत्मा निश्चयनय से कर्म से उत्पन्न हुये भावों का कर्त्ता और भोक्ता है।

भावार्थ–ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का उपादान कारण पुद्गल ही है किन्तु निमित्त कारण आत्मा है अतः व्यवहारनय से यह आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है, पुनः कर्मोदय से हुए जो रागादिभाव हैं, उन भाव कर्मों का कर्ता-भोक्ता आत्मा निश्चयनय से ही है क्योंकि इन भावों का उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण कर्मों का उदय है। यहाँ निश्चयनय से अशुद्ध निश्चयनय लेना क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध है ही नहीं।

4.24 शुद्ध आत्मा का लक्षण–

एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।।

(नियमसार गाथा-102)

मेरा आत्मा बस एक अकेला, शाश्वत है अविनाशी है।
दर्शन सुज्ञान लक्षण वाला, स्वाभाविक ज्ञानप्रकाशी है।।
हैं शेष सभी संयोगजन्य, लक्षण वाले जो भाव कहे।
मेरी आत्मा से भिन्न भाव, होने से मुझसे बाह्य रहें।।

अर्थ–मेरा आत्मा एक अकेला, शाश्वत है, ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है, शेष सभी भाव संयोग लक्षण वाले हैं अतः वे मेरे से बाह्य हैं।

भावार्थ–यह आत्मा अविनाशी है, ज्ञान-दर्शन लक्षण से जाना जाता है। बाकी जितने भी भाव दिखते हैं क्रोध, मान आदि अथवा इन्द्रियजन्य सुख आदि के अनुभव से हुए हर्ष-विषादादि, ये सभी भाव कर्मों के संयोग सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, अतः ये मेरी आत्मा से भिन्न ही हैं, इसे ही पुनः दूसरे शब्दों में कहते हैं।

4.25 आत्मा का परमाणुमात्र भी अपना नहीं है–

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झकिंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि।।

(समयसार गाथा-38)

मैं हूँ अनादि से एक और, सब कर्ममलों से रहित शुद्ध।
मैं दर्शन-ज्ञानस्वरूपी हूँ, अरु सदा अमूर्तिक स्वयंबुद्ध।।
कुछ अन्य और परमाणुमात्र भी, मेरे नहिं हो सकते हैं।
निश्चयनय से यह आत्मभावना, सब प्राणी कर सकते हैं।।

अर्थ–मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा ही अमूर्तिक हूँ। अन्य कुछ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

भावार्थ–मैं अनादिकाल से एक——अकेला ही हूँ, कर्ममल से रहित होने से शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ और वर्ण, रस आदि से रहित होने से अमूर्तिक हूँ। अन्य पुद्गल द्रव्यादि अणुमात्र भी मेरे नहीं हैं।

यह गाथा सतत् हृदयपटल पर अंकित कर लेनी चाहिये। इससे सर्व समस्याओं में मानसिक शांति मिलेगी और आत्मबल बढ़ेगा।

4.26 व्यवहारनय का कथन उपयोगी ही है–

ववहारस्स दरीसण, मुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे, अज्झवसाणादओ भावा।।

(समयसार गाथा-41)

ये जो रागद्वेषादि भाव, नर-नारक आदिक पर्याएँ।
ये सभी जीव में होती हैं, इसलिये जीव की कहलाएँ।।
ऐसा श्री जिनवर ने व्यवहारिक, नय से ही बतलाया है।
है तीर्थप्रवृत्ति में निमित्त, इसलिये इसे समझाया है।।

अर्थ–ये सब जो राग-द्वेष आदि भाव और नर-नारक आदि पर्याएँ हैं, वे सब जीव के ही हैं, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने जो कहा है वह व्यवहारनय का मत है।

भावार्थ–श्रीअमृतचंद्र सूरि ने कहा है कि **'व्यवहारो हि... तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव।'** व्यवहारनय तीर्थप्रवृत्ति में निमित्त है अतः उसको कहना उचित ही है अन्यथा निश्चय से तो शरीर से जीव भिन्न है पुनः त्रस-स्थावर जीवों को राख के समान मर्दित कर देने से न हिंसा होगी, न पापबन्ध होगा और तब संसारी जीव का मोक्ष के लिये प्रयास करना ही व्यर्थ हो जायेगा इसलिये व्यवहारनय को कहना प्रयोजनीभूत ही है।

4.27 आत्मा का स्वरूप क्या है–

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।

(समयसार गाथा-49)

यह जीव रूप, रस, गन्ध रहित, अरु शब्द रहित शुद्धात्मा है।
इन्द्रियगोचर भी नहीं चेतना-गुण से सहित चिदात्मा है।।
उस आत्मा को नहिं किसी लिंग से, ग्रहण किया जा सकता है।
आकार रहित उस आत्मा को, शुद्धात्मा ही पा सकता है।।

अर्थ–यह जीव रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, इन्द्रियों के अगोचर और शब्दरहित है, चेतनागुण सहित है तथा किसी भी लिंग—चिन्ह से ग्रहण नहीं किया जाता है और आकार से भी रहित है, ऐसा तुम जानो।

भावार्थ–ये रस, रूप, गंध, शब्द आदि पुद्गल के गुण और पर्याएँ हैं। जीव शुद्धनय से या स्वभाव से इन सबसे रहित है और चेतनागुण से सहित है। जैसे जल का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि के सम्पर्क में गरम होकर अग्नि के समान काम कर देता है वैसे ही संसारी जीव पुद्गल कर्म के सम्पर्क में अपने शुद्ध स्वभाव को छोड़कर शरीरधारी अशुद्ध हो रहा है अतः यह गाथा शुद्धनय से शुद्ध जीव का स्वरूप बतलाने वाली है।

4.28 ज्ञानी ही आस्रव से शीघ्र छूटता है–

जीवणिबद्धा एए, अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य, णादूण णिवत्तए तेहिं।।

(समयसार गाथा-74)

जो ये कर्मों के आस्रव हैं, वे जीव से ही संबंधित हैं।
अध्रुव अनित्य अशरण दुःख, औ दुःख फल से आत्मा मिश्रित है।।

ज्ञानी आत्मा यह बात समझकर, उनसे दूर हुआ करता।
तब ही वह आस्रव का निरोध कर, संवर भाव किया करता।।

अर्थ–जो ये कर्मों के आस्रव हैं, वे जीव से सम्बन्धित हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दु:खरूप हैं और दु:खों के फलस्वरूप हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे दूर हो जाता है।

भावार्थ–यह जीव ध्रुव——चैतन्यमात्र है, नित्य है, सुखमय है और सुख के फलरूप है। इससे विपरीत कर्मास्रव अध्रुव व आदिस्वरूप हैं। ज्ञानी मुनिराज इन दोनों के अन्तर को जानकर आस्रव से दूर होकर ज्ञानस्वरूप आत्मा के ध्यान में तल्लीन हो जाते हैं तभी वे आस्रव का निरोध कर पूर्ण संवर करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि **'ज्ञानास्रवनिर्वृत्त्योः समकालत्वं'** ज्ञान और आस्रव का अभाव इन दोनों का एक काल है अत: यह अवस्था महामुनि के चतुर्थकाल में ही संभव है।

4.29 बंध के कारण चार हैं–

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा।।

(समयसार गाथा-109)

सामान्य रूप से कर्मबन्ध के, कारण चार कहाए हैं।
उनको श्री जिनवर ने प्रत्यय, संबोधन से बतलाए हैं।।
मिथ्यात्व और अविरति-कषाय, अरु योग बन्ध के कारण हैं।
इनके यदि भेद-प्रभेद करें तो, हो जाते सत्तावन हैं।।

अर्थ–बंध के करने वाले सामान्य प्रत्यय——सामान्य कारण चार हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ–सामान्य रूप से बंध के कारण चार हैं तथा इनके भेद-प्रभेद अनेक हैं, ये विशेष कहलाते हैं। मिथ्यात्व के 5, अविरति के 12, कषाय के 25 और योग के 15 ऐसे 57 भेद हो जाते हैं। आस्रव के भी ये ही 57 भेद हैं क्योंकि कर्मों का आना आस्रव है और आत्मा के प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बंध है। जो मिथ्यात्व को बंध का कारण नहीं मानते हैं उन्हें श्रीकुन्दकुन्ददेव की इस गाथा पर ध्यान देना चाहिये।

4.30 कथंचित् जीव कर्मों से बंधा है कथंचित् नहीं भी बंधा है–

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे, अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं।।

(समयसार गाथा-141)

आत्मा में कर्म बंधे हैं अरु, आत्मा उनसे संस्पर्शित है।
व्यवहारिक नय यह कहता है, आत्मा की ही चारों गति हैं।।
लेकिन निश्चयनय कहता है, आत्मा में कर्म न बंधते हैं।
संस्पर्शित भी नहिं है आत्मा, ऐसा श्री जिनवर कहते हैं।।

अर्थ–जीव में कर्म बंधे हैं और स्पर्शित हैं, ऐसा व्यवहारनय कहता है और जीव में कर्म न बंधे हैं न स्पर्शित हैं, ऐसा शुद्धनय का वचन है।

भावार्थ–व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव कर्मों से बंधा हुआ है, संसारी है, मनुष्य-देव आदि पर्यायों में है किन्तु

निश्चयनय की अपेक्षा से यह जीव कर्मों से बंधा न होने से सदाशिव है, शुद्ध है, मुक्त है, नित्य-निरंजन भगवान आत्मा है, ऐसा समझना। यह शुद्धनय आत्मा की शक्ति को कहने वाला है जैसे कि बीज ही वृक्ष है और दूध ही घी है इत्यादि।

4.31 समयसार कौन है-

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो।।

(समयसार गाथा-142)

आत्मा में कर्म बंधे अथवा, नहिं बंधे ज्ञान जो होता है।
नय पक्ष से ही पुद्गल कर्मों का, भान सभी को होता है।।
जो पुनः नयों से पक्षपात से, दूर हो चुके आत्मा हैं।
उनको ही समयसार कहते, वे ध्यानलीन शुद्धात्मा हैं।।

अर्थ-जीव में कर्म बंधे हुए हैं अथवा नहीं बंधे हैं, यह नयों का पक्ष है ऐसा तुम जानो, पुनः जो इन नयों के पक्ष से दूर हो चुके हैं, वे ही 'समयसार' हैं।

भावार्थ-शुद्धनय कहता है कि जीव शुद्ध है, अशुद्धनय कहता है कि जीव अशुद्ध है। द्रव्यार्थिकनय से जीव नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है। इन नयों के विकल्पों से परे निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनि ही 'समयसार' हैं। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने 13 काव्यों में उभयनयों के पक्ष से रहित शुद्ध, आत्मतत्त्व के ध्यानी महामुनि का वर्णन किया है। चौथे, पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक तो क्या, छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि भी इस नय पक्ष से रहित समयसारस्वरूप नहीं हो पाते हैं।

4.32 कर्मबन्ध कहाँ तक है ?

जह्या दु जहण्णादो, णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो, तेण दु सो बंधगो भणिदो।।

(समयसार गाथा-171)

जिस हेतु ज्ञान गुण पुनः, जघन्य ज्ञानगुण में आ जाता है।
होकर जघन्य से अन्य रूप, परिणमन ज्ञान कर जाता है।।
उस ही हेतु से वही ज्ञानगुण, कर्मबन्ध को करता है।
रागी भावों से दशम, गुणस्थानों तक बंधक रहता है।।

अर्थ-जिस हेतु से ज्ञानगुण पुनरपि जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप परिणमन करता है इसी हेतु से वह ज्ञानगुण कर्मबन्ध को करने वाला कहा गया है।

भावार्थ-**''स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविराग-सद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।''** वह ज्ञानगुण यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के पहले-पहले दसवें गुणस्थान तक बंध का हेतु ही है क्योंकि वहाँ तक रागभाव अवश्यंभावी है अतः समयसार के अबन्धक होने वाले ज्ञानी अविरत या श्रावक नहीं हैं प्रत्युत् चतुर्थकालीन तद्भव मोक्षगामी महामुनि ही हो सकते हैं। आज तो मात्र वैसे बनने की भावना ही भायी जा सकती है।

4.33 कहाँ तक कर्म बंधते हैं ? पुनरपि स्पष्टीकरण करते हैं-

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि, पुग्गलकम्मेण विविहेण।।

(समयसार गाथा-172)

ये दर्शन-ज्ञान-चरण जिस, कारण से जघन्य कहलाते हैं।
उस कारण ही ज्ञानी आत्मा में, विविध कर्म बंध जाते हैं।।
क्योंकी सरागरत्नत्रय के, धारी मुनि कर्मबन्ध करते।
दशवें गुणस्थान उपरि के मुनि, नहिं कर्मबंध को कर सकते।।

अर्थ–ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र जिस कारण जघन्य भाव से परिणमन करते हैं इस कारण ही ज्ञानी विविध पुद्गल कर्मों से बंधते रहते हैं।

भावार्थ–जब तक यह रत्नत्रय-सराग संयमरूप रहता है तब तक उन ज्ञानी मुनि के भी कर्मों का बंध होता रहता है किन्तु जब यही रत्नत्रय वीतराग बन जाता है तब वे ध्यानी महामुनि कर्मबंध से छूट जाते हैं।

यह सरागसंयम और कर्मबन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। आज सातवें गुणस्थान से ऊपर मुनि जा ही नहीं सकते हैं। समयसार पढ़ते समय ये दोनों गाथाएँ और श्रीअमृतचंद्र सूरि की टीका रट लेनी चाहिये।

4.34 हिंसा से पाप और अहिंसा से पुण्य बन्ध होता है–

मारिमि जीवावेमि य, सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि।।

(समयसार गाथा-261)

मैं जीव मारता हूँ अथवा, जिन्दा करता यह अहं भाव।
हे प्राणी जो तेरा ऐसा, अभिप्राय वही है बन्ध भाव।।
वह पापबन्ध औ पुण्य बन्ध, दोनों का करने वाला है।
शुभ-अशुभ भाव से पुण्य-पाप का, संचय करने वाला है।।

अर्थ–मैं जीवों को मारता हूँ या जिलाता हूँ ऐसा जो तुम्हारा अभिप्राय है वह पाप का बन्ध करने वाला है या पुण्य का बन्ध करने वाला है ?

भावार्थ–जीवों के मारने के भावों से पाप कर्मों का बन्ध होता है और जीवों को जीवनदान-दयादान देने के भावों से पुण्य कर्मों का बन्ध होता है। ऐसे ही जीवों को दु:खी या सुखी करने के भावों से पाप या पुण्य कर्म बँधते रहते हैं अत: समयसार की इन गाथाओं से 'जीवदया' धर्म को अधर्म नहीं कहना चाहिये। यह गाथा हिंसा-अहिंसारूप अव्रत-व्रत को कहने वाली है। आगे शेष चार व्रतों को कहते हैं।

4.35 असत्य आदि चार पापों से पाप ही बंधता है–

एवमलिये अदत्ते, अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पावं।।

(समयसार गाथा-263)

इस हिंसा अव्रत के समान ही, अन्य पाप बतलाए हैं।
जिसमें असत्य-चोरी-कुशील, परिग्रह ये नाम गिनाए हैं।।
इनके करने से पाप कर्म का, बन्ध सदा होता रहता।
इनसे विरक्त होकर प्राणी, अणुव्रत-महाव्रत धारण करता।।

अर्थ–इसी हिंसा के समान ही असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह में जो भाव किये जाते हैं, उनसे पापकर्म का बन्ध होता है।

भावार्थ–पाप पाँच ही हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, ये अनादिकाल से जीव के साथ लगे हुए हैं। जब तक महाव्रत या अणुव्रत नहीं लिये जाते हैं तब तक '**एक्के भावे अणाचारे**' एक भाव अनाचार है इसके अनुसार व्रतों से रहित अनाचाररूप प्रवृत्ति करते रहने से पाप का बंध होता ही रहता है क्योंकि व्रतों को भंग करना अनाचार है और व्रतों को नहीं ग्रहण करना भी अनाचार है।

4.36 सत्य आदि चार व्रतों से पुण्य बंधता है–

तहवि व सच्चे दत्ते, बम्हे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पुण्णं।।

(समयसार गाथा-264)

ऐसे ही अहिंसा के समान, व्रत और बताए जाते हैं।
जिनमें हैं सत्य-अचौर्य-शील, अपरिग्रह को समझाते हैं।।
ये व्रत धारण करने से मानव, व्रती पुरुष कहलाते हैं।
प्रतिसमय पुण्य का बन्ध करें, अंतिम शिवफल पा जाते हैं।।

अर्थ–उसी प्रकार अहिंसा के सदृश ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में जो परिणाम होते हैं उनसे पुण्य का बन्ध होता है।

भावार्थ–पूर्व के पाँचों पापों के त्याग से पाँच महाव्रत होते हैं। ये महाव्रत दिगम्बर जैन मुनियों के ही होते हैं। इनसे पुण्य का बन्ध तो होता ही है, साथ ही घटिका यंत्र के जल के समान प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा भी होती है क्योंकि महाव्रती मुनि ही कर्मों से छूटते हैं न कि श्रावक या अव्रती, अतः पुण्यबन्ध से डरकर व्रती नहीं बनना यह बुद्धिमानी नहीं है।

4.37 निर्विकल्पध्यानी महामुनि ही कर्मों से छूटते हैं–

एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व, कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।

(समयसार गाथा-270)

ये अध्यवसानादिक जितने भी, भाव कहे जिन आगम में।
उन भावों का अस्तित्व नहीं है, जिस मुनि के अन्तर्मन में।।
ऐसे मुनिवर शुभ-अशुभ कर्म के, बन्धन से नहिं बंधते हैं।
वे शुक्लध्यान से घातिकर्म को, नाश केवली बनते हैं।।

अर्थ–ये हिंसा-अहिंसा आदि अनेक प्रकार के जितने भी भाव हैं, वे जिनके नहीं हैं ऐसे मुनिराज अशुभ अथवा शुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं।

भावार्थ–ये शुभ–अशुभ परिणाम जहाँ नहीं हैं, जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प भी नहीं है ऐसे निर्विकल्प ध्यान की स्थिति में तन्मय हुए बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि ही शुभ-अशुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं प्रत्युत् घातिया कर्मों का नाशकर वे केवली भगवान बन जाते हैं। आज के सम्यग्दृष्टि श्रावक को तो क्या, मुनियों को भी ऐसा ध्यान सम्भव नहीं है। आज तो पापों को छोड़ अणुव्रती या महाव्रती अवश्य बनना चाहिये।

4.38 मात्र द्रव्यलिंग ही मोक्षमार्ग नहीं है–

ण वि एस मोक्खमग्गो, पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्तणि, मोक्खमग्गं जिणा विंति।।

(समयसार गाथा-410)

मुनि लिंग और गृहिलिंगरूप, जो द्रव्यलिंग बतलाए हैं।
इनको नहिं मोक्षमार्ग माना, ये साधन मात्र बताए हैं।।
लेकिन दर्शन अरु ज्ञान-चरणमय, रत्नत्रय ही शिवपथ है।
जिनमुनियों में यह रत्नत्रय, वे ही पा जाते शिवमग हैं।।

अर्थ–मुनिलिंग और गृहिलिंगरूप द्रव्यलिंग ये मोक्षमार्ग नहीं हैं किन्तु दर्शन, ज्ञान और चारित्रमय रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ–यहाँ पाखण्डीलिंग शब्द से टीकाकारों ने दिगम्बर मुनिलिंग और गृहिलिंग से क्षुल्लक आदि के लिंग को लिया है। यदि ये मात्र द्रव्यलिंग ही हैं तो मोक्षमार्ग नहीं हैं क्योंकि रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। हाँ, यदि यह रत्नत्रय होगा तो इन दोनों प्रकार के लिंग में–वेश में ही होगा अन्य कुत्सित-कपोलकल्पित वेषों में नहीं होगा, यह बात ध्यान में रखना चाहिए। इसे ही कहते हैं–

4.39 दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग है–

णणि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे।।

(सूत्रपाहुड़ गाथा-23)

यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारि हैं, मोक्ष प्राप्त नहिं कर सकते।
ऐसा जिनशासन में माना, नहिं मिथ्या उनको कह सकते।।
बस एक नग्न मुद्रा से ही, मुक्ती का मारग मिल सकता।
बाकी के सब उन्मार्गों से, भव-भव का भ्रमण हुआ करता।।

अर्थ–जिनशासन में ऐसा कहा है कि यदि तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हैं तो वे मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। एक नग्नमुद्रा ही मोक्षमार्ग है, शेष सभी वेष उन्मार्ग हैं—मिथ्यामार्ग हैं।

भावार्थ–तीर्थंकर देव मति, श्रुत, अवधिज्ञानधारी होकर भी जब तक सर्व परिग्रह छोड़कर निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि नहीं बनते हैं तब तक मोक्ष प्राप्ति नहीं कर सकते हैं अत: दिगम्बर मुद्रा के सिवाय सर्व अनेक प्रकार के साधुवेश दिगम्बर मत से बाह्य हैं उनसे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती है। इससे व्यवहारनय और व्यवहारवेष का बहुत बड़ा मूल्यांकन किया गया है।

4.40 मुनिवेष व्यवहारनय से मोक्ष का कारण है–

ववहारिओ पुण णओ, दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ, मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।

(समयसार गाथा-414)

व्यवहार पुन: दोनों लिंगों को, मोक्षमार्ग में मान रहा।
क्योंकि इनमें ही रत्नत्रय अरु, ध्यानसिद्धि का ज्ञान कहा।।

लेकिन निश्चयनय शिवपथ में, नहिं लिंग कोई स्वीकार करे।
क्योंकि निश्चय तो वीतराग, शुद्धात्मा में विश्वास करे।।

अर्थ–व्यवहारनय पुनः दोनों ही लिंगों को मोक्षमार्ग में मानता है और निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता है।

भावार्थ–मुनिवेष और क्षुल्लक आदिरूप श्रावक के वेष व्यवहारनय की अपेक्षा से मोक्ष के कारण हैं क्योंकि इन वेषों के बिना रत्नत्रयधर्म और धर्म-शुक्लध्यान की सिद्धि असम्भव है फिर भी निश्चयनय मोक्षमार्ग में इन किसी वेष को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि निश्चयनय मात्र निर्विकल्प ध्यानरूप वीतराग अवस्था को ही मोक्षमार्ग कहता है फिर भी यह अवस्था मुनिवेशधारी महामुनि के ही होगी क्योंकि तीर्थंकर भी दिगम्बर दीक्षा लेते ही हैं और कुन्दकुन्ददेव भी दिगम्बर मुनि ही थे।

वीतराग चारित्र का फल

4.41 शुद्धोपयोगी मुनि ही केवली बनते हैं–

उवओग विसुद्धो जो, विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा, जादि परं णेयभूदाणं।।

(प्रवचनसार गाथा-15)

शंभु छन्द– जो महामुनी उपयोग विशुद्धी-पूर्वक ध्यान लगाते हैं।
उनके दर्शन-ज्ञानावरणी, अन्तराय-मोह नश जाते हैं।।
उस ही क्षण केवलज्ञान प्रगट, होता सर्वज्ञ कहाते हैं।
तब ज्ञेय पदार्थों के ज्ञाता, स्वयमेव प्रभो बन जाते हैं।।

अर्थ–जो उपयोग से विशुद्ध हैं, वे मोहनीय, दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अंतराय को नष्ट करके स्वयं ही ज्ञेय पदार्थों के अन्त को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–जब महामुनि शुद्धोपयोगी होकर निश्चल ध्यान में तन्मय हो जाते हैं तब वे मोहनीय कर्म को नष्ट कर बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मों का नाश करके उसी क्षण में केवलज्ञान को प्रकट कर सर्वज्ञ भगवान बन जाते हैं पुनः ये सर्व लोक-अलोक को एक साथ जान लेते हैं।

4.42 केवलज्ञान की महिमा–

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं।।

(प्रवचनसार गाथा-37)

सर्वज्ञदेव के ज्ञान में, त्रैकालिक पर्याय झलकती हैं।
सम्पूर्ण भूत, भावी पर्याएँ, वर्तमान सम दिखती हैं।।
यदि ऐसा नहिं मानें तो प्रभु का, दिव्यज्ञान कैसे होगा ?।
बिन दिव्यज्ञान के जिनवर को, सम्पूर्ण ज्ञान कैसे होगा ?।।

अर्थ–उन केवली भगवान के ज्ञान में सम्पूर्ण भूत और भविष्यत् पर्याएँ विशेष रीति से वर्तमान की पर्यायों के समान प्रतिभासित होती रहती हैं।

भावार्थ–सर्वज्ञ के ज्ञान में अतीतकालीन राम-रावण आदि भविष्यत्कालीन महापद्म तीर्थंकर आदि वर्तमान के समान प्रत्यक्ष झलक रहे हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो पुनः **'तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति'**। उन सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान दिव्य है–अलौकिक है ऐसा भला कौन कहेंगे ? अतः सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान त्रैकालिक सर्व पर्यायों में एक समय में जानता है, इसमें संदेह नहीं करना।

4.43 अरिहंत भगवान पुण्य के फल हैं–

पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिया।
मोहादीहिं विरहिया, तम्हा सा खाइगत्ति मदा।।

(प्रवचनसार गाथा-45)

अरिहंत अवस्था पुण्य प्रकृति का, फल है यह निश्चय मानो।
उनकी प्रत्येक क्रियाएँ, औदयिकी कहलातीं यह जानो।।
मोहादिक से विरहित होने से, क्षायिक भी कहलाती हैं।
उन वीतराग की दिव्यध्वनि, आत्मा की ज्योति जलाती है।।

अर्थ–अरिहंत भगवान पुण्य प्रकृति के फल हैं और उनकी क्रियाएँ निश्चय से औदयिकी हैं क्योंकि वे मोहादि से रहित होने से क्षायिक मानी गयी हैं।

भावार्थ–अरिहंत भगवान तीर्थंकर प्रकृति पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल ही हैं। उनका श्रीविहार, उपदेश आदि क्रियाएँ पुण्योदय से होती हैं अतः औदयिकी हैं फिर भी मोह के अभाव में इच्छा के न होने से वे सब घातिकर्म के क्षय से हुई हैं अतः क्षायिकी मानी जाती हैं। ऐसे भगवान का श्रीविहार और दिव्य उपदेश अनंत जीवों के लिये सुखकर माना गया है।

4.44 केवली भगवान व्यवहार से ही विश्व को जानते हैं–

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।

(नियमसार गाथा-159)

भगवान केवली सारे जग को, जान रहे अरु देख रहे।
नहिं है असत्य व्यवहारिक नय, वह ही ऐसा स्वीकार करे।।
फिर वही केवली निज आत्मा को, जान रहे अरु देख रहे।
इस पूर्ण सत्य को निश्चयनय, निश्चय से ही स्वीकार करे।।

अर्थ–केवली भगवान व्यवहारनय से सारे विश्व को जानते हैं तथा देखते हैं और नियम से—निश्चयनय से केवली भगवान अपनी आत्मा को ही जानते-देखते हैं।

भावार्थ–यहाँ व्यवहारनय असत्य नहीं है, वह पराश्रित है ऐसा समझना अन्यथा सर्वज्ञ भगवान का सर्व लोकालोक का जानना-देखना झूठा मानना पड़ेगा इसलिये व्यवहारनय के अनेक भेदों को समझना चाहिये। ये सभी नय अपने-अपने विषय को कहने में सच्चे ही हैं, झूठे नहीं हैं। हाँ! जो व्यवहारनय उपाधि को ग्रहण करने वाला है, वह अपेक्षाकृत ही अभूतार्थ है।

4.45 केवली भगवान सर्व कर्म क्षय कर लोकाग्र पर चले जाते हैं–

आउस्स खयेण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण।।

(नियमसार गाथा-175)

अपनी आयूपर्यन्त केवली, समवसरण में रहते हैं।
आयू के क्षय के साथ शेष, कर्मों का क्षय भी करते हैं।।
पश्चात् शीघ्र ही समय मात्र में, लोक शिखर बस जाते हैं।
अशरीरी सिद्धात्मा बनकर, सिद्धालय में बस जाते हैं।।

अर्थ–केवली भगवान के आयु के क्षय के साथ ही शेष प्रकृतियों का नाश हो जाता है, पश्चात् वे शीघ्र ही एक समयमात्र में लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–केवली भगवान अपनी आयुपर्यंत समवसरण में विराजकर दिव्यध्वनि के द्वारा असंख्य भव्य जीवों को धर्मोपदेश से तार देते हैं पुनः आयु कर्म के समाप्त होने के साथ-साथ शेष—अघाति कर्मों की प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। तब अशरीरी सिद्धात्मा एक समय मात्र में यहाँ से गमन कर तीन लोक के अग्रभाग में सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाते हैं।

4.46 सिद्ध भगवान लोकाग्र से ऊपर क्यों नहीं जाते ?

जीवाणं पुग्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति।।

(नियमसार गाथा-183)

जीव अरु पुद्गल का गमनक्षेत्र, धर्मास्तिकाय के आश्रित है।
उसके अभाव में जीव और, पुद्गल आगे नहिं जा सकते हैं।।
बस पुरुषाकार प्रमाण लोक तक, धर्म द्रव्य की सत्ता है।
इस कारण ही उसके आगे नहिं, जीव द्रव्य जा सकता है।।

अर्थ–जीव और पुद्गलों का गमन जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जानो क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में ये उससे परे नहीं जा सकते हैं।

भावार्थ–पुरुषाकारप्रमाण लोकाकाश में ही जीव और पुद्गल हैं, यहीं तक धर्म, अधर्म और कालद्रव्य हैं इसलिये तीनों लोकों से परे धर्मास्तिकाय के न होने से सिद्ध भगवान भी अलोकाकाश में नहीं जा सकते हैं। यह व्यवहारनयप्रधान कथन है क्योंकि निश्चयनय से जीव के गमनागमन का प्रश्न ही नहीं है।

इस प्रकार अनंत-अनंत संसारी प्राणी, श्रावक और मुनिधर्म को प्राप्त कर ध्यान के बल से कर्मों का नाश कर सिद्ध भगवान हो चुके हैं। वे वापस संसार में कभी भी नहीं आयेंगे।

4.47 हम आत्मगुणों की एवं भगवान की शरण लेते हैं–

णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं चरियसरणं च।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो।।

(मूलाचार गाथा-96)

मेरी आत्मा के लिये ज्ञान ही, शरण चरित्र शरण ही है।
तप, संयम, शरण और सम्यग्दर्शन, बिन शरण कोई नहिं हैं।।
भगवान वीर की शरण मुझे, अंतिम समाधि की शरण मिली।
इन सच्चे चरणों में आकर, मुझको आत्मा की शरण मिली।।

अर्थ–मेरे लिये ज्ञान शरण है, चारित्र शरण है, तप शरण है, संयम शरण है और भगवान महावीर स्वामी शरण हैं।

भावार्थ–यहाँ श्री कुन्दकुन्द देव ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और संयम को शरण माना ही है क्योंकि ये ही आत्मा को शुद्ध करने वाले हैं और आत्मा के ही गुण हैं, पुनः भगवान महावीर स्वामी की शरण ली है। हमें भी इन रत्नत्रय गुण की और भगवान महावीर की शरण लेनी चाहिये क्योंकि भगवान की शरण के बिना केवल अध्यात्म आपत्ति में रक्षा नहीं कर सकता है, यह नियम है।

4.48 व्यवहार-निश्चय समन्वय का उदाहरण–

इदि णिच्छयववहारं, जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो, सो पावइ परमणिव्वाणं।।

(द्वादश अनुप्रेक्षा गाथा-91)

मुझे कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने जो, ऐसा निश्चय व्यवहार कहा।
दोनों ही नय के द्वारा जो, सिद्धान्त समन्वयसार कहा।।
उसको जो मुनिवर शुद्धमना, हो करके नितप्रति भाते हैं।
वे ही मुनिवर संसार छोड़, निर्वाण धाम पा जाते हैं।।

अर्थ–मुझ कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने जो इस प्रकार से निश्चय और व्यवहार को कहा है, उसको जो शुद्धमना होकर भाते हैं वे परमनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–'बारस अणुपेक्खा' ग्रन्थ में आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अंत में अपना नाम रखा है अतः ग्रन्थ की समाप्ति में अपना नाम नहीं रखना ऐसा एकान्त नहीं लेना चाहिये। आज प्रायः कई ग्रन्थों में कर्त्ता का नाम न होने से वे ग्रन्थ ही विसंवाद के विषय बन जाते हैं, जैसे कि पंचाध्यायी आदि।

इस प्रकार अपने सर्व ग्रन्थों में आचार्यदेव ने निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का समन्वय किया है। जो दोनों नयों को लेकर शुद्ध आत्मतत्त्व आदि भाते हैं वे ही निर्वाण सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

4.49 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–निश्चय चारित्र किसके होता है ?

(क) दिगम्बर मुनियों के ☐
(ख) उत्कृष्ट श्रावकों के ☐
(ग) सिद्ध भगवान के ☐

प्रश्न 2–चारित्र के कितने भेद हैं ?

(क) चार ☐
(ख) पाँच ☐
(ग) दो ☐

प्रश्न 3-गुणस्थानों के चौदह भेदों में से आठवां गुणस्थान–

(क) अविरत ☐

(ख) अप्रमत्त विरत ☐

(ग) अपूर्वकरण ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-व्यवहारनय कहां तक प्रयोजनीभूत है, स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 2-आत्मा का स्वरूप क्या है ? शुद्ध आत्मा का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 3-केवलज्ञान की महिमा बताइए ? केवली भगवान विश्व को किस दृष्टि से जानते हैं ?

प्रश्न 4-कर्मबन्ध कहां तक है, स्पष्टीकरण कीजिए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-केवली भगवान लोकाग्र पर किस प्रकार जाते हैं और सिद्ध भगवान लोकाग्र से ऊपर क्यों नहीं जाते ? विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण कीजिए ?

इकाई–4 न्याय विद्या की न्याययुक्तता

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) जैन न्याय ग्रंथों के मंगलाचरण

(2) न्याय शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

(3) आचार्य अकलंक देव, समन्तभद्र एवं विद्यानंदि की जैन न्याय को देन

(4) जैन न्याय की उपयोगिता

(5) सर्वोच्च न्याय ग्रंथ : अष्टसहस्त्री

पाठ 1 – जैन न्याय ग्रंथों के मंगलाचरण

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं।।

—(आचार्य सिद्धसेन, सम्मइसुत्तं (सन्मतिसूत्र))

अर्थ—संसार को जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान का शासन अनुपम सुख के स्थान को प्राप्त है, प्रमाणप्रसिद्ध अर्थों का स्थान है और मिथ्यामत का निवारण करने वाला स्वतःसिद्ध है।

उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलं ज्योतिर्ज्वलत्केवला–
लोकालोकितलोकालोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम्।
वंदित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभंगीविधिः,
स्याद्वादामृतगर्भिणी प्रतिहतैकांतान्धकारोदयाम्।।

—(अकलंकदेव अष्टशती)

अर्थ—जिन्होंने धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया है और प्रज्वलित होती हुई अचल ज्योतिरूप केवलज्ञान के आलोक (प्रकाश) से लोक और अलोक को देख लिया है तथा जो समस्त/इन्द्रों से वन्दित हैं, उन अरिहन्तों के समूह को नमस्कार हो। जिसने एकान्तरूपी अन्धकार को दूर कर दिया है ऐसी सप्तभंगीरूप स्याद्वादरूपी अमृत से पूर्ण वाणी को भी नमस्कार हो।

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थ–बोध–दीधिति–मालिने।
नमः श्रीजिनचन्द्राय, मोह–ध्वान्त–प्रभेदिने।।

—(आचार्य विद्यानन्दि, आप्तपरीक्षा)

अर्थ—जो समस्त पदार्थ प्रकाशक ज्ञानकिरणों से विशिष्ट हैं (यानी भूत, भावी और वर्तमान सम्पूर्ण जीवादि पदार्थों के ज्ञाता है) और मोहरूपी अन्धकार के प्रभेदक हैं यानी मोहनीय कर्म के नाश करने वाले हैं उन श्री जिनरूप चन्द्रमा के लिए नमस्कार हो, यानी अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार हो।

देवागम–नभोयान–चामरादि–विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।

—(आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा)

अर्थ—(हे वीर जिन!) देवों के आगमन के कारण, आकाश में गमन के कारण और चामरादि विभूतियों के कारण आप हमारे गुरु–पूज्य अथवा आप्त पुरुष नहीं हैं, क्योंकि ये अतिशय मायावियों में भी देखे जाते हैं। आप तो दोषों से रहित वीतराग और सर्वज्ञ हैं, अतः प्रणम्य हैं।

गुणानां विस्तरं वक्ष्ये, स्वभावानां तथैव च।
पर्यायाणां विशेषेण, नत्वा वीरं जिनेश्वरम्।।

—(आचार्य देवसेन, आलाप–पद्धति)

अर्थ—महावीर भगवान को नमस्कार करके मैं गुणों और स्वभावों के तथा विशेषरूप से पर्यायों के विस्तार को कहूँगा।

प्रणम्य सर्वविज्ञानमहास्पदमुरुश्रियम्।
निर्धूतकल्मषं वीरं, वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम्।।

—आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक)

अर्थ—सर्वविज्ञानमय, बाह्य–अभ्यंतर लक्ष्मी के स्वामी और परम–वीतराग श्री महावीर को प्रमाण करके तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ को कहता हूँ।

श्रीवर्धमानमाध्याय, घातिसंघातघातनम्।
विद्यास्पदं प्रवक्ष्यामि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्।।

—(आचार्य विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार)

अर्थ—अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी और समवसरण आदि बाह्यलक्ष्मी से सहित हो रहे इष्टदेव श्री वर्धमान स्वामी चौबीसवें तीर्थंकर को, जिन्होंने चारों घातिकर्मों की सैंतालीस प्रकृतियों तथा इनकी उत्तरोत्तर अनेक प्रकृतियों का क्षायिक रत्नत्रय से समूल–चूल क्षय कर दिया है और जो मेरे अवलम्ब हैं, उनका मन, वचन, काय से ध्यान करके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नामक ग्रंथ को कहूँगा।

दव्वा विस्ससहावा, लोगागासे सुसंठिया जेहिं।
दिट्ठा तिलायविसया, वंदेऽहं ते जिणे सिद्धे।।

—(माइल्लधवल, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र (णयचक्को)

अर्थ—जिन्होंने लोकाकाश में सम्यक्रूप से स्थित विश्वस्वरूप त्रिकालवर्ती द्रव्यों को देखा, उन जिनों और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं, नत्वा बालप्रबुद्धये।
विरच्यते मित–स्पष्ट–सन्दर्भ–न्यायदीपिका।।

—(श्रीमदभिनव–धर्मभूषण यति, न्यायदीपिका)

अर्थ—श्री वर्द्धमान स्वामी को अथवा 'अन्तरंग' और 'बहिरंग' विभूति से प्रकर्ष को प्राप्त समस्त जिन–समूह को नमस्कार करके मैं जिज्ञासु बालकों (मन्द जनों) के बोधार्थ विशद् संक्षिप्त और सुबोध 'न्यायदीपिका' को बनाता हूँ।

पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम्।।

—(कविवर पं. राजमल्ल, पंचाध्यायी)

अर्थ—अवयवरूप से 5 अध्यायों में विभक्त ग्रन्थराज को आत्मवश होकर बनाने वाले मेरे लिए जिनके वचन पदार्थों का प्रतिभास कराने में मूल कारण हुए, उन महावीर स्वामी की मैं (ग्रन्थकार) स्तुति करता हूँ।

श्रीवर्द्धमानमानम्य, स्याद्वादन्यायनायकम्।
प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थं, पत्रवाक्यं विचार्यते।।

—(आचार्य विद्यानन्दि, पत्रपरीक्षा)

अर्थ—स्याद्वाद न्याय के नायक, समस्त पदार्थों को जानने वाले, श्री वर्द्धमान भगवान को नमस्कार करके 'पत्रवाक्य' का विचार करता हूँ।

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म, सिद्धमल्पं लघीयसः।।

—(आचार्य माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख)

अर्थ—प्रमाण से पदार्थों का निर्णय होता है और प्रमाणाभास से पदार्थों का निर्णय नहीं होता। इसलिए मन्दबुद्धि बालकों के हितार्थ उन दोनों के संक्षिप्त और पूर्वाचार्य प्रसिद्ध लक्षण कहता हूँ।

जयन्ति निर्जिताशेष–सर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः।।

—(आचार्य विद्यानन्दि, प्रमाणपरीक्षा)

अर्थ—जिन्होंने सम्पूर्ण सर्वथा एकान्त नयों को जीत लिया है, जो सत्यवाक् (अनवद्य/हितकारी वचन) के स्वामी हैं तथा जो सदा केवलज्ञानरूपी विद्या से आनन्दित हैं—ऐसे जिनराज जयवन्त हैं।

श्रीवर्धमानं सुरराजपूज्यं, साक्षात्कृताशेषपदार्थतत्त्वम्।
सौख्याकरं मुक्तिपतिं प्रणम्य, प्रमाप्रमेयं प्रकटं प्रवक्ष्ये।।

—(आचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव, प्रमाप्रमेय)

अर्थ—देवों के राजा, इन्द्र द्वारा पूजित, सुख के आकर (भण्डार) श्रेष्ठ निधि, मुक्ति के स्वामी तथा समस्त पदार्थों के स्वरूप को जिन्होंने साक्षात्–प्रत्यक्ष जाना है, उन श्री वर्धमान महावीर जिन को प्रणाम करके मैं प्रमाप्रमेय तथा उसके विषयों का स्पष्ट वर्णन करूँगा।

सिद्धेर्धाम महारिमोहहननं कीर्त्तेः परं मन्दिरम्,
मिथ्यात्वप्रतिपक्षमक्षयसुखं संशीतिविध्वंसनम्।
सर्वप्राणिहितं प्रभेन्दुभवनं सिद्धं प्रमालक्षणम्,
संतश्चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्द्धमानं जिनम्।।

—(आचार्य प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड)

अर्थ—जो सिद्धि मोक्ष के स्थान स्वरूप हैं, मोहरूपी महाशत्रु का नाश करने वाले हैं, कीर्ति देवी के निवास/मंदिर हैं अर्थात् कीर्ति–संयुक्त हैं, मिथ्यात्व के प्रतिपक्षी हैं, अक्षय सुख के भोक्ता हैं, संशय का नाश करने वाले हैं, सभी जीवों के लिए हितकारक हैं, कान्ति के स्थान हैं, अष्ट कर्मों का नाश करने से सिद्ध हैं तथा ज्ञान ही जिनका लक्षण है अर्थात् केवलज्ञान के धारक हैं—ऐसे श्री वर्द्धमान भगवान का बुद्धिमान सज्जन निज मन में ध्यान करें—चिन्तवन करें।

नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विषे।
नमो जिनाय दुर्वारमारवीरमदच्छिदे।।

—(श्रीमल्लघु अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला)

अर्थ—नम्रीभूत चतुर्निकाय देवों के मुकुटों में लगे हुए मणियों की प्रभा से जिनके चरण–कमलों के नखों की कान्ति दैदीप्यमान हो रही है और जो दुर्निवार पराक्रम वाले कामदेव के मद को छेदने वाले हैं, ऐसे श्री जिनदेव को हमारा नमस्कार है।

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं, त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम्।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं, विशीर्णदोषाऽऽशयपाशबन्धम्।।

—(आचार्य समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन)

अर्थ—हे वीरजिन! आप दोषों और दोषाशयों के पाशबन्धन से विमुक्त हुए हैं, आप निश्चितरूप से ऋद्धिमान हैं और आप महती कीर्ति से भूमण्डल पर वर्द्धमान हैं। अब आपको स्तुतिगोचर मानकर हम आपको अपनी स्तुति का विषय बनाना चाहते हैं।

धर्मतीर्थंकरेभ्योस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
वृषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये।।

—(आचार्य अकलंकदेव, लघीयस्त्रय)

अर्थ—स्याद्वादी धर्मतीर्थंकर वृषभनाथ से लेकर अन्तिम महावीर तीर्थंकर के लिए स्वात्म उपलब्धि हेतु बारंबार नमस्कार हो।

विद्यानन्दाधिपः स्वामी, विद्वद्देवो जिनेश्वरः।
यो लोकैकहितस्तस्मै, नमस्तात् स्वात्मलब्धये।।

—(आचार्य विद्यानन्दि, सत्यशासनपरीक्षा)

अर्थ—केवलज्ञानरूपी विद्या के आनन्द में अग्रणी, स्वामी, विद्वान, देव, जिनेश्वर जो लोक के अनन्य हितैषी हैं, उनको अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए नमस्कार होवे।

वन्दित्वा सुरसन्दोहवन्दितांघ्रिसरोरुहम्।
श्रीवीरं कुतकात्कुर्वे सप्तभंगीतरंगिणीम्।।

—(पं. विमलदास, सप्तभंगी तरंगिणी)

अर्थ—मैं (विमलदास) सम्पूर्ण देवसमूहों से जिनके चरण-कमल नमस्कृत हैं ऐसे तथा अष्ट महाप्रातिहार्यादि लक्ष्मी और गर्भकल्याणकादि पंच मंगल समयों में इन्द्रों के आसनों की कम्पन आदि श्रीयुक्त महावीर स्वामी को नमस्कार करके कुतूहल में अर्थात् अनायास ही (बिना परिश्रम के) इस 'सप्तभंगीतरंगिणी' नामक ग्रंथ को रचता हूँ।

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्।
श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं, स्वयम्भुवे स्तोतुमहं यतिष्ये।।

—(मल्लिषेणसूरि, स्याद्वादमंजरी)

अर्थ—अनन्त ज्ञान के धारक, दोषों से रहित, अबाध्य सिद्धान्त से युक्त, देवों द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओं में (आप्तों में) प्रधान और स्वयंभू ऐसे श्री वर्धमान जिनेन्द्र की स्तुति करने के लिए मैं प्रयत्न करूँगा।

अष्टसहस्त्री के रचयिता टीकाकार श्री विद्यानन्दि आचार्यदेव द्वारा रचित अष्टसहस्त्री के दशों अध्याय के मंगलाचरण

श्रीवर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम्।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य।।

—(आचार्य विद्यानन्दि, अष्टसहस्री)

अर्थ—जो समंत अर्थात् सर्वप्रकार से भद्र अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं, जिनके केवलज्ञान की महिमा प्रकट हो चुकी है, जो विद्यानंदमय हैं, जिनके वचन अनिन्द्य अर्थात् अकलंकरूप अनेकान्तमय है, ऐसे श्री अर्थात् अंतरंग-

अनन्त–चतुष्टयादि एवं बहिरंग–समवसरणादि विभूति से सहित अंतिम तीर्थंकर श्री वर्धमान भगवान को नमस्कार करके महाशास्त्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के प्रारम्भ में 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलरूप से रचित स्तुति के विषयभूत आप्त की मीमांसा स्वरूप जो 'देवागम स्तोत्र' है उसे भाष्यरूप से मैं अलंकृत करता हूँ। (**प्रथम परिच्छेद**)

श्रोतव्याष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्त्रसंख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः।।

अर्थ—जिसके द्वारा ही स्वसमय और परसमय का सद्भाव जाना जाता है ऐसी अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों शास्त्रों के सुनने का क्या प्रयोजन ? अर्थात् इस अष्टसहस्री के पठन श्रवण से ही स्वमत और परमत का ज्ञान हो जाता है इसलिये इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। (**द्वितीय परिच्छेद**)

अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्त्री कृतापि संक्षेपात्।
विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या।।

अर्थ—श्री भट्टाकलंकदेव के द्वारा रचित अष्टशती प्रसिद्ध अर्थ से सहित है जो कि शोभायमान अकलंक–निर्दोष बुद्धि के धारक श्री विद्यानन्दि स्वामी के द्वारा अष्टसहस्रीरूप से की गई भी संक्षिप्त ही है। उत्तम बुद्धि धारक पुरुष को उसके अर्थ को और अधिक विस्तार करके समझना चाहिए। (**तृतीय परिच्छेद**)

जीयादष्टसहस्त्री देवागमसंगतार्थमकलङ्कम्।
गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्नगम्भीरपदपदवी।।

अर्थ—अकलंक–निर्दोष, देवागम से संगत–अनुरूप अर्थ को, अथवा श्री समंतभद्र स्वामी द्वारा किये गये देवागम स्तोत्र पर श्री अकलंक देव के द्वारा रचित अष्टशती टीका के अर्थ को सम्यक्नयों के प्रयोग से बतलाती हुई, प्रसन्न एवं गम्भीर पद–वाक्यों से सहित, श्री विद्यानन्द स्वामी द्वारा रचित अष्टसहस्री नामक टीका इस पृथ्वी पर चिरकाल तक जयशील होवे।। (**चतुर्थ परिच्छेद**)

स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति पदिष्टचेतसामसमम्।
दर्शितसमन्तभद्रं साष्टसहस्त्री सदा जयतु।।

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुषों के लिये अनुपम, अकलंक–निर्दोष पद को प्रकट करने वाली है अथवा जो भट्टाकलंक देव के द्वारा की गई अष्टशती के अनुपम पदों को स्फुट करने वाली है। एवं जो समंत—चारों तरफ से भद्र–कल्याण को दिखलाने वाली है अथवा श्री स्वामी समंतभद्राचार्य कृत देवागमस्तोत्र नामक मूल स्तुति को दिखाने वाली है। ऐसी श्री विद्यानंदि आचार्य द्वारा विरचित अष्टसहस्री सदा जयशील होवे।। (**पंचम परिच्छेद**)

पुष्यदकलङ्कवृत्तिं समन्तभद्रप्रणीततत्त्वार्थाम्।
निर्जितदुर्णयवादामष्टसहस्त्रीमवैति सद्दृष्टिः।।

अर्थ—अकलंक–निर्दोष अर्थ को पुष्ट करने वाली अथवा अकलंकदेव द्वारा रचित अष्टशती नाम की टीका को पुष्ट करने वाली एवं समंतभद्र–कल्याण स्वरूप तत्त्वों के अर्थ का प्रणयन करने वाली अथवा श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा रचित देवागमस्तोत्र से तत्त्वों के अर्थ का प्रतिपादन करने वाली इस अष्टसहस्री नाम की टीका को सम्यग्दृष्टिजन दुर्नयवाद को जीतने वाली समझते हैं। (**षष्ठ परिच्छेद**)

निर्दिष्टो यः शास्त्रे हेत्वागमनिर्णयः प्रपञ्चेन।
गमयत्यष्टसहस्त्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात्।।

अर्थ—श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यवर्य कृत मूल देवागमस्तोत्र में जो हेतु और आगम का निर्णय विस्तृतरूप से किया गया है उसी को अपनी शक्ति के अनुसार यह अष्टसहस्री संक्षेप से बतलाती है। (**सप्तम परिच्छेद**)

ज्ञापकमुपायतत्त्वं समन्तभद्राकलङ्कनिर्णीतम्।
सकलैकान्तासंभवमष्टसहस्री निवेदयति।।

अर्थ—जो श्री समन्तभद्र स्वामी के द्वारा 'देवागम स्तोत्र' रूप से और श्री भट्टाकलंक देव के द्वारा अष्टशती टीकारूप से निर्णीत है। अथवा जो श्री समंतभद्र स्वामी के द्वारा अकलंक–निर्दोषरूप से निर्णीत है तथा समंतात्–सर्वतः भद्रस्वरूप, श्री अकलंकदेव के द्वारा निर्णीत है। जिसमें एकांत पक्ष असंभव हैं ऐसा ज्ञापक–प्रकाशक ज्ञानरूप उपाय तत्त्व का यह अष्टसहस्री विस्तृत विवेचन करती है। (**अष्टम परिच्छेद**)

सम्यगवबोधपूर्वं पौरुषमपसारिताखिलानर्थम्।
दैवोपेतमभीष्टं सर्वं संपादयत्याशु।।

अर्थ—अखिल अनर्थों से रहित, सम्यग्ज्ञानपूर्वक हुआ पुरुषार्थ, भाग्य से रहित ही अभीष्ट है और वही शीघ्र ही सम्पूर्ण कार्य को सिद्ध करता है। (**नवम परिच्छेद**)

श्रीमदकलङ्कविवृतां समन्तभद्रोक्तिमत्र संक्षेपात्।
परमागमार्थविषयामष्टसहस्री प्रकाशयति।।

अर्थ—श्री स्वामी समंतभद्र के देवागमस्तोत्ररूप वचन हैं अथवा समंतात्भद्र को करने वाले वचन हैं उनकी श्री भट्टाकलंक देव ने अष्टशती नाम से टीका की है अथवा जो श्री–अंतरंग, बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित, कलंकरहित निर्दोष हैं एवं परमागम के अर्थ को विषय करने वाले हैं उन्हीं को संक्षेप में अष्टसहस्री नाम की टीका प्रकाशित करती है। (**दशम परिच्छेद**)

अष्टसहस्री ग्रंथ में हिन्दी टीकाकर्त्री गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित मंगलाचरण

सिद्धान् नत्वार्हतश्चाप्तान्, आदिब्रह्मा स वंद्यते।
युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे दिश।।

अर्थ—सिद्धों को और आप्तस्वरूप अर्हंतों को नमस्कार करके उन आदिब्रह्मा की मेरे द्वारा वंदना की जाती है जो कि युग की आदि में सृष्टिकर्मभूमिरूपी सृष्टि के कर्ता हुये हैं। वे आदिनाथ भगवान् मुझे ज्ञानज्योति प्रदान करें।

तीर्थेशं श्रीत्रिभुवनपतिं वीरनाथं प्रणम्य, श्रीतत्त्वार्थं जिनवरवचःपूतपीयूषगर्भम्।
चित्ते धृत्वा यतिपतिजगत्पत्युमास्वामिसूरिः, मूर्ध्ना नित्यं भुवनमहितः वंद्यते सूत्रकर्ता।।

अर्थ—धर्म तीर्थ के ईश्वर–तीर्थेश्वर श्री–अंतरंग लक्ष्मी अनंतचतुष्टय आदि और बहिरंग लक्ष्मी समवसरणविभूति, उसके स्वामी तथा तीनलोक के नाथ ऐसे महावीर स्वामी को नमस्कार करके जिनेन्द्रदेव के पवित्र वचनरूपी अमृत से गर्भित श्री तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र को अपने हृदय में धारण करके यतीश्वरों के अधिपति तथा जगत् के स्वामी श्री उमास्वामी आचार्य जो कि जगत् में पूज्य हैं, तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ के कर्ता हैं, शिर झुकाकर नित्य ही मेरे द्वारा उनकी वंदना की जाती है।

श्रीमत्सूत्रावतरणविधौ श्लोकमादौ कृतं यत्,
श्रीमान् स्वामी मुनिगणपतिः स्तोत्रमाश्रित्य तर्कात्।
मीमांसां यां जिनपतिमहाप्तस्य सामन्तभद्रीं,
कृत्वा लोके जयति नितरां नम्यतेऽसौ मयात्र।।

अर्थ—श्रीमान—रत्नत्रय लक्ष्मी से विभूषित सूत्र के अवतार की विधि में सर्वप्रथम ग्रंथकार ने जो श्लोक बनाया था। श्रीमान् मुनियों के अधिपति श्री समंतभद्र आचार्य ने उस मंगलस्तोत्र का आश्रय लेकर तर्क–बुद्धि से जिनेन्द्रदेव महाआप्त की मीमांसा की, जो कि श्री समंतभद्राचार्य की कृति और सब प्रकार से भद्र–कल्याण को करने

वाली आप्त मीमांसा है उसको रच करके जो लोक में अतिशय जयशील हो रहे हैं, ऐसे श्रीसमंतभद्राचार्य को यहाँ मेरे द्वारा नमस्कार किया जा रहा है।

देवागमस्तवनमाप्तपरीक्षया यत्। तस्योपरि प्रकटिताष्टशती सुटीका।
येनेह तं विजितवादिगणं मुनीन्द्र, वंदे कलंकरहितं ह्यकलंकदेवम्।।

अर्थ—आप्त की परीक्षापूर्वक यह 'देवागमस्तोत्र' नाम का जो शास्त्र है उसके ऊपर जिन्होंने "अष्टशती" नाम से टीका बनाई है। वादीजनों को जीतने वाले, कलंक रहित, मुनीन्द्र श्री अकलंकदेव की मेरे द्वारा वंदना की जाती है।

देवागमस्तवं ह्याष्टशतीयुक्तं प्रपद्य यैः।
कृता टीकाष्टसाहस्री, श्रीविद्यानंदिने नमः।।

अर्थ—अष्टशती से युक्त इस देवागमस्तोत्र को प्राप्त करके जिन्होंने 'अष्टसहस्री' नाम से टीका रची है उन श्री विद्यानंदि आचार्य को मेरा नमस्कार हो।

अष्टसहस्री वंद्या, सप्तसुभंगैस्तरंगितामृतसरणिः।
यामवगाह्य वचो मे, समन्तभद्रं ह्यकलंकं लघु भूयात्।।

अर्थ—सप्तभंगरूपी तरंगों से सहित अमृत की नदीस्वरूप अष्टसहस्री सदा वंद्य है कि जिसका अवगाहन करके मेरे वचन शीघ्र ही समंतभद्र स्वरूप–सबका हित करने वाले और अकलंक–निर्दोष हो जावें।

भावाभावस्वभावेन, वस्तुतत्त्वं व्यवस्थितं।
या ब्रूते तां स्तुवे नित्यं, प्रक्रियां सप्तभंगिनीं।।

अर्थ—भाव और अभाव के स्वभाव द्वारा वस्तु तत्त्व को व्यवस्थित रूप से बतलाने वाली जो सप्तभंगी प्रक्रिया है, उसकी मैं स्तुति करता हूँ।

दशाध्याये परिच्छिन्ने, प्रोक्ताः स्याद्वादप्रक्रियाः।
नमाम्यष्टसहस्रीं तां, वाक्शुद्ध्यै नयसिद्धये।।

अर्थ—जिसके अन्दर दश अध्यायों में विभक्त स्याद्वाद प्रक्रिया कही गई है उस अष्टसहस्री की मैं वचन शुद्धि और नय की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ।

स्याद्वादचिंतामणिनामधेया। टीका मयेयं क्रियतेऽल्पबुद्ध्या।
चिंतामणिः चिंतितवस्तुदाने। सम्यक्त्वशुद्ध्यै भवतात् सदा मे।

अर्थ—स्याद्वादचिंतामणि नाम की यह टीका मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा की जा रही है। यह चिंतित वस्तु को देने में चिंतामणि ही है, यह चिंतामणि टीका सदा मेरे सम्यक्त्व की शुद्धि के लिये होवे।

उमास्वामिकृतं पूत–महंत्संस्तवमंगलं। महेश्वरश्रियं दद्यात्, महादेवपदस्थितं।।
मूलाधारं स्तुतेराप्त–मीमांसाकृतेरिदं। मूलमष्टसहस्र्याश्च, मंगलं मंगलं क्रियात्।।
देवागमस्तवोद्भूता, समंतात् भद्रकारिणी। अकलंकवचःपूता, विद्यानंदं तनोतु मे।।
महापूज्या जगन्माता, स्याद्वादामृतवर्षिणी। अनेकांतमयीमूर्तिः, सप्तभंगतरंगिणी।।
स्वपर–समयज्ञानं, प्रकटीकुरुते सदा। सर्वथैकांतदुर्दांतान्, विमदीकुरुते क्षणात्।।
जिनशासन माहात्म्य–वर्धने पूर्णचंद्रवत्। मिथ्यामतमहाध्वांत–ध्वंसने सूर्यवत् सदा।।
जीयात् कष्टसहस्रैर्या साध्या सर्वार्थसिद्धिदा।
पुष्यात्साष्टसहस्री मे, वांछां शतसहस्रिकाम्।।

उमास्वामी के द्वारा कृत, पवित्र अर्हंतदेव का स्तवरूप मंगलाचरण महादेव पद में स्थित ऐसी महेश्वर की लक्ष्मी

मुझे प्रदान करे।

भावार्थ—इस श्लोक में श्लेषालंकार है अतः उमा–पार्वती के पति महादेव पक्ष में उमा–लक्ष्मी–तपो लक्ष्मी के स्वामी आचार्य श्री उमास्वामी के द्वारा रचित "मोक्षमार्गस्य नेतारं.....आदि मंगलाचरण मुझे महादेव की लक्ष्मी– "महांश्च चासौ देवः च महादेवः" के अनुसार महान् देव देवों के भी देव श्री अर्हंतदेव की लक्ष्मी प्रदान करें।

आप्तमीमांसा नाम की स्तुति का मूल आधारभूत और अष्टसहस्री का भी मूल ऐसा यह मंगलाचरण सदा मंगल करे। "देवागमस्तव" से उत्पन्न हुई, समंतात्–सब तरफ से भद्र–कल्याण को करने वाली, अकलंकवचन–निर्दोष वचन से पवित्र यह अष्टसहस्री ग्रंथ मुझे–विद्यानंद ऐसे तीनों आचार्यों का नाम लेकर स्तवन भी कर दिया गया है। जो महान् पूज्य है, जगत् की माता है, स्याद्वादरूपी अमृत को बरसाने वाली है, अनेकांतमयी मूर्ति है, सप्तभंगों के तरंगों से सहित उत्तम नदी है, हमेशा स्वसमय और परममय के ज्ञान को प्रगट करती है। सर्वथा–एकांत दुराग्रहरूपी मत्त हस्तियों के मद को क्षण में दूर करने वाली है। जिनशासन के महात्म्य को बढ़ाने में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान है। मिथ्यामतरूपी महा अंधकार को नष्ट करने में सदा सूर्य के समान है। जो हजारों कष्टों से सिद्ध होने योग्य है वह अष्टसहस्री सदा जयशील होवे, सर्व अर्थ की सिद्धि को देने वाली होवे और मेरी सहस्रों वांछाओं को सफल करे। (**प्रथम परिच्छेद**)

अद्वैतद्वैतनिर्मुक्तं, शुद्धात्मनि प्रतिष्ठितम्।
ज्ञानैकत्वं परं प्राप्त्यै, नुमः स्याद्वादनायकम्।।

अर्थ—अद्वैत और द्वैत से रहित, शुद्धात्मा में प्रतिष्ठित, उत्कृष्ट जो ज्ञान का एकत्व है–एकरूपता है उसकी प्राप्ति के लिये हम स्याद्वाद के नायक श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करते हैं। (**द्वितीय परिच्छेद**)

ये नित्या नाप्यनित्या वा, स्याद्वादिज्ञानगोचराः।
अनाद्यनिधनाः शुद्धास्तान् सिद्धान् प्रत्यहं नमः।।

अर्थ—जो न नित्य है न सर्वथा अनित्य ही हैं, स्याद्वादीजनों के ज्ञान के विषय हैं, अनादि और अनंत हैं, शुद्ध हैं, उन सिद्धों को हम प्रतिदिन नमस्कार करते हैं। (**तृतीय परिच्छेद**)

भेदाभेदविनिर्मुक्तं योगिगम्यमगोचरम्।
निर्भेदमप्यनंतं तं शुद्धात्मानं नमाम्यहम्।।

अर्थ—जो भेद–अभेद से रहित है, योगियों के ज्ञानगोचर होकर भी अगोचर है, भेदों से रहित एक होकर भी गुणों की अपेक्षा अनंत है ऐसी शुद्धात्मा को हम नमस्कार करते हैं। (**चतुर्थ परिच्छेद**)

ज्ञानैकरूपं परमात्मसंज्ञं, स्वायंभुवं स्वात्मगुणौघतुष्टम्।
कर्मारिनाशाय वयं निजानां, तं देवदेवं प्रणुमः सुभक्त्या।।

अर्थ—ज्ञान ही है एक स्वरूप जिनका, जो 'परमात्मा' इस नाम को धारण करने वाले हैं, 'स्वयंभू भगवान हैं और जो अपने आत्मा के गुणों के समूह से संतुष्ट हो चुके हैं, हम अपने कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के लिये ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं। (**पंचम परिच्छेद**)

जैनेंद्रवक्त्रांबुजनिर्गता या, भव्यस्य माता हितदेशनायां।
अनंतदोषान् क्षपितुं क्षमापि, तनोतु सा मे वरबोधिलब्धिम्।।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् के मुख कमल से निकली हुई जो वाणी है वह भव्य जीवों को हितकर उपदेश देने में माता के समान ही है। वह भव्यों के अनंत दोषों को भी नष्ट करने में समर्थ हैं ऐसी वह जिनवाणी मुझे उत्तम बोधि–रत्नत्रय का लाभ प्रदान करे। (**षष्ठ परिच्छेद**)

अंतस्तत्त्वं बहिस्तत्वं, पश्यंति ज्ञानचक्षुषा।
स्याद्वादस्वामिनो वंदे, स्वात्मतत्त्वस्य सिद्धये।।

अर्थ—जिन्होंने अपने ज्ञान नेत्र के द्वारा अंतरंग तत्त्व और बाह्य तत्त्व को देख लिया हैं ऐसे स्याद्वाद के स्वामी श्री जिनेन्द्रदेव की हम स्वात्मत्त्व की सिद्धि के लिये वंदना करते हैं। (**सप्तम परिच्छेद**)

धर्मपौरुषतो येन, स्वदैवो मूलतो हतः।
चकास्त्यनंतशक्तया यो, नुमस्तं मोक्षहेतवे।।

अर्थ—जिन्होंने अपने धर्म पुरुषार्थ के बल से अपने दैव को–शुभ अशुभ कर्म को जड़मूल से नष्ट कर दिया है और जो अनंतशक्ति से–अनंतगुणों से शोभित हो रहे हैं, मोक्ष के लिये हम उन्हें नमस्कार करते हैं। (**अष्टम परिच्छेद**)

पुण्यपापप्रहंतारोऽप्यर्हन्तः पुण्यराशयः।
तीर्थकृत्पुण्यदातारः, स्तुमस्तान् स्वात्मशुद्धये।।

अर्थ—पुण्य और पाप कर्मों के नष्ट करने वाले होते हुए भी जो पुण्य की राशि स्वरूप हैं और तीर्थंकर जैसे पुण्य बन्ध को देने वाले हैं, अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए हम उन जिनेन्द्रदेव की स्तुति करते हैं। (**नवम परिच्छेद**)

सर्वं जानंति सर्वज्ञाः केवलज्ञानचक्षुषा।
तान् नुमः पूर्णज्ञानाप्त्यै, भक्तिरागेण कोटिशः।।

अर्थ—केवलज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा जो सर्व लोक–अलोक को जानते हैं वे 'सर्वज्ञ' देव कहलाते हैं हम अपने में पूर्णज्ञान को केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिये उन सर्वज्ञदेव को भक्ति के अनुराग से करोड़ों बार नमस्कार करते हैं। (**दशम परिच्छेद**)

1.4 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-अष्टशती के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य पद्मनन्दि ☐ (ख) आचार्य अकलंकदेव ☐ (ग) आचार्य विद्यानन्दि ☐

प्रश्न 2-आप्तमीमांसा किसने लिखी ?

(क) आचार्य विद्यानन्दि ☐ (ख) आचार्य समन्तभद्र ☐ (ग) आचार्य देवसेन ☐

प्रश्न 3-परीक्षामुख के लेखक कौन हैं ?

(क) आचार्य भावसेन ☐ (ख) आचार्य प्रभाचन्द्र ☐ (ग) आचार्य माणिक्यनन्दि ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अष्टसहस्री के मंगलाचरण का अर्थ लिखें ?

प्रश्न 2-आलाप पद्धति का मंगलाचरण एवं उसका अर्थ लिखें ?

प्रश्न 3-लघीयस्त्रय ग्रंथ के रचयिता का नाम बताते हुए मंगलाचरण और उसका अर्थ लिखें ?

प्रश्न 4-अष्टसहस्री (हिन्दी टीका सहित) प्रथम भाग का मंगलाचरण लिखते हुए उसका अर्थ लिखें ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-प्रमेयकमल मार्तण्ड ग्रंथ की रचना किसने की ? उसका मंगलाचरण लिखते हुए अर्थ लिखें ?

पाठ-2—न्याय शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

2.1 जीव के दुःखों का मूल कारण एक ही है—अज्ञान, मिथ्याज्ञान, अतः दुःखनिवृत्ति का भी मूल कारण एक ही है—ज्ञान, सम्यग्ज्ञान। तथा यह सम्यग्ज्ञान न्याय के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतः न्याय का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वैसे तो हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही न्यायविद्या का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता रहा है और जीवन के हर क्षेत्र में उसकी महती उपयोगिता स्वीकार की गई है, जैसा कि महाकवि कौटिल्य ने लिखा है—

''प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।''

अर्थ—आन्वीक्षिकी विद्या (न्यायविद्या) शाश्वत काल से ही सर्व विद्याओं का प्रदीप, सर्वकर्मों का उपाय और सर्वधर्मों का आश्रय मानी गई है।

परन्तु यहाँ हम उतने विस्तार में नहीं जाना चाहते हैं। बस, इतना ही जोर देकर निवेदन करना चाहते हैं कि हमें रुचि लेकर न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा तत्त्व का समीचीन ज्ञान होता है और फिर उस समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा ही दुःखनिवृत्तिरूप मूल प्रयोजन सिद्ध होता है। अन्य कोई विधि नहीं है।

2.2 न्याय विद्या का महत्त्व—

न्यायविद्या के लिए शास्त्रों में अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं। यथा—परीक्षा, अन्वीक्षा, आन्वीक्षिकी, युक्ति, समीक्षा, तर्कविद्या, वादविद्या, हेतुविद्या, हेतुवाद, न्याय, नीति, औचित्य, विवेक, विचार, चिन्तन, परख इत्यादि। ये सभी तत्त्वान्वेषण में न्याय के विशेष महत्त्व को ही प्रकट करते हैं, अतः न्याय का ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए।

किन्तु कुछ लोग मोक्षार्थी होकर भी, समीचीन तत्त्वजिज्ञासु होकर भी अनेक बहाने बनाकर न्याय के ज्ञान से बचने का प्रयत्न करते हैं, जो ठीक नहीं है। यहाँ उन्हीं के मन की शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। यथा—

शंका—कुछ लोग कहते हैं कि न्यायशास्त्र का ज्ञान तो शास्त्रार्थ या वाद—विवाद या येन—केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन के लिए आवश्यक है, उसका आत्महित या तत्त्वज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं।

समाधान—ऐसी धारणा सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि न्यायशास्त्र का असली उद्देश्य समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्महित ही है, शास्त्रार्थ, वाद—विवाद या येन—केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमत—खण्डन नहीं।

जो लोग न्यायशास्त्र का उद्देश्य शास्त्रार्थ या वाद—विवाद या स्वमतमण्डन और परमतखण्डन मात्र समझते हैं, वे वस्तुतः न्याय की परिभाषा ही नहीं जानते। न्यायशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् आचार्य अकलंकदेव ने तो ऐसे लोगों को 'गुणद्वेषी' और 'न्यायशास्त्र के मलिनकर्ता' तक कहा है। यथा—

''बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै—
र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः।।''

अर्थ—अहो, आत्महिताभिलाषी जीवों के पूर्वोपार्जित महापाप कर्म के उदय से, अविद्या—अन्धकार के माहात्म्य से और स्वयं कलियुग के प्रभाव से वर्तमान में गुणद्वेषी लोगों ने न्याय को मलिन कर दिया है। तथापि धन्य हैं वे अनुकम्पा—परायण आचार्य जो आज भी उसे किसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी जल से प्रक्षलित करते हुए आगे लिए चले जा रहे हैं।

आचार्य अकलंक के उक्त कथन में उनके हृदय की अपार वेदना और साथ ही करुणा भी प्रकट हो रही है, जिस पर हमें गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए।

वस्तुतः यह महान दुःख का विषय है कि जो न्याय तत्त्वज्ञान का आवश्यक उपाय है, अनिवार्य साधन है, उसे लोगों ने वाद–विवाद एवं जय–पराजय का हेतु बना दिया है और तन्निमित्त छल–निग्रहादि का भी उपदेश दे दिया है। कषाय मिटाने के साधन को कषाय बढ़ाने का साधन बना दिया है।

यह सब देखकर हमारा भी हृदय बहुत दुःखी होता है, पर किया क्या जा सकता है, सिवाय इसके कि आचार्य अकलंकदेव की भाँति हम भी अपनी क्षमतानुसार इसे सम्यग्ज्ञान–जल से प्रक्षालित करते हुए आगे ले चलें। कुछ पात्र जीवों का तो कल्याण होगा ही।

दरअसल वाद–विवाद और परीक्षा–ये दोनों पृथक्–पृथक् दो चीजें हैं और दोनों में महान् अन्तर है। जिस प्रकार स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता में बड़ा अन्तर है, ईर्ष्या और स्पर्द्धा में बड़ा अन्तर है, उसी प्रकार वाद–विवाद और परीक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। वाद–विवाद अनेक दोषों का दुर्गन्धित भण्डार है और परीक्षा अनेक गुणों का अनमोल खजाना। आचार्यों ने वाद–विवाद को विष कहा है तो परीक्षा को अमृत।

वाद–विवाद हमें मोह–राग–द्वेष में उलझता है जबकि न्याय हमें मोह–राग–द्वेष से ऊपर उठाकर वस्तु के सत्य स्वरूप का दर्शन कराता है।

यह जीव अनादिकाल से मोह–राग–द्वेष के वशीभूत होकर वस्तु के सत्य स्वरूप को उसी प्रकार नहीं देख पाता, जिस प्रकार कोई उन्मत्त पुरुष, परन्तु यह न्यायविद्या का ही परम उपकार है कि वह हमें मोह–राग–द्वेष से युक्त होने पर भी उनसे ऊपर उठकर वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने की कला सिखाती है।

वाद–विवाद करने वाले का लक्ष्य येन–केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन ही होता है, पर न्यायप्रिय व्यक्ति का लक्ष्य असत्य का निराकरण करके सत्य का अनुसन्धान कर लेना होता है। सूत्ररूप में कह सकते हैं कि वाद–विवाद करने वाले का सिद्धान्त होता है–मेरा सो खरा, जबकि न्यायप्रेमी का सिद्धान्त होता है–खरा सो मेरा।

वाद–विवाद करने वाले की दृष्टि सदा जय–पराजय पर ही होती है, जय–पराजय पर ही नहीं, अपनी जय और दूसरे की पराजय पर ही होती है, जबकि न्यायप्रेमी व्यक्ति की दृष्टि सदा सत्यानुसन्धान में लगी रहती है, उसे जय–पराजय से प्रयोजन नहीं होता, सत्यप्राप्ति को ही वह अपनी सबसे बड़ी विजय मानता है।

वाद–विवाद कलहप्रिय लोगों को अच्छा लगता है, जबकि न्याय को शान्तिप्रिय और सत्यान्वेषी लोग पसन्द करते हैं। जिनको न्याय अप्रिय लगता हो, अरुचिकर लगता हो, वे अवश्य आत्मनिरीक्षण करें। 'छत्रचूड़ामणि' में कहा है कि न्याय उन्हें अच्छा नहीं लगता जिनका मन ईर्ष्यादूषित है–

'न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे।'

वाद–विवाद जितना हेय है, परीक्षा उतनी ही उपादेय है, अतएव प्राचीन काल से ही प्रायः सभी ऋषि–मुनियों ने वाद–विवाद को अत्यन्त हेय और परीक्षा को अत्यन्त उपादेय कहा है। मात्र कुछ ही लोगों ने परवर्ती काल में अज्ञान या कषाय के वशीभूत होकर वाद–विवाद और परीक्षा में अन्तर न करके न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है, जिससे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

2.3 वाद–विवाद का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं–

''णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।''

अर्थ—नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, अतः स्वसमय–परसमयों के साथ वचन–विवाद नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार आदि शंकराचार्य भी स्पष्ट लिखते हैं–

'बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्।'

आचार्य अमितगति ने वाद–विवाद करने को कुतर्क करना कहा है और उसके अनेक दोष गिनाये हैं। यथा–

''बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा।।
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिकांक्षिणाम्।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौधप्रवेशके।।''

अर्थ—कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शान्ति का विनाशक, श्रद्धा को भंग करने वाला और अभिमान को बढ़ाने वाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु सिद्ध होता है, अतः मोक्षाभिलाषियों को कुतर्क में अपना मन नहीं लगाना चाहिए।

इस प्रकार प्रायः सभी विद्वानों ने वाद–विवाद या कुतर्क को अत्यन्त हानिकारक एवं हेय कहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि तर्क, न्याय या परीक्षा भी हेय है और हमें उससे भी दूर ही रहना चाहिए। हमारे सभी पूर्वाचार्यों ने जहाँ एक ओर कुतर्क या वाद–विवाद को अत्यन्त निन्दनीय और हेय कहा है, वहीं दूसरी ओर तर्क, न्याय या परीक्षा को अत्यन्त आदरणीय और उपादेय भी कहा है। जिन आचार्य अमितगति ने उपरि–उद्धृत श्लोक में कुतर्क के अनेक दोष गिना कर उससे बचने की प्रेरणा दी है, उन्होंने स्वयं ही एक 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथ भी लिखा है और उसमें पुनः पुनः प्रशंसा करते हुए परीक्षा को अत्यन्त उपादेय कहा है। यथा–

''न बुद्धिगर्वेण न पक्षपाततो मयान्यशास्त्रार्थविवेचनं कृतम्।
ममैव धर्म शिवसौख्यदायिके परीक्षितुं केवलमुत्थितः भ्रमः।।''

अर्थ—मैंने यहाँ अन्य शास्त्रों के अर्थ का विवेचन (निराकरण) बुद्धि के अभिमानवश या किसी पक्षपातवश नहीं किया है, अपितु मेरा ही धर्म शिवसुखदायक है–इसकी परीक्षा करके लोगों का भ्रम दूर किया है।

अपने 'श्रावकाचार' में भी वे परीक्षा का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं–

''लक्ष्मी विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वंचनभीतचित्ताः।।''

अर्थ—विचारवान पुरुष तो सर्वसमर्थ लक्ष्मी प्रदान कराने वाले धर्म को ठगाये जाने के भय से स्वर्ण की भाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक आचार्यों ने परीक्षा की पुनः–पुनः प्रशंसा करते हुए उसे अत्यन्त उपादेय कहा है। आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि–

''जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अट्ठं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।।''

अर्थ—जो जीव प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा अर्थ की परीक्षा नहीं करता है उसे अयुक्त भी युक्त और युक्त भी अयुक्त की तरह प्रतिभासित होता है।

इसी प्रकार का भाव आचार्य वीरसेन ने भी 'धवला' में प्रकट किया है।

2.4 आचार्य सोमदेवसूरि 'यशस्तिलकचम्पू' में लिखते हैं कि वस्तुस्वरूप को समझने के लिए शपथ की नहीं,

परीक्षा की आवश्यकता है–

''एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः।।
दाहच्छेदकषा शुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया।
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया।।''

अर्थ—पक्ष और शपथ–दोनों ही तत्त्वबोध के लिए व्यर्थ हैं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष परप्रत्ययमात्र से तत्त्व का विश्वास नहीं करते। दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध हुए स्वर्ण में शपथ क्या करेगी ? तथा दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध न हुए स्वर्ण में भी शपथ क्या करेगी ?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अपने 'लोकतत्त्वनिर्णय' आदि ग्रंथों में सुन्दर ढंग से परीक्षा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। 'लोकतत्त्व निर्णय' में वे लिखते हैं–

''पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।''

अर्थ—मुझे महावीर से कोई पक्षपात नहीं और कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है; परन्तु जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी का ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी परीक्षा को महत्त्व देते हुए लिखा है–

''न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः।।
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्याभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।।''

अर्थ—हे वीर प्रभु ! मुझे केवल श्रद्धामात्र से आपके प्रति पक्षपात नहीं है और द्वेषमात्र से दूसरे देवों में अरुचि नहीं है; परन्तु मैंने आप्तत्व की यथावत् परीक्षा करके ही आपका ही आश्रय ग्रहण किया है। किसी भी मत या सम्प्रदाय में हो, कैसा भी हो, किसी भी नाम से जाना जाता है, परन्तु यदि वह सर्व दोष–कालुष्य से रहित हो गया हो तो हे भगवन्! वह तुम ही हो और तुम्हें ही मेरा नमस्कार हो।

न केवल जैनाचार्यों ने, इतर विद्वानों ने भी परीक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। **महाकवि कालिदास** का निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें परीक्षाप्रधानी व्यक्ति को ही ज्ञानी (सन्त) और परीक्षा–रहित अन्धविश्वासी को मूढ़ कहा है–

''पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।''

अर्थ—सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार व्यक्ति दोनों की परीक्षा करके उनमें से जो समीचीन हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ व्यक्ति ही दूसरे के कथन मात्र से विश्वास करता है। एक स्मृति ग्रंथ में भी युक्तियुक्त वचनों को ही ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है–

'युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यम्।'

2.5 महात्मा गौतम बुद्ध का भी एक कथन प्रसिद्ध है कि–

''तापाच्छेदान्निषात् सुवर्णमिव पण्डिताः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।''

अर्थ—हे विद्वान् भिक्षुओं ! जिस प्रकार स्वर्ण को भलीभाँति तपाकर, काटकर और कसौटी पर कसकर ही ग्रहण किया जाता है; उसी प्रकार तुम भी मेरे वचनों को परीक्षा करके ही ग्रहण करना, न कि गौरव से।

इस प्रकार ये सभी कथन परीक्षा के महत्त्व को प्रकट करते हैं, अतः हमें परीक्षा या न्याय का ज्ञान एवं आश्रय अवश्य करना चाहिए। किसी भी बहाने उससे बचने का आत्मघाती प्रयत्न करना ठीक नहीं। वाद–विवाद ही हेय है, परीक्षा नहीं। परीक्षा तो अत्यन्त उपादेय है।

शंका–कुछ लोग कहते हैं कि सत्य–असत्य की परीक्षा करना तो बहुत कठिन कार्य है, लगभग असम्भव–सा ही है। लोक में असत्य की अधिकता भी इतनी है कि उसमें से सत्य को पहचान लेना और पा लेना तो सोचना भी कठिन लगता है।

समाधान—ऐसे लोग उत्साह हीन हैं। परीक्षा करना कठिन अवश्य है, पर असम्भव कतई नहीं। यदि व्यक्ति स्वार्थ, आग्रह या पक्षपात से ऊपर उठकर एकदम निष्पक्ष होकर सच्ची विधि से परीक्षा करे तो सच्ची परीक्षा सहज हो सकती है, कठिन नहीं है। प्रमादी और आग्रही व्यक्ति ही परीक्षा नहीं कर पाता। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी लिखते हैं– "सच्ची झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करे वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।"

अतः परीक्षा के प्रति उत्साह हीन रहना ठीक नहीं। लोक में असत्य की अधिकता है–यह भी चिन्ता का विषय नहीं। किसी भी प्रश्न के असत्य उत्तर अधिक ही होते हैं, सत्य उत्तर तो एक ही होता है। अध्ययनशील विद्यार्थी उनसे घबराते नहीं है। 'नकली माल बाजार में बहुत है अतः असली भी मत खरीदो'–यह कोई समाधान नहीं है। इसी प्रकार हीरे की परख कठिन ही होती है, परन्तु हीरे का व्यापारी 'कौन परीक्षा के चक्कर में पड़े'–ऐसा कभी नहीं सोचता, उद्यम करके परीक्षा करता ही है और उससे उसे असली–नकली की पहचान भी होती ही है। जरा कल्पना कीजिए यदि हीरे का व्यापारी कठिन होने के कारण हीरों की परीक्षा करना छोड़ दे या उसमें शिथिलता करे तो क्या होगा ?

अतः उत्साहपूर्वक परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। उसी से समीचीन तत्त्वज्ञान का महान लाभ होगा।

शंका–कुछ लोग कहते हैं कि दुःखनिवृत्ति के लिए तो तत्त्वज्ञान आवश्यक है, न्यायज्ञान नहीं, अतः हम तो केवल तत्त्वज्ञान ही करेंगे, न्यायज्ञान नहीं। न्यायज्ञान तो अनावश्यक है।

समाधान–ऐसे लोग भी अज्ञानी हैं। यद्यपि यह सत्य है कि दुःखनिवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है, परन्तु जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वह तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही समीचीनः हो सकता है, उसके बिना कथमपि नहीं।

जिस प्रकार व्यापार तो वस्तुओं के क्रय–विक्रय से ही होता है, परन्तु वस्तुओं का क्रय–विक्रय तराजू आदि पैमानों के बिना ठीक–ठीक नहीं हो सकता, अतः व्यापारी को तराजू आदि पैमानों का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए, उसी प्रकार दुःखनिवृत्ति तो तत्त्वज्ञान से ही होती है, परन्तु वह तत्त्वज्ञान न्याय के बिना समीचीनतया नहीं हो सकता, अतः दुखनिवृत्ति के अभिलाषी को न्याय का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए।

शंका–न्यायशास्त्र के अध्ययन से बचने के लिए कुछ लोग कहते हैं कि जीवन छोटा है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हम न्याय पढ़ने के चक्कर में नहीं उलझना चाहते। शास्त्रों में भी कहा है–

"अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि।।

अर्थ—शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम भी दुर्बुद्धि हैं, अतः केवल वही सीखना चाहिए जो जन्म–जरा–मरण का क्षय करे।

समाधान—ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं, क्योंकि न्याय का ज्ञान तो इसीलिए आवश्यक बताया गया है कि कम समय में हम अल्पबुद्धि वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कर सकें। वस्तुस्वरूप अत्यन्त जटिल है, अनन्तधर्मात्मक है, उसे यूँ ही नहीं समझा जा सकता। न्याय एक ऐसी सुलभ विधि है कि हम अल्पबुद्धि भी उसके द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को अल्प समय में समीचीनतया समझ सकते हैं।

न्याय के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप को समझना सरल होता है, कठिन नहीं। जिसप्रकार लोक में मीटर, तराजू आदि पैमाने सुलभ रीति से पदार्थों को ठीक-ठाक नापने-मापने का काम करने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं, उसी प्रकार न्याय भी सुलभ रीति से वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक समझने में हमारी बड़ी सहायता करता है। अतः इसका ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए। न्याय उलझाता नहीं है, सुलझाता है। उलझाता तो वाद-विवाद है, अज्ञान है।

तथा शास्त्रों में जो ऐसा कहा है कि शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हमें वही सीखना चाहिए जिससे जन्म-मरण का क्षय हो, उसका अभिप्राय यह है कि लोक में अनेक विद्याएँ हैं, सबके अगणित शास्त्र हैं, हम उन सबको सीखने का प्रयत्न कहाँ तक करेंगे ? तब तक हमारा यह अल्प जीवन तो यूँ ही चला जायेगा और हम जन्म-मरण-रोग-विनाशक समीचीन तत्त्वज्ञान से वंचित रह जायेंगे, अतः दुनिया की अनेक अप्रयोजनभूत विद्याओं को सीखने में दुर्लभ समय और अल्पबुद्धि को मत लगाओ और तत्त्वज्ञान हेतु प्रयोजनभूत विषय पर ही ध्यान दो। कहा भी है-

''गणिकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रमर्मज्ञाः।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभाः न हि तत्त्ववेत्तारः।।''

अर्थ—गणित, चिकित्सा, तर्क (कुतर्क, वाद-विवाद), पुराण, वास्तु, शब्द और संगीत के शास्त्रों में निपुण लोग तो आसानी से मिल जाते हैं, परन्तु तत्त्व के ज्ञाता पुरुष मिलना बहुत कठिन है।

और भी कहा है कि-

''बहत्तरकलाकुसला पण्डिय पुरिसा अपण्डिया चेव।
सव्वकलाण वि पवरं जे धम्मकलं ण जाणंति।।''

अर्थ—जो पुरुष बहत्तर कलाओं में कुशल हैं, सभी कलाओं के प्रवर पण्डित हैं, परन्तु धर्मकला को नहीं जानते हैं, वे वास्तव में अपण्डित ही हैं।

अतः शास्त्रों का उपर्युक्त कथन अप्रयोजनभूत लौकिक विद्याओं के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए। न्याय जगत् की उन अप्रयोजनभूत विद्याओं में से नहीं है अपितु मुक्तिमार्ग हेतु एक अत्यन्त प्रयोजनभूत आध्यात्मिक विद्या है। आचार्य सोमदेव ने भी इसे अध्यात्म विषय की प्रयोजनभूत विद्या कहा है। न्याय के बिना वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है, अतः समीचीन तत्त्वजिज्ञासु को न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

शंका-कुछ लोग कहते हैं कि न्याय तो परवर्ती काल में आचार्य अकलंक आदि ने विकसित किया है। अधिक से अधिक कहें तो आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी को न्याय का जनक कह सकते हैं। उससे पहले न्याय कहाँ था, जबकि लोग तो तत्त्वज्ञान करते ही थे। अतः तत्त्वज्ञान हेतु न्याय का ज्ञान करना आवश्यक नहीं है।

समाधान—ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में है। आचार्य अकलंक, आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी से पहले भी न्याय अवश्य विद्यमान था, भले ही उस समय के न्याय-ग्रंथ हमें आज उपलब्ध न होते हों। ग्रंथ उपलब्ध न होने के तो अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है नष्ट हो गये हों अथवा यह तो आपको पता ही होगा कि पहले सारी श्रुत परम्परा मौखिकरूप में ही चल रही थी और शास्त्र-लेखन का कार्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ है।

तथा यदि उक्त आचार्यों से पहले न्याय नहीं होता तो वेदों में नयों का उल्लेख कैसे मिलता है ? यथा–

''आ नो गोत्रा दर्दृहि गो पते गाः समस्मभ्यं सु नयो यंतु वाजाः।
दिवक्षा असि वृषभ सत्यशुष्मोऽस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदाः।।''

अर्थ—हे पृथ्वी के पालक देव (वृषभदेव)! हमें सुनय–सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ ! तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमान मघवन् ! हमें सुबोधि प्रदान कर।

2.6 आचार्य जिनसेन ने भी भगवान ऋषभदेव को न्यायशास्त्र का प्रणेता कहा है–

'प्रणेता न्यायशास्त्रकृत'

अतः वास्तविक स्थिति तो यही है कि न्यायविद्या अनादिनिधन है और इसी के द्वारा जीव समीचीन तत्त्वज्ञान करते आये हैं। अन्य कोई उपाय नहीं। आचार्य सिद्धसेन स्पष्ट लिखते हैं–

''प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।
सर्वसंव्यवहर्तृणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता।।''

अर्थ—यह प्रमाण आदि की व्यवस्था अनादिनिधन है और इसका व्यवहार करने वाले सभी लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ उसे हमने पुनः कहा है।

शंका–कुछ लोग कहते हैं कि न्यायग्रंथ तो कठिन बहुत है, अतः हम उन्हें समझ नहीं सकते।

समाधान–ऐसे लोग भी उत्साहहीन हैं। यद्यपि यह सच है कि न्यायग्रंथ गूढ़ गम्भीर होते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे बहुत कठिन होते हैं और हम उन्हें समझ नहीं सकते। यदि थोड़ी रुचि लेकर एकाग्रता के साथ पहले कुछ प्राथमिक न्याय ग्रंथों को पढ़ लिया जाय तो प्रायः सभी न्यायग्रंथों को समझना बहुत सरल हो जाता है। जिन्हें न्याय की प्रारम्भिक जानकारी न हो और जो रुचिपूर्वक अध्ययन नहीं करना चाहते हों उन्हें ही न्यायग्रंथ कठिन लगते हैं। अन्यथा उनमें कठिन लगने जैसा कुछ भी नहीं है।

न्यायग्रंथ गूढ़–गम्भीर इसलिए होते हैं कि उनमें कोई दुनिया के राग–रंग की बातें या कोई किस्से, कहानी नहीं होती, अपितु अत्यन्त जटिल वस्तुस्वरूप का अत्यन्त सावधानीपूर्वक विश्लेषण और परीक्षण होता है। उसमें जरा–सी भी शिथिलता से अर्थ का अनर्थ हो जाने की संभावना रहती है। लोक में कोयला, कण, कंचन और कोहिनूर को तौलने में ही उत्तरोत्तर अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है, तब यहाँ तो अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समीचीनतया समझने का महान् कार्य सिद्ध करना है, अतः न्याय–ग्रंथों का गूढ़ गम्भीर होना स्वाभाविक है; परन्तु इस कारण से वे बहुत कठिन हैं और हम उन्हें नहीं समझ सकते–ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए और उनके अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

तथा यहाँ तो हम न्याय के सामान्य ज्ञान की बात कर रहे हैं।, जो बिल्कुल कठिन नहीं है और वस्तुस्वरूप के परिज्ञान हेतु अनिवार्यतः उपयोगी भी है, अतः उसके अध्ययन में प्रमाद करना उचित नहीं। जो लोग अपनी किसी प्रकार की अक्षमतावश न्याय के अनेक गूढ़ ग्रंथों का अध्ययन नहीं कर सकते हैं, उन्हें भी न्याय का सामान्य ज्ञान तो अवश्य करना ही करना चाहिए। उसके बिना सिद्धि नहीं है।

शंका–यहाँ आपने विविध प्रकार से न्यायशास्त्र के अभ्यास की प्रेरणा दी, परन्तु क्या किसी भी अपेक्षा से शास्त्रों में न्याय के अवलम्बन का निषेध नहीं किया गया है ?

समाधान–किया गया है। तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है। स्पष्ट कहा है कि–

''तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।।''

अर्थ—समय (आत्मा/सिद्धान्त/मत) को तत्त्वान्वेषण के समय युक्तिमार्ग (न्याय) से समझो, किन्तु उसकी आराधना (अनुभूति) के समय न्याय का अवलम्बन मत लो, क्योंकि अनुभूति तो प्रत्यक्ष (निर्विकल्प) होती है।

यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है, क्योंकि अनुभूति तो निर्विकल्प होती है, जबकि न्याय विकल्परूप हैं।

किन्तु इस बहाने से भी न्यायशास्त्र के अभ्यास से बचने की चेष्टा करना बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्यायमार्ग के अवलम्बन का निषेध किया गया है–यह एकदम सच है, परन्तु यहीं प्रथम पंक्ति में जोर देकर यह भी तो कहा गया है कि तत्त्वान्वेषण के समय न्याय–मार्ग का अवलम्बन लो।

तत्त्व की अनुभूति से पूर्व तत्त्व का अन्वेषण अनिवार्य है। यदि तत्त्व का अन्वेषण ही नहीं हुआ तो अनुभूति किसकी करोगे ? अतः सर्वप्रथम न्याय का ज्ञान करके तत्त्व का अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।

2.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-'यशस्तिलकचम्पू' के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य अकलंकदेव ☐
(ख) आचार्य सोमदेव सूरि ☐
(ग) आचार्य समन्तभद्र। ☐

प्रश्न 2-न्यायशास्त्र के धुरंधर विद्वान कौन हुए हैं ?

(क) आचार्य उमास्वामी ☐
(ख) आचार्य अकलंकदेव ☐
(ग) आचार्य कुंदकुंददेव। ☐

प्रश्न 3-जैनाचार्य के अतिरिक्त परीक्षा के महत्त्व को किस विद्वान ने स्वीकार किया है ?

(क) पं. माणिकचंद कौन्देय ☐
(ख) डॉ. पं. हीरालाल ☐
(ग) महाकवि कालिदास ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-महाकवि कौटिल्य ने 'न्याय विद्या' के विषय में क्या लिखा है ?

प्रश्न 2-वाद-विवाद का निषेध करते हुए आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने क्या लिखा है ?

प्रश्न 3-न्यायविद्या के लिए शास्त्रों में किन पर्यायवाची शब्दों का प्रचलन रहा है ?

प्रश्न 4-न्यायशास्त्र के ज्ञान से आत्महित का सम्बन्ध है या नहीं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता क्यों है ? इस पर विचार व्यक्त करें ?

पाठ-3 – आचार्य अकलंक देव, समन्तभद्र एवं विद्यानंदि की जैन न्याय को देन

3.1 भट्टाकलंक जैसे उद्भट वादी थे वैसे ही प्रतिभापुंज ग्रंथकार भी थे। उनके द्वारा लिखे गये ग्रंथों के परिचय से उनकी अप्रतिहत लेखनी का चमत्कार स्वतः ज्ञात हो जाता है। अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादभाषा का अहिंसक उद्देश्य था–समस्त मत–मतान्तरों का नय दृष्टि से समन्वय कर समता की सृष्टि करना। अनेकान्त दर्शन के अन्तः यह रहस्य भी है कि हमारी दृष्टि वस्तु के पूर्णरूप को जान नहीं सकती, जो हम जानते हैं वह आंशिक सत्य है। हमारी तरह दूसरे मतवादियों के दृष्टिकोण भी आंशिक सत्यता की सीमा को छूते है। इसीलिए उसमें यह शर्त लगाई गई कि जो दृष्टिकोण अन्य दृष्टियों की अपेक्षा रखता है, उनकी उपेक्षा या तिरस्कार नहीं करता, वही सच्चा नय है और ऐसे नयों का समूह ही अनेकान्तदर्शन हैं

इस पवित्र उद्देश्य से अनेकान्तदर्शन और स्याद्वाद पर ही जैन परम्परा ने अनेकों ग्रंथ लिखे हैं। पर ऐसा लगता है जैसे यह समन्वय की दृष्टि अंशतः परपक्षखण्डन में बदल गई है। यद्यपि किसी भी मत के ऐकान्तिक दृष्टिकोण की आलोचना किये बिना उसकी सापेक्षता का प्रतिपादन अपने में पूर्ण नहीं हो सकता, फिर भी जितना भार समन्वय पर दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। भट्टाकलंक उस शताब्दी के व्यक्ति हैं जब कि धर्मकीर्ति और उसके टीकाकार शास्त्रार्थों की धूम मचाये हुए थे। अतः अकलंकदेव के दार्शनिक प्रकरणों में उस युग की प्रतिक्रिया–प्रतिध्वनि बराबर सुनाई देती है। वे जब भी अवसर पाते हैं, बौद्धों के तीक्ष्ण खण्डन में नहीं चूकते। जब धर्मकीर्ति परिवार ने जैन सिद्धान्त को अश्लील आकुलप्रलाप आदि कहना प्रारम्भ किया तो इनका अहिंसक मानस डोल उठा और उन्होंने इन पर प्रहारों से जैनशासन की रक्षा करने के हेतु सर्वप्रथम अपने सिद्धान्तों की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया।

3.2 भट्टाकलंक देव की जैनन्याय को देन–

1. प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादि' पद–

प्रमाण सामान्य के लक्षण में समन्तभद्र ने 'स्वपरावभासक' और सिद्धसेन ने 'स्वपराभासि' पद देकर ऐसे ज्ञान को प्रमाण मानने की ओर संकेत किया था जो स्व और पर का अवभासक हो। यह उसका स्वरूप–निरूपण था। अकलंकदेव ने प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादी' पद का प्रवेश कर ऐसे ज्ञान को प्रमाण कहा जो अविसंवादी हो। इस लक्षण में उन्होंने 'स्व' पद पर जोर नहीं दिया, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञान सामान्य का धर्म है, प्रमाण ज्ञान का ही नहीं। इसलिए वे कहीं प्रमाण के फलभूत सिद्धि को 'स्वार्थ–विनिश्चय' शब्द से व्यक्त करते हैं तो कहीं 'तत्त्वार्थ–निर्णय' शब्द से। यद्यपि अष्टशती के लक्षण में 'अनिधिगतार्थाधिगम' शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु इस पर उनका भार नहीं रहा, क्योंकि प्रमाणसंप्लव उपयोगविशेष में इन्हें स्वीकृत है। इस तरह प्रमाण के लक्षण में 'अविसंवादि' पद का प्रयोग अकलंकदेव ने ही सर्वप्रथम किया है।

इसी तरह "ज्ञान पद' से अज्ञानरूप सन्निकर्षादि तथा अकिञ्चित्कर निर्विकल्पक दर्शनादि का व्यवच्छेद भी इन्होंने किया है।

2. अविसंवाद की प्रायिक स्थिति–

अकलंकदेव ने अविसंवाद को प्रमाणता का आधार मानकर भी एक विशेष बात कही है कि हमारे ज्ञानों में प्रमाणता और अप्रमाणता की संकीर्ण स्थिति है। कोई भी ज्ञान एकान्त से प्रमाण या अप्रमाण नहीं हैं। द्विचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांश में प्रमाण और द्वित्वांश में अप्रमाण है। एकचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांश में ही प्रमाण है 'पर्वतस्थित' रूप में नहीं। प्रमाणता या अप्रमाणता का निर्णय अविसंवाद की बहुलता या विसंवाद की बहुलता से किया जाना चाहिए। जैसे कि जिस पुद्गल में गन्ध की प्रचुरता होती है उसे गन्ध द्रव्य कहते हैं।

3. परपरिकल्पित प्रमाणलक्षणनिरास–

अकलंक ने बौद्धसम्मत अविसंवादि ज्ञान की प्रमाणता का खण्डन इसलिए किया है कि उनके द्वारा प्रमाणरूप से स्वीकृत निर्विकल्पज्ञान में अविसंवाद नहीं पाया जाता। सन्निकर्ष की प्रमाणता का निराकरण इसलिए किया है कि उसमें अचेतनरूपता होने के कारण प्रमा के प्रति साधकतमत्व नहीं आ सकता।

4. प्रमाण का विषय–

द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक पदार्थ को प्रमाण का विषय बताने के साथ ही साथ उसे आत्मार्थगोचर यानी स्व और अर्थ उभय को विषय करने वाला बताया है।

5. पूर्व पूर्वज्ञान की प्रमाणता तथा उत्तरोत्तर में फलरूपता–

अकलंकदेव ने अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा–इन चार मतिज्ञानों में पूर्व–पूर्व का प्रामाण्य तथा उत्तर–उत्तर में फलरूपता स्वीकृत की है। विशेषता यह है कि ये पूर्व–पूर्व की प्रमाणता की ओर बढ़ते समय ज्ञान से आगे सन्निकर्ष में नहीं गये।

6. ईहा और धारणा की ज्ञानरूपता का समर्थन–

ईहा का साधारण अर्थ चेष्टा और धारणा का अर्थ भावनात्मक संस्कार लिया जाता है किन्तु अकलंकदेव ने ज्ञानोपादानक होने से इनमें भी तत्त्वार्थसूत्र–प्रतिपादित ज्ञानरूपता का समर्थन कर प्रमाण फलभाव की व्यवस्था की है।

7. अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं–

अकलंकदेव ने ज्ञान के प्रति साक्षात् कारणता इन्द्रिय और मन की ही मानी है, अर्थ और आलोक की नहीं, क्योंकि इनका ज्ञान के साथ अन्वय–व्यतिरेक नहीं है।

8. प्रत्यक्ष का लक्षण–

आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष का लक्षण करते समय न्यायावतार में 'अपरोक्ष' पद देकर प्रत्यक्ष का लक्षण परोक्ष–सापेक्ष किया था। अकलंकदेव 'विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं'–यह उसका स्वाश्रित लक्षण किया है, जिसे सभी ने एक स्वर से अपनाया है।

9. वैशद्य का लक्षण–

विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहने के बाद वैशद्य का लक्षण करना न्याय प्राप्त था। अकलंकदेव ने 'अनुमान आदि से अधिक विशेष प्रतिभास' को वैशद्य कहा है।

10. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष–

तत्त्वार्थसूत्र में मति श्रुत आदि पांच आगमिक ज्ञानों का केवल प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से दो प्रमाण मानने का निर्देश दिया गया था। किन्तु उनकी प्रत्यक्षता और परोक्षता के आधार जुदे थे। आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान परोक्ष थे। जबकि सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि को परोक्ष की श्रेणी में रखते थे। प्रत्यक्ष में 'अक्ष' शब्द इसी व्यवस्था का साक्षी था। यद्यपि न्याय ग्रंथों में इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है फिर भी उसका सयुक्तिक प्रतिपादन दार्शनिक भाषा में अकलंक ने ही किया है। उन्होंने कहा कि चूँकि इन्द्रियजन्यज्ञान एकदेश से विशद है अतः वैशद्यांश का सद्भाव होने से यह भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

11. परोक्ष का लक्षण और भेद–

अकलंकदेव ने तत्त्वार्थसूत्र के द्वारा निर्दिष्ट परोक्ष ज्ञानों में मतिज्ञान के 'मति' को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा, किन्तु साथ में यह भी कहा कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोधिक शब्दयोजना के पहले मतिज्ञान हैं और

शब्दयोजना के बाद श्रुतज्ञान हैं। श्रुत अविशद होने से परोक्ष है। ये मति, स्मृति आदि ज्ञान शब्दयोजना के बिना भी होते हैं और शब्दयोजना के बाद भी। शब्दयोजना के पहले ये सभी ज्ञान मतिज्ञान हैं और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव ने अनुमान आदि ज्ञानों को स्वप्रतिपत्तिकाल में अनक्षरश्रुत तथा परप्रतिपत्तिकाल में अक्षरश्रुत कहा है। लघीयस्त्रय में स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थवार्तिक और लघीयस्त्रय में अकलंकदेव स्मृत्यादि ज्ञानों को अवस्था विशेष में मतिज्ञान या सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहकर भी न्यायविनिश्चय में उन स्मृति आदि ज्ञानों के ऐकान्तिक परोक्षत्व का विधान करते हैं और यहीं वे परोक्षप्रमाण के स्मृति, संज्ञा, चिन्ता–अभिनिबोध और श्रुत–आगम–ये पांच भेद निश्चित कर देते हैं।

12. स्मृति का प्रामाण्य–

प्राय: सभी वादी स्मरण को गृहीतग्राही मानकर अप्रमाण कहते आये हैं। किन्तु अकलंकदेव ने स्वविषय में अविसंवादी होने के कारण इसे प्रमाणता का वही दर्जा दिया है जो अन्य प्रमाणों को प्राप्त था।

13. प्रत्यभिज्ञान का प्रामाण्य–

प्रत्यभिज्ञान को मीमांसक ने इन्द्रिय–प्रत्यक्ष में और नैयायिक ने मानसविकल्प में अर्न्तभूत किया था तथा बौद्ध ने अप्रमाण कहा था। परन्तु अकलंकदेव ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानकर इसी के भेदस्वरूप सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में नैयायिकादि के उपमान का अन्तर्भाव दिखाया है और कहा है कि यदि सादृश्यविषयक उपमान को पृथक् प्रमाण मानते हो तो वैधर्म्यविषयक तथा आपेक्षिक आदि प्रत्यभिज्ञानों को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ेगा।

14. तर्क की प्रमाणता–

व्याप्तिग्राही तर्क को न तो वादी प्रमाण कहना चाहते थे और न अप्रमाण। प्रमाणों का अनुग्राहक मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु अकलंकदेव ने कहा कि यदि तर्क को प्रमाण नहीं मानते हो तो उसके द्वारा गृहीत व्याप्ति में कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? अत: तर्क भी स्वविषय में अविसंवादी होने से प्रमाण है।

15. अनुमान के अवयवों की व्यवस्था–

यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार और पात्रस्वामी के त्रिलक्षणकदर्शन एवं श्रीदत्त के जल्पनिर्णय से अनुमान का लक्षण, उसके अवयव और साध्याभास, हेत्वाभास आदि की रूपरेखा अकलंकदेव को मिली होगी, पर उन्होंने अविनाभावैकलक्षण हेतु तथा एक ही प्रकार के अनुमान को मानने का अपना मत रखा है। अवयवों में प्रतिज्ञा और हेतु दो अवयवों को पर्याप्त माना है। प्रतिपाद्य के अनुरोध से अन्य अवयवों में दृष्टान्त को भी प्रमुखता दी हैं

16. हेतु के भेद–

अकलंकदेव ने कार्य स्वभाव और अनुपलब्धि के सिवाय कारणहेतु, पूर्वचरहेतु, उत्तरचरहेतु ओर सहचरहेतु पृथक् का समर्थन किया हैं

17. अदृश्यानुपलब्धि से भी अभाव की सिद्धि–

अदृश्य का साधारण तात्पर्य 'प्रत्यक्ष का अविषय' लिया जाता है और इसीलिए अदृश्यानुपलब्धि से धर्मकीर्ति ने संशय माना है। अकलंकदेव अदृश्य किन्तु अनुमेय परिचित्त आदि का अभाव भी अदृश्यानुपलब्धि से स्वीकार करते हैं। ये अनुपलब्धि से विधि और प्रतिषेध दोनों साध्यों की सिद्धि मानते हैं

18. हेत्वाभास–

यद्यपि अकलंकदेव अविनाभावरूप एक लक्षण के अभाव में वस्तुत: एक ही असिद्ध हेत्वाभास मानते हैं, किन्तु अविनाभाव का अभाव कई प्रकार से होता है, अत: विरुद्ध, असिद्ध, संदिग्ध और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास भी मानते हैं।

19. वाद और जल्प एक हैं–

नैयायिक तत्त्वनिर्णय और तत्त्वाध्यवसायसंरक्षण को जुदा मानकर तत्त्वाध्यवसायसंरक्षण के लिए छलादि असत् उपायों का आलम्बन करना भी उचित ही नहीं, न करने पर निग्रहस्थान मानते हैं। पर अकलंकदेव ने किसी भी दशा में छलादि का प्रयोग उचित नहीं माना। अतः इनकी दृष्टि से छलादिप्रयोगवाली जल्प कथा और वितण्डा कथा का अस्तित्व ही नहीं है। वे केवल एक वादकथा मानते हैं। इसीलिए वे वाद को ही जल्प कहते हैं। इस सम्बन्ध का सूत्र सम्भवतः इन्हें श्रीदत्त के जल्पनिर्णय से मिला होगा।

20. जाति का लक्षण–

अकलंक ने मिथ्या को जात्युत्तर कहा है। साधर्म्यादि समा जातियों के प्रयोग को ये अनुचित मानते हैं। मिथ्या उत्तर अनन्त प्रकार के हैं, उनकी गिनती करना कठिन है।

21. जय पराजय व्यवस्था–

नैयायिकों ने जय–पराजय–व्यवस्था के लिए निग्रहस्थानों का जटिल जाल बनाया है। बौद्धों ने उससे निकलकर असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावन इन दो निग्रहस्थानों को मानकर उस जाल को बहुत कुछ तोड़ा था, किन्तु उसके विविध अर्थों का जो थोड़ा–बहुत उलझाव था उसे अकलंकदेव ने अत्यन्त सीधा बनाते हुए कहा कि जो अपना पक्ष सिद्ध कर ले उसकी जय और जिसका पक्ष निराकृत हो जाय उसकी पराजय होना चाहिए। अपने पक्ष को सिद्ध करके यदि कोई नाचता भी है तो भी कोई दोष नहीं। इस तरह उन्होंने जय–पराजय का सीधा मार्ग बताया।

22. सप्तभंगी निरूपण में प्रगति–

सप्तभंगी विधि में प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी की योजना के लिए सकलादेश और विकलादेश का सूयक्तिक विस्तृत निरूपण अकलंकदेव ने किया है। यहीं अभेदवृत्ति और अभेदोपचार के लिए काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द इन कालादि आठ की दृष्टि से विवेचन की प्रक्रिया बताई है।

अनेकान्त में दिये जाने वाले संशयादि दोषों के उद्धार का व्यवस्थित क्रम इनके ग्रंथों में विशेषरूप से देखा जाता है।

इसी तरह नय–नयाभासों का विवेचन, सकलादेश और विकलादेश में एवकार के प्रयोग का विचार, निक्षेप–निरूपण की अपनी पद्धति आदि का वर्णन भी अकलंकदेव के ग्रंथों में है। बौद्धों के साथ ही साथ अन्य दर्शनों की मार्मिक आलोचना भी अकलंकदेव ने यथावसर करके अकलंक न्याय के स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण दोनों पक्षों को खूब समृद्ध किया हैं

इस तरह तर्कभूवल्लभ भट्टाकलंकदेव शशांक की कीर्तिकौमुदी उनके अकलंक न्याय की ज्योत्सना से तर्क–रसिकों के मानस को द्योतित करती हुई आज भी छिटक रही है।

3.3 जिनागम में न्याय का स्थान–

जैनाचार्यों द्वारा रचित वाङ्मय बहुत विशाल और व्यापक है। इसकी परम्परा प्रारम्भ में सुनकर ही चलती है, अतः इसे आगम भाषा में श्रुतज्ञान कहते हैं। भगवान महावीर की वाणी (दिव्यध्वनि) को सुनकर उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर ने उस वाणीरूप वाङ्मय को बारह अंगों में निबद्ध किया। यही द्वादशांगरूप जिनवाणी समस्त उपलब्ध जैन साहित्य का मूल आधार है।

इसी द्वादशांगरूप आगम को चार अनुयोगों में विभक्त किया जाता है। शास्त्र के कथन करने की शैली को अनुयोग कहते हैं। ये अनुयोग चार प्रकार के हैं–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिसमें तीर्थंकर,

चक्रवती आदि महान पुरुषों के चरित्र का निरूपण हो, वह प्रथमानुयोग है। जिसमें गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि जीवों के विशेष, कर्मों के विशेष तथा त्रिलोक आदि की रचना का निरूपण हो वह करणानुयोग है। गृहस्थ व मुनिधर्म के आचरण को निरूपित करने वाला चरणानुयोग है। षड्द्रव्य, सप्ततत्त्वादि का व स्वपर भेदविज्ञान का जिसमें निरूपण हो, वह द्रव्यानुयोग है।

इन अनुयोगों की भी प्रत्येक की अपनी–अपनी विशेष व्याख्यान पद्धति है। पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखते हैं–"प्रथमानुयोग में तो अलंकार शास्त्र की व काव्यादि शास्त्रों की मुख्यता पायी जाती है। .... करणानुयोग में गणित आदि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है।..... तथा चरणानुयोग में सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है। ..... तथा द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ निर्णय करने का प्रयोजन है और न्यायशास्त्रों में निर्णय करने का मार्ग दिखाया है। ..... तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, कोषादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रादि शास्त्र भी जिनमत में पाये जाते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनागम के सबसे महत्त्वपूर्ण अंग द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत न्यायशास्त्रों का समावेश होता है, अतः न्याय शास्त्र को जिनागम में विशेष स्थान प्राप्त है।

3.4 न्याय का स्वरूप–

वस्तु का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। ज्ञाता उसे जाने या न जाने, इससे उसके अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता। वह ज्ञाता के द्वारा जानी जाती है, तब प्रमेय बन जाती है और ज्ञाता जिससे जानता है, वह ज्ञान यदि सम्यक् अर्थात् निर्णायक हो तो प्रमाण बन जाता है। इसी आधार पर न्यायशास्त्र की परिभाषा निर्धारित की जाती है।

समस्त जैनेतर दर्शनों ने प्रमेय के निर्णय हेतु मात्र प्रमाण की ही अवकल्पना की है, लेकिन अनेकान्त को वस्तु का स्वरूप स्वीकार करने वाले तथा स्याद्वाद को कथन शैली मानने वाले जैनदर्शन ने प्रमेय के अधिगम के लिए प्रमाण के साथ नयों की अवधारणा भी अनिवार्य मानी है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी लिखते हैं–'**प्रमाणनयैरधिगमः।**'

अतएव जैनदर्शन के अनुसार न्याय का लक्षण है–'**प्रमाणनयात्मको न्यायः।**' अर्थात् न्याय प्रमाणनयात्मक होता है। इनमें से वस्तु को समग्रता से जानने वाला प्रमाण है और प्रमाण से ग्रहीत वस्तु के एक अंश को जानने वाला नय है।

3.5 न्यायशास्त्र की उपयोगिता–

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि संसार के सभी जीव सुखी होना चाहते हैं। स्वाधीन, अखण्ड, परिपूर्ण व अविनाशी सुख मुक्ति में ही प्राप्त होता है। उस मुक्ति की प्राप्ति का उपाय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र है। सम्यग्दर्शन जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धान से होता है। जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान उनके सम्यक् निर्णय होने पर होता है, तथा उन जीवादि तत्त्वों का सम्यक् निर्णय प्रमाण व नयों के द्वारा ही होता है। अतः प्रत्येक जीव को सुखी होने के लिए प्रमाणनयात्मक न्याय का ज्ञान आवश्यक है। न्याय की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य यतिवृषभ तिलोयपण्णत्ति में कहते हैं–

जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अत्थं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।।

भावार्थ–जो व्यक्ति प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा अर्थ का निरीक्षण नहीं करता है, उसे युक्त अयुक्त और अयुक्त युक्त प्रतीत होता हैं

इस प्रकार वस्तु के यथार्थ निर्णय के लिए न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता है।

3.6 जैन न्याय के प्रमुख आचार्य–

आचार्य समन्तभद्र जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं, तो आचार्य अकलंक ने जैनन्याय को पल्लवित व पुष्पित किया है। आचार्य विद्यानन्दि भी जैनन्याय को विशेष विस्तार प्रदान करने वाले हैं।

ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव का जिनागम के प्रसार–प्रसार के लिए अपूर्व योगदान है, जिसका प्रमाण है मंगलाचरण का वह छन्द, जिसमें भगवान महावीर व गौतम गणधर के पश्चात् उन्हें स्मरण किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि किसी न्यायग्रंथ की रचना नहीं की है, लेकिन इस विषय के बीज जरूर आपके ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। प्रवचनसार में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन व ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार लिखकर ज्ञान–ज्ञेय का सविस्तार वर्णन किया ही है, अन्य ग्रंथों में भी प्रमाण व नयों का प्रयोग प्रचुरता से प्राप्त होता है।

द्वितीय शताब्दी के आचार्य यतिवृषभ ने तो प्रमाण–नय की उपयोगिता पर प्रकाश डाला ही है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया गया है। द्वितीय शताब्दी के ही आचार्य उमास्वामी ने भी अधिगमोपाय के रूप में प्रमाण–नय की अनिवार्यता स्वीकार की है। आपके द्वारा विरचित जैनदर्शन के प्रथम सूत्रात्मक संस्कृत ग्रंथ 'तत्त्वार्थसूत्र' में न्यायशैली का प्रयोग भी देखने को मिलता है। अनुमान के अंगभूत पक्ष, हेतु व दृष्टान्त का प्रयोग निम्न सूत्रों में हुआ है–

''मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेः उन्मत्तवत्।।''

''असंख्येयभागादिषु जीवनाम्। प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।।''

3.6.1 आचार्य समन्तभद्र का विशेष योगदान–

ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी के ही एक समर्थ आचार्य हैं समन्तभद्र, जो जैन न्याय के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। आपका जन्म दक्षिण में कवेरी नदी के तट पर स्थित फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के चोल राजवंश में हुआ था। यद्यपि आप आद्य स्तुतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, तथापि आपके स्तुति/स्तोत्रों में मात्र अतिशयोक्तिपूर्ण भक्ति नहीं है, दार्शनिक मान्यताओं का समावेश भी है। स्तुति में तर्क व युक्ति का प्रयोग आपकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक है। आपने दर्शन, सिद्धान्त एवं न्याय सम्बन्धी मान्यताओं को स्तुतिकाव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित रचनाएँ मानी जाती हैं–1. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, 2. स्तुतिविद्या जिनशतक, 3. देवागम–आप्तमीमांसा, 4. युक्त्यनुशासन, 5. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 6. जीवसिद्धि, 7. तत्त्वानुशासन, 8. प्राकृत व्याकरण, 9. प्रमाणपदार्थ, 10. कर्मप्राभृत टीका, 11. गन्धहस्तिमहाभाष्य।

उक्त रचनाओं में न्यायविषयक ग्रंथ प्रमाणपदार्थ है लेकिन वह अनुपलब्ध है। साथ ही जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, कर्मप्राभृत टीका व गंधहस्तिमहाभाष्य भी अनुपलब्ध है। उपलब्ध साहित्यों में 'देवागम आप्तमीमांसा' में आप्त विषयक मूल्यांकन में आपकी परीक्षाप्रधान दृष्टि स्पष्ट होती है। इस स्तोत्र में सर्वज्ञाभाववादी मीमांसक, भावैकान्तवादी सांख्य, एकान्तपर्यायवादी बौद्ध एवं सर्वथा उभयवादी वैशेषिक का तर्कपूर्ण निराकरण किया गया है। चार अभावों का सप्तभंगी द्वारा समर्थन कर वीरशासन की महत्ता प्रतिपादित की है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत प्रभृति का निरसन कर अनेकान्तता सिद्ध की है।

'युक्त्यनुशासन' नाम के अनुरूप इस ग्रंथ में युक्तिपूर्वक महावीर के शासन का मण्डन और विरुद्ध मतों का खण्डन किया है। अर्थगौरव की दृष्टि से 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए इसमें मात्र 64 पदों में जिनशासन को समाहित करने का प्रयास किया।

परवर्ती समस्त आचार्यों ने आपका अनुसरण किया है तथा श्रद्धापूर्वक आपका स्मरण भी किया है। अनेक आचार्यों ने आपके ग्रंथों पर टीकाएँ भी लिखी हैं। डॉ. दरबारीलाल कोठिया के अनुसार आचार्य समन्तभद्र ने जैनदर्शन को निम्नलिखित सिद्धान्त प्रदान किये हैं–1. प्रमाण का स्वपराभासलक्षण, 2. प्रमाण के क्रमभावि और अक्रमभावि

भेदों की प्ररिकल्पना, 3. प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलों का निरूपण, 4. प्रमाण का विषय, 5. नय, हेतु, स्याद्वाद वाच्य, वाचक आदि का स्वरूप, 6. अभाव का वस्तुधर्म निरूपण एवं भावान्तर कथन, 7. तत्त्व का अनेकान्तरूप, अनेकान्त का स्वरूप, अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना आदि का प्रतिपादन, 8. जैनदर्शन में अवस्तु का स्वरूप, 9. स्यात् निपात का स्वरूप, 10. अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि, 11. युक्तियों से स्याद्वाद की व्यवस्था, 12. आप्त का तार्किक स्वरूप, 13. वस्तु द्रव्य प्रमेय का स्वरूप।

3.6.2 आचार्य विद्यानन्दि का विशेष योगदान–

दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी नवमी शती (ई. सन् 775 से 840) के आचार्य विद्यानन्दि का जन्म किंवदन्तियों के अनुसार ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्होंने कुमारावस्था में ही वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों का अध्ययन कर लिया था। दिग्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध दार्शनिकों के मन्तव्यों से भी परिचित थे। जैन वाङ्मय का आलोडन–विलोडन कर आपने अपूर्व पाण्डित्य प्राप्त किया था। आपके न्यायशास्त्रों की विशेषता सहित आपकी प्रशंसा में वादिराज लिखते हैं–

''ऋजूसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
श्रृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति।।''

आश्चर्य है कि विद्यानन्दि के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री जैसे दीप्तिमान अलंकारों को सुनने वालों के भी अंगों में दीप्ति आ जाती है, तो उन्हें धारण करने वालों की बात ही क्या है ?

आपके द्वारा मौलिक ग्रंथों की रचना के साथ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर गम्भीर टीका–ग्रंथों का भी प्रणयन हुआ है। इनमें से अधिकतर ग्रंथ न्यायविषयक ही हैं। आपके मौलिक ग्रंथ हैं–1. आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञवृत्तिसहित, 2. प्रमाणपरीक्षा, 3. पत्रपरीक्षा, 4. सत्यशासनपरीक्षा 5. श्रीपुरपार्श्वनाथ 6. विद्यानन्दमहोदय। तथा आपके टीकाग्रंथ हैं–1. अष्टसहस्री 2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 3. युक्त्यनुशासनालंकार।

उक्त ग्रंथों में मात्र 'श्री पुरपार्श्वनाथस्तोत्र' स्तुतिपरक है, परन्तु उसमें भी न्याय का पुट आ ही गया है। 'आप्तपरीक्षा' में ईश्वर, कपिल, सुगत, परमपुरुष या ब्रह्माद्वैत आदि की परीक्षा करके अर्हंत भगवान ही आप्त हैं–यह सतर्क सिद्ध किया है। ईश्वर–परीक्षा के अन्तर्गत ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का जो खण्डन किया है, उसी का परवर्ती आचार्यों ने अनुसरण किया है।

'प्रमाणपरीक्षा' में समागत विषय का सार व उपयोगिता का उल्लेख ग्रंथकार ने स्वयं ही ग्रंथान्त में निम्नानुसार किया है–

''इति प्रमाणस्य परीक्ष्य लक्षणं विशेषसंख्याविषयं फलं ततः।
प्रबुध्य तत्त्वं दृढशुद्धदृष्टयः प्रयान्तु विद्याफलमिष्टमुच्चकैः।।''

इसी ग्रंथ में आचार्य विद्यानन्दि ने यौगाभिमत हेतु लक्षण पाञ्चरूप्यता का खण्डन करने के लिए पात्रकेसरी के त्रिलक्षणकदर्थन की तर्ज पर निम्न कारिका रची है, जो प्रसिद्ध है–

''अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पञ्चभिः कृतं।
प्रबुध्य तत्त्वं दृढशुद्धदृष्टयः प्रयान्तु विद्याफलमिष्टमुच्चकैः।।''

पहले शास्त्रार्थों में जो पत्र दिये जाते थे, उनका आशय समझना कठिन था, उसी विवेचन के लिए विद्यानन्दि ने 'पत्रपरीक्षा' नामक छोटे से प्रकरण की रचना की थी। जैन परम्परा में संभवतया इस विषय की यह एकमात्र कृति है।

'सत्याशासन परीक्षा' में पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, सेश्वरसांख्य, निरीश्वरसांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट, प्रभाकर, तत्त्वोपप्लव आदि शासनों की तर्कपूर्वक परीक्षा करके अन्त में अनेकान्त शासन की भी परीक्षा प्रस्तुत की है। 'विद्यानन्दमहोदय' का तो उल्लेख मात्र उपलब्ध होता है।

टीका–ग्रंथों के अन्तर्गत 'अष्टसहस्री' आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित आप्तमीमांसा अपरनाम देवागमस्तोत्र पर लिखा गया विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण भाष्य है। बड़ी कुशलता के साथ अकलंकदेव की अष्टशती को इसमें अंत:प्रविष्ट कर लिया है। जैनन्याय का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस एक ग्रंथ के अध्ययन कर लेने पर अन्य ग्रंथ पढ़ने की आवश्यकता नहीं, ऐसा भाव स्वयं ग्रंथकार ने व्यक्त किया है–

''श्रोतव्याष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्त्रसंख्यानैः।
विज्ञायते ययैव हि स्वसमयपरसमयसद्भावः।।''

विद्यानन्दि के टीका ग्रंथों में सबसे महत्त्वपूर्ण है–'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' जो कि आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर पद्यात्मक शैली में लिखा गया है। पद्यवार्तिकों पर स्वयं भाष्य अथवा गद्य में व्याख्यान भी लिखा है। डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य के अनुसार–'जैनदर्शन के प्रमाणभूत ग्रंथों में यह प्रथम कोटि का ग्रंथ है। इस ग्रंथ की समानता करने वाला जैनदर्शन में तो क्या, अन्य किसी भी दर्शन में एक भी ग्रंथ नहीं हैं।''

'युक्त्यनुशासनालंकार' स्वामी समन्तभद्र के दार्शनिक स्तोत्र युक्त्यनुशासन पर लिखी गयी सरल एवं विशद टीका है। जैनन्याय को आचार्य विद्यानन्दि के योगदान का उल्लेख करते हुए पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखते हैं–

'विद्यानन्द के ग्रंथ आगे बने हुए समस्त दिगम्बर–श्वेताम्बर न्याय ग्रंथों के आधारभूत हैं। इनके ही विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दिगम्बर–श्वेताम्बर न्यायग्रंथों पर अपनी अमिट छाप लगाये हुए हैं। यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यानन्द के ग्रंथों को अलग कर दिया जाय, तो वह एकदम निष्प्राण–सा हो जायेगा।'

3.6.3 अन्य आचार्यों का योगदान–

जैन न्याय में मुख्यरूप से इन्हीं तीन आचार्यों का अधिक योगदान होने से इनकी विस्तृत चर्चा स्वाभाविक है, लेकिन अन्य आचार्यों के योगदान को विस्मृत करना उचित नहीं है, अत: संक्षेप में उनके योगदान पर भी प्रकाश डालते हैं। इनमें अधिकतर टीकाकार हैं।

पात्रकेसरी (छठवीं शती) का भी न्यायशास्त्र के विकास में बड़ा योगदान है। इनकी दो रचनायें हैं—त्रिलक्षणकदर्शन और पात्रकेसरी स्तोत्र। यद्यपि त्रिलक्षणकदर्शन उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन उसका उल्लेख उनके परवर्ती आचार्यों ने किया है। इस ग्रंथ में बौद्धों के पक्षधर्मसत्त्व, सपक्षसत्त्व व विपक्षाद्व्यावृत्तिरूप हेतु के त्रैरूप्य लक्षण का खण्डन करके 'अन्यथानुपपन्नत्व' को हेतु का लक्षण सिद्ध किया है–यह आपकी जैनन्याय को अनुपम देन है। पात्रकेसरी स्तोत्र का दूसरा नाम जिनेन्द्रगुण संस्तुति भी है। यह भी आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्रों के समान न्यायशास्त्र का ग्रंथ है। इस स्तोत्र में एकान्तवाद से दुष्ट चित्तवाले व्यक्ति आपके आनन्त्य गुणों की थाह नहीं पा सकते हैं–ऐसा कहते हुए नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि मतों की और उनके द्वारा अभिमत आप्त की समीक्षा की गई है। सर्वज्ञसिद्धि के साथ सग्रंथता और कवलाहार का निरसन भी किया गया है।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र के रचयिता श्री कुमुद्राचार्य (कुमुदचन्द्राचार्य) अपरनाम सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतिसूत्र ग्रंथ में नयों का सांगोपांग विवेचन कर जैनन्याय की सुदृढ़पद्धति का प्रारम्भ किया। बृहत् अनन्तवीर्य (ई. सन् की दसवी शती) ने आचार्य अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय पर टीका लिखी है। प्रमाणसंग्रह पर भी भाष्य लिखा है, लेकिन यह

उपलब्ध नहीं है। आचार्य माणिक्यनन्दि (11 वीं शती) ने न्यायविषयक बालसुलभ सूत्रात्मक ग्रंथ 'परीक्षामुख' लिखंकर न्याय प्रेमियों पर महान उपकार किया है। तत्पश्चात् आचार्य प्रभाचन्द्र (11वीं शती) ने प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख की विस्तृत टीका) एवं न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय की टीका) की रचना कर न्यायशास्त्र को सुदृढ़ किया है। लघु अनन्तवीर्य ने भी परीक्षामुख पर 'प्रमेयरत्नमाला' नाम से संक्षिप्त टीका लिखी। अनन्तकीर्ति ने 'लघुसर्वज्ञसिद्धि' व बृहत्सर्वज्ञसिद्धि' की रचना की है।

ग्याहरवीं शती के आचार्य वादिराज के द्वारा विरचित न्यायविषयक ग्रंथ हैं—प्रमाप्रमेय, न्यायसूर्यावली व विश्वतत्वप्रकाश। अभिनवधर्मभूषण यति (चौदहवीं शती) ने सरल——सुबोध भाषा में संक्षिप्त गद्यात्मक 'न्यायदीपिका' की रचना की है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैनन्यायरूपी महल के चार स्तम्भों में तीन स्तम्भ आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंक व आचार्य विद्यानन्द हैं और शेष सभी का योगदान चौथे स्तम्भ के रूप में है।

हम सभी जैनन्याय के माध्यम से तत्त्व का स्वरूप समझकर तत्त्वश्रद्धानपूर्वक सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की उपलब्धि द्वारा परमनिश्रेयस को प्राप्त हों, यही इसकी प्रस्तुति का सार है।

3.7 बीसवीं शती के जैन तार्किक —

बीसवीं शती में भी कतिपय दार्शनिक एवं नैयायिक हुए हैं, जो उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित जैनदर्शन और जैनन्याय के ग्रन्थों का न केवल अध्ययन-अध्यापन किया है, अपितु उनका राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद एवं सम्पादन भी किया है। साथ में अनुसंधानपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएं भी लिखी हैं, जिनमें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के ऐतिहासिक परिचय के साथ ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषयों का भी तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक आकलन प्रस्तुत किया गया है। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी हिन्दी भाषा में लिखे गये हैं।

उदाहरण के लिए जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका शिरोमणि न्यायप्रभाकर श्री ज्ञानमती माताजी ने सन् 1969–70 में न्याय के सर्वोच्च ग्रंथ अष्टसहस्री का शब्दशः हिन्दी अनुवाद करके भगवान महावीर के शासन में अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया है। इसकी हिन्दी टीका का नाम है——"स्याद्वाद चिन्तामणि" इसमें हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ जगह-जगह विशेषार्थ एवं अनेकानेक क्लिष्ट विषयों के सारांश सरल भाषा में दिये हैं। तीन भागों में जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित इन ग्रंथों का अध्ययन करके न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य आदि की परीक्षाएं देकर उपाधियाँ प्राप्त करते हैं। 400 ग्रंथों की लेखिका इन ज्ञानमती माताजी को दो बार भारत के मान्य विश्वविद्यालयों के द्वारा डी. लिट् की मानद उपाधियों से अलंकृत किया जा चुका है। इसी प्रकार न्यायाचार्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी, न्यायाचार्य पं. माणिकचन्द्र कौन्देय, पं. सुखलाल संघवी, डॉ. पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, पं.दलसुख भाई मालवणिया आदि के नाम विशेष उल्लेख योग्य है। श्री ज्ञानमती माताजी एवं क्षु. गणेश प्रसाद वर्णी ने अनेक छात्रों को जैनदर्शन एवं न्याय में प्रशिक्षित किया है। श्री कौन्देय ने आ. विद्यानन्दि के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य का सात खण्डों में हिन्दी रूपांतर किया है। श्री संघवी ने प्रमाण मीमांसा, ज्ञानबिन्दु, सन्मतितर्क, जैन तर्कभाषा आदि ग्रन्थों का वैदुष्यपूर्ण सम्पादन व उनकी प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। उनके भाषा टिप्पण, विभिन्न ग्रन्थों के तुलनात्मक उद्धरण और परिशिष्टों का संयोजन महत्त्वपूर्ण है। डॉ. पं महेन्द्रकुमार ने न्यायविनिश्चयविवरण, सिद्धीविनिश्चयटीका, न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयालंकार), प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखालंकार), अकलंकग्रन्थत्रय, तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य, तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरकृत) आदि के विद्वत्तापूर्ण सम्पादन के साथ उनकी अनुसंधानपूर्ण प्रस्तावनाएं लिखी हैं। हिन्दी भाषा में लिखा

उनका 'जैन दर्शन' मौलिक कृति है। श्री मालवणिया ने कई ग्रन्थों का सम्पादन एवं उनकी शोधपूर्ण प्रस्तावनाएं लिखी हैं। उनका 'आगमयुग का जैन दर्शन' मौलिक रचना है। पं.कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री का 'जैनन्याय' उल्लेखनीय है। इसी प्रकार पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित "न्यायसार" ग्रंथ भी न्यायदर्शन के पाठकों के लिए प्रारंभिक कुंजी के समान है।

3.8 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-बृहत्स्वयंभू स्तोत्र की रचना किसने की ?

(क) आचार्य अकलंकदेव ☐
(ख) आचार्य विद्यानन्दि ☐
(ग) आचार्य समन्तभद्र ☐

प्रश्न 2-आचार्य श्री विद्यानन्दि द्वारा रचित ग्रंथ कौन सा है ?

(क) रत्नकरण्ड श्रावकाचार ☐
(ख) आप्तमीमांसा ☐
(ग) अष्टसहस्री ☐

प्रश्न 3-देवागम स्तोत्र का दूसरा नाम क्या है ?

(क) प्रमाण परीक्षा ☐
(ख) आप्तमीमांसा ☐
(ग) आप्तपरीक्षा ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-प्रमाण का विषय क्या है ?

प्रश्न 2-हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

प्रश्न 3-करणानुयोग एवं चरणानुयोग का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 4-पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अष्टसहस्री का हिन्दी अनुवाद किस सन् में किया और उसकी हिन्दी टीका का क्या नाम है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-बीसवीं सदी के जैन तार्किक कौन हुए हैं, उनके नाम एवं उनके बारे में लिखें ?

पाठ-4 – जैन न्याय की उपयोगिता

4.1 प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने दर्शन अर्थात् (Philosophy) को 'ज्ञान के प्रति प्रेम' (Philo यानी प्रेम + Sophia यानी ज्ञान) कहा है। परम्परा से दर्शन को बुद्धि के प्रयोग द्वारा ज्ञान की खोज माना गया है।

दर्शन का कार्य है कि वह धार्मिक विश्वास और नैतिक मान्यताओं के आधारों को प्रकाश में लाकर उनकी परीक्षा करे। विशिष्ट दार्शनिक क्रिया आलोचनात्मक मनन या विमर्श है। दार्शनिक चिंतन एक चेतन वैचारिक प्रक्रिया है। इस वैचारिक प्रक्रिया से जो ज्ञान का उत्पन्न होता है वही चिंतन का मौलिक स्वरूप है। तर्कशास्त्र में भी जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं वह कुछ इसी प्रकार का होता है। दार्शनिक चिंतन के अन्तर्गत हमारे सामान्य ज्ञान पर आधारित कुछ भी प्रश्न हो सकते हैं और हमारा चिंतन उसकी वैधता या औचित्य के सम्बन्ध में प्रश्न उठाता है।

विषय चाहे ज्ञान से सम्बन्धित हो, चाहे सत् से अथवा मूल्य से दार्शनिक चिंतन सदैव एक आत्म चेतन वैचारिक प्रक्रिया है। जिससे हम मान्य वस्तुओं पर आलोचनात्मक दृष्टि डालते हैं और कुछ महत्त्वपूर्ण अथवा सामान्य प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं।

जहाँ तक जैन न्याय के अध्ययन की उपयोगिता का प्रश्न है वहाँ भी दर्शन सम्बन्धी सभी उपयोगितायें चरितार्थ होती है। न्याय शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्व 'इण' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है प्रमाण–मार्ग। न्याय के द्वारा हम खूब अच्छी तरह जीवाजीवादिक पदार्थों को यथावस्थितरूप से जानते हैं और प्रमाण मार्ग का भी यही कार्य है। इस प्रकार जैन न्याय का अर्थ हुआ कि पदार्थों की यथावस्थिति का ज्ञान जिस माध्यम से हो वही जैन न्याय हैं

जैन न्याय के क्षेत्र में आचार्य उमास्वामी से लेकर आज तक एक लम्बी परम्परा मिलती है। इन आचार्यों के ग्रंथ जैन न्याय को अति समृद्ध बनाते हैं। हम जैन न्याय के कतिपय सूत्रों को लेते हुए उसके अध्ययन की उपयोगिता पर प्रकाश डालेंगे।

न्याय विषय में आचार्यों में तत्त्व परीक्षा के लिए प्रमाणरूपी कसौटी तैयार की है। यदि इन प्रमाणों से जांच कर पदार्थों का निर्णय किया जाए तो निश्चय ही व्यक्ति मत मतान्तरों की चकाचौंध से भ्रमित नहीं होगा। मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए जीवादिक तत्त्वों का निर्णय होना आवश्यक है। जिसके लिए जैन न्याय में वर्णित प्रमाणों का ज्ञान करना प्रत्येक आत्महितैषी के लिए आवश्यक है।

आचार्य माणिक्यनन्दि का 'परीक्षामुख' जैन न्याय का एक प्रमाणभूत ग्रंथ है। 'परीक्षामुख' के मंगलाचरण में प्रमाणों की उपयोगिता का निदर्शन करते हुए आचार्य लिखते हैं–

'प्रमाणादर्थसंसिद्धिः'

प्रमाण अर्थात् सच्चे ज्ञान से पदार्थों का निर्णय होता है। प्रमाणों के द्वारा संशयादि का निराकरण होता है तथा वस्तु तत्त्व का सही निर्णय होता है।

प्रमाणों के ज्ञान की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए पुनः सूत्ररूप में आचार्य का कथन है कि "प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है।" इस संसार में सुख और सुख का कारण हित है तथा दुःख और दुःख का कारण अहित है। प्रमाण चूँकि हित की प्राप्ति व अहित के परिहार में समर्थ है अतः प्रमाण का ज्ञान मानवकल्याणकारी सिद्ध होता है।

4.2 आचार्य वादिदेव सूरिकृत 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में प्रमाण का लक्षण देते हुए आचार्य लिखते हैं–

'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।'

जो अपने को जानता है और दूसरे अन्य पदार्थों का भी निश्चयात्मक ज्ञान कराता है वही प्रमाण है। यह प्रमाण ही

सच्चा ज्ञान है।

अब यह तो स्थापित हो चुका है कि प्रमाण से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। सच्चाई वास्तविकता या पदार्थ का यथावत् जानने का निर्णय दो प्रकार से होता है–प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष क्या है–

'स्पष्टं प्रत्यक्षम्।' (प्रमाणनयतत्त्वालोक 2/2)

निर्मल असन्दिग्ध स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष प्रमाण की असन्दिग्धता या निर्मलता अनुभव से जानी जा सकती है। अनुभव से उदाहरण के लिए 'जयपुर' शहर के बारे में अगर आप किसी से सुनें तो ज्ञान तो होगा परन्तु जब आप उस नगर को स्वयं जाकर देखोगे तो वह ज्ञान अत्यन्त निर्मल व असन्दिग्ध होगा। तो यह है प्रत्यक्ष ज्ञान की जीवन में उपयोगिता।

परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम की गणना की जाती है।

'प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।'

स्मृति पूर्व में अनुभूत विषयों की ही होती है। इस प्रकार स्मृति प्रत्यक्ष पर आधारित है। प्रत्यभिज्ञान यानि पहचान। प्रत्यभिज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि पूर्व में जिस पदार्थ को देखा है उसी को स्मरण करके 'हाँ, यह वही है" इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। तर्क प्रमाण में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और प्रत्यक्ष तीनों की आवश्यकता पड़ती है। आगम प्रमाण में संकेत और उसका स्मरण दोनों ही कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि इन पाँचों प्रमाणों को अपने पूर्व वाले प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए इन्हें परोक्ष प्रमाण कहा जाता है।

4.3 परीक्षामुख में इन सभी प्रमाणों का फल अज्ञान की निवृत्ति को बताया गया है–

'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।'

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है तथा परम्परा फल हान अर्थात् त्याग, उपादान अर्थात् ग्रहण और उपेक्षा अर्थात् उदासीनता है।

किसी भी प्रमाण के द्वारा सर्वप्रथम प्रमेय के ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है तत्पश्चात् वस्तु का त्याग, ग्रहण अथवा उपेक्षा का भाव जाग्रत होता है।

'यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो।' –परीक्षामुख

जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है। अज्ञान का निवारण श्रेयस का मार्ग प्रतिष्ठित करता है।

इस प्रकार जैन न्याय का अध्ययन परम कल्याणकारी माना जा सकता है। जैन न्याय के अध्ययन का उपयोग विज्ञान व तकनीकी की भाँति हमारी भौतिक सम्पत्ति एवं संवृद्धि में हो सकता है सीधे मदद न करे परन्तु इसके अध्ययन से उत्पन्न सद्गुणों के कारण हमारे जीवन में इसकी व्यावहारिक उपादेयता भी सिद्ध होती है। हमारी चिंतन शक्ति के विकास से हमारे देश व हमारे समाज को अपरम्पार लाभ होता है। चिंतन शक्ति का विकास हमारे राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिदृश्य को भी प्रभावित करता है। अतः इस दृष्टि से इसकी प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता। बौद्धिक प्रखरता जैन न्याय की मुख्य देन मानी जा सकती है जिसके माध्यम से मनुष्य देश व समाज की मूलभूत समस्याओं के प्रति जागरूक होता है। मानवीय गरिमा, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानाधिकार, उदारवादी, लोकतांत्रिक व्यवस्था जैसे विचारों से ही आज हमारा राजनीतिक, सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन निर्धारित होता है।

4.4 जैन न्याय के कतिपय प्रमुख पारिभाषिक शब्द-

हर विषय की अपनी पारिभाषिक शब्दावली होती है। जैन न्याय की भी है। अतः यदि जैन दर्शन के न्याय-ग्रंथों के अध्ययन से पूर्व इस पारिभाषिक शब्दावली को पढ़-समझ लिया जाये तो बहुत लाभ हो सकता है।

न्याय—जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो, उसे न्याय कहते हैं।

उद्देश्य—जिस वस्तु का विवेचन करना हो उसका नाम मात्र कथन करना ही उद्देश्य है।

लक्षण निर्देश—निर्दोष लक्षण को बतलाने का नाम लक्षण निर्देश है।

अव्याप्ति—लक्ष्य के एकदेश में ही पाये जाने को अव्याप्ति कहते हैं।

अतिव्याप्ति—लक्ष्य और लक्ष्य के बाहर अलक्ष्य में भी पाये जाने का नाम अतिव्याप्ति है।

असम्भव—लक्ष्य में सर्वथा न पाये जाने का नाम असंभव है।

लक्षण—परस्पर मिली-जुली अनेक वस्तुओं में से एक अभीष्ट वस्तु को अलग कर देने वाले हेतु (चिन्ह विशेष) को लक्षण कहते हैं।

परीक्षा—परस्पर विरुद्ध अनेक युक्तियों की प्रबलता एवं दुर्बलता का निर्धारण करने के लिए सावधानीपूर्वक जो विचार किया जाता है, उसे परीक्षा कहते हैं।

प्रमाण—जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व को एकदम सही रूप में जाना जाता है, पहचाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।

समारोप—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का सामूहिक नाम समारोप है।

संशय—विरुद्ध अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है।

विपर्यय—विपरीत एक कोटि को स्पर्श करने वाला ज्ञान विपर्यय है।

अनध्यवसाय—'कुछ है'—इस प्रकार के अनिश्चयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण—विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—जो ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से होता है, उसे लोकव्यवहार में प्रत्यक्षरूप से प्रसिद्ध होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष—सर्वतः निर्मल ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

विकल प्रत्यक्ष—जो कुछ ही पदार्थों को विषय करता है, वह विकल प्रत्यक्ष है।

सूक्ष्म—जो स्वभाव से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें सूक्ष्म कहते है। जैसे—परमाणु आदि।

अन्तरित—जो काल से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें अन्तरित कहते हैं। जैसे—सुमेरु पर्वत आदि।

परोक्ष प्रमाण—अविशद (अस्पष्ट, अनिर्मल) ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

स्मृति—जो ज्ञान पूर्वानुभूत वस्तु को 'वह' इस रूप से विषय बनाता है, उसे स्मृति कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञान—जो ज्ञान प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के संकलन (जोड़) रूप होता है, उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

तर्क—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

व्याप्ति—साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव को बतलाने वाले सुनिश्चित संबंध को ही व्याप्ति कहते हैं। जैसे—धुएँ की अग्नि के साथ व्याप्ति है।

अविनाभाव—अविनाभाव का अर्थ है—साध्य के बिना साधन का न होना।

अनुमान—साधन (या हेतु) से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है।

हेतु (साधन)—जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) हो, उसे साधन कहते हैं।

साध्य—साध्य शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध होता है। इन्हें क्रमशः अबाधित, इष्ट और अप्रसिद्ध भी कहते हैं।

प्रमेय—जो प्रमाण के द्वारा जाना जाये, उसे प्रमेय कहते हैं।

अन्वय—जहाँ साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जावे, वह अन्वय दृष्टान्त है।

व्यतिरेक—जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जावे, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

आप्त — जो वीतराग (मोह-राग-द्वेष आदि दोषों से रहित), सर्वज्ञ और परम हितोपदेशक हो, वही आप्त है।

आगम — आप्त के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान आगम है।

प्रमाणाभास — जो प्रमाण नहीं है, पर प्रमाण जैसा प्रतीत होता है। अथवा प्रमाण माना जाता है, उसे प्रमाणाभास कहते हैं।

अनुमानाभास — जो अनुमान नहीं, पर अनुमान जैसा प्रतीत होता है अथवा अनुमान माना जाता है, वह अनुमानाभास है।

हेत्वाभास — जो हेतु नहीं है, पर हेतु जैसा प्रतीत होता है, उसे हेत्वाभास कहते हैं।

नय — प्रमाण द्वारा परिगृहीत वस्तु के एक देश (अंश, भाग, गुण, धर्म, पक्ष, आयाम) को जानना या कहना नय है।

निक्षेप — वस्तु को किस रूप से जाना जाये, उसे निक्षेप कहते हैं। निक्षेप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु चार प्रकार की है — नामरूप, स्थापनारूप, द्रव्यरूप और भावरूप।

नयाभास — जो नय नहीं है, पर नय जैसा प्रतीत होता है, उसे नयाभास कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नय प्रमाणपरिगृहीत वस्तु के एक देश को ग्रहण करता है अतः वस्तु के एक पक्ष का कथन करते हुए भी उसके अपर पक्ष का निराकरण नहीं करता, मात्र उसे गौण करता है, परन्तु नयाभास उस अपर पक्ष का निराकरण या अभाव ही कर देता है। नय और नयाभास में यही मूल अन्तर है।

4.5 अनेक प्रकार के प्रसिद्ध न्याय-

न्याय का अर्थ लोक में रूढ़ या प्रसिद्ध नीतिवाक्य भी होता है। ये नीतिवाक्य दृष्टान्त की तरह विषय को बोधगम्य बनाते हैं। ये अनेकानेक होते हैं, परन्तु इनमें से कतिपय प्रमुख इस प्रकार हैं–

1. **अंधचटकन्याय**–इसके अर्थ का हिन्दी मुहावरा भी बहुत प्रसिद्ध है–अन्धे के हाथ बटेर लगना। यह 'घुणाक्षर न्याय' के समान है।

2. **अंधपरंपरान्याय**–इसका अर्थ है अंधानुकरण। इसका प्रयोग तब होता है जब लोग बिना विचारे दूसरों का अन्धानुकरण करते हैं और यह नहीं जानते कि इस प्रकार का अनुकरण उन्हें अंधकार में फँसा देगा।

3. **अशोकवनिकान्याय**–अशोक वृक्षों के उद्यान का न्याय। रावण ने सीता को अशोक वाटिका में रखा था, परन्तु उसने और स्थानों को छोड़कर इसी वाटिका में क्यों रखा–इसका कोई विशेष कारण नहीं बताया जा सकता। सारांश यह हुआ कि जब मनुष्य के पास किसी कार्य को सम्पन्न करने के अनेक साधन प्राप्त हों, तो यह उसकी अपनी इच्छा है कि वह चाहे किसी साधन को अपना ले। ऐसी अवस्था में किसी भी साधन को अपनाने का कोई विशेष कारण नहीं दिया जा सकता।

4. **अश्मलोष्ट न्याय**–पत्थर और मिट्टी के लौंदे का न्याय। मिट्टी का ढेला रुई की अपेक्षा कठोर है परन्तु वही कठोरता मृदुता में बदल जाती है जब हम उसकी तुलना पत्थर से करते हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा जाता है जब उसकी तुलना उसकी अपेक्षा निचले दर्जे के व्यक्तियों से की जाती है, परन्तु यदि उसकी अपेक्षा श्रेष्ठतर व्यक्तियों से तुलना की जाय तो वही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नगण्य बन जाता है। 'पाषाणेष्टकन्याय' भी इसी प्रकार प्रयुक्त किया जाता है।

5. **कदंबकोरक (गोलक) न्याय**–कदंब वृक्ष की कली का न्याय–कदंब वृक्ष की कलियाँ साथ ही खिल जाती हैं, अतः जहाँ उदय के साथ ही कार्य भी होने लगे, वहाँ इस न्याय का उपयोग करते हैं।

6. **काकतालीय न्याय**–कौवे और ताड़ के फल का न्याय। एक कौवा एक वृक्ष की शाखा पर जाकर बैठा ही था कि अचानक ऊपर से एक फल गिरा और कौवे के प्राण–पखेरु उड़ गये, अतः जब कभी कोई घटना शुभ हो या अशुभ,

अप्रत्याशित रूप से अकस्मात् घटती है, तब इसका उपयोग होता है।

7. काकदंतगवेषण न्याय–कौवे के दाँत ढूँढना। यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है, जब कोई व्यक्ति व्यर्थ अलाभकारी या असंभव कार्य करता है।

8. काकाक्षि गोलक, न्याय–कौवे की आँख के गोलक का न्याय। एक दृष्टि, एकाक्ष आदि शब्दों से यह कल्पना की जाती है कि कौवे की आँख तो एक ही होती है, परन्तु वह आवश्यकता के अनुसार उसे एक गोलक से दूसरे गोलक में ले जा सकता है। इस न्याय का उपयोग उस समय होता है जब वाक्य में किसी शब्द या पदोच्चय का जो केवल एक ही बार प्रयुक्त हुआ है, आवश्यकता होने पर दूसरे स्थान पर भी अध्याहार कर लें।

9. कूपयंत्रघटिका न्याय–रहँट टिंडर न्याय। इसका उपयोग सांसारिक अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करने के लिए किया जाता है। जैसे रहँट के चलते समय कुछ टिंडर तो पानी से भरे हुए ऊपर को जाते हैं, कुछ खाली हो रहे हैं और कुछ बिल्कुल खाली होकर नीचे को जा रहे हैं।

10. घट्टकुटाप्रभातन्याय–चुंगी घर के निकट पौ फटी का न्याय। कहते हैं कि एक गाड़ीवान चुंगी देना नहीं चाहता था, अतः वह ऊबड़–खाबड़ रास्ते से रात को ही चल दिया परन्तु दुर्भाग्यवश रात भर इधर–उधर घूमता रहा, जब पौ फटी तो देखता क्या है कि वह ठीक चुंगीघर के पास ही खड़ा है, विवश हो उसे चुंगी देनी पड़ी, इसलिए जब कोई किसी कार्य को जानबूझ कर टालना चाहता है, परन्तु अन्त में उसी को करने के लिए विवश होना पड़ता है तो उस समय इस न्याय का प्रयोग होता है।

11. घुणाक्षर न्याय–लकड़ी में घुणकीटों द्वारा निर्मित अक्षर का न्याय। किसी लकड़ी में घुन लग जाने अथवा किसी पुस्तक में दीमक लग जाने से कुछ अक्षरों की आकृति से मिलते–जुलते चिह्न अपने आप बन जाते हैं, अतः जब कोई कार्य अनायास व अकस्मात् हो जाता है तब इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।

12. दण्डाक्षर न्याय–डंडे और पूड़े का न्याय। डंडा और पूड़ा एक ही स्थान पर रखे गये थे। एक व्यक्ति ने कहा कि डंडे को तो चूहे घसीट कर ले गये और खा गये, तो दूसरा व्यक्ति स्वभावतः यह समझ लेता है कि पूड़ा तो खा ही लिया गया होगा, क्योंकि वह उसके पास ही रखा था। इसलिए जब कोई वस्तु दूसरी के साथ विशेष रूप से अत्यन्त संबद्ध होती है और एक वस्तु के संबंध में हम कुछ कहते हैं तो वही बात दूसरी वस्तु के साथ भी अपने आप लागू हो जाती है।

13. देहलीदीपन्याय–देहली पर स्थापित दीपक का न्याय। जब दीपक को देहली पर रख दिया जाता है तो इसका प्रकाश देहली के दोनों ओर होता है, अतः यह न्याय उस समय प्रयुक्त किया जाता है जब एक ही वस्तु दो स्थानों पर काम आवे।

14. नृपनापितपुत्र न्याय–राजा और नाई के पुत्र का न्याय। कहते हैं कि एक नाई किसी राजा के यहाँ नौकर था। एक बार राजा ने उससे कहा कि मेरे राज्य में जो लड़का सबसे सुन्दर हो उसे लाओ। नाई बहुत दिनों तक इधर–उधर भटकता रहा परन्तु उसे ऐसा कोई बालक नहीं मिला जैसा राजा चाहता था। अन्त में थककर और निराश होकर वह घर लौटा। उसे अपना काला कलूटा लड़का ही अत्यन्त सुन्दर लगा वह उसी को लेकर राजा के पास गया। पहले तो उस काले–कलूटे बालक को देख कर राजा को बड़ा क्रोध आया परन्तु यह विचार कर कि मानव मात्र अपनी वस्तु को ही सर्वोत्तम समझता है, उसे छोड़ दिया। **सर्वः कांतमात्मीयं पश्यति।** हिन्दी में भी कहते हैं–अपनी छाछ को कौन खट्टा बताता है।

15. पंकप्रक्षालन न्याय–कीचड़ धोकर उतारने का न्याय। कीचड़ लगने पर उसे धो डालने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि मनुष्य कीचड़ लगने ही न देवे। इसी प्रकार भयग्रस्त स्थिति में फँस कर उससे निकलने का प्रयत्न

करने की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा है कि उस भयग्रस्त स्थिति में कदम ही न रखें। **'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'** हिन्दी में भी कहते हैं–सौ दवा से एक परहेज अच्छा।

16. पिष्टपेषण न्याय–पिसे हुए को पीसना। यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है जब कोई किये हुए कार्य को ही दुबारा करने लगता है, क्योंकि पिसे को पीसना व्यर्थ कार्य है–**कृतस्य करणं वृथा।**

17. बीजांकुर न्याय–बीज और अंकुर का न्याय। कार्य–कारण जहाँ अन्योन्याश्रित होते हैं वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है। बीज से अंकुर निकला और फिर अंकुर से ही बीज की उत्पत्ति हुई, अतः न बीज के बिना अंकुर हो सकता है और न अंकुर के बिना बीज।

18. लोहचुम्बक न्याय–लोहे और चुंबक का आकर्षण न्याय। यह प्रकृतिसिद्ध बात है कि लोहा चुंबक की ओर आकृष्ट होता है, इसी प्रकार प्राकृतिक घनिष्ठ संबंध या निसर्गवृत्ति की बदौलत सभी वस्तुएँ एक दूसरे की ओर आकृष्ट होती हैं।

19. वह्निधूम न्याय–धुएं से अग्नि का अनुमान। धुएं और अग्नि की अवश्यंभावी सहवर्तिता नैसर्गिक है, अतः जहाँ धुंआ होगा वहाँ आग अवश्य होगी। यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है जहाँ दो पदार्थों में कारण–कार्य या दो व्यक्तियों का अनिवार्य संबंध बताया जाय।

20. वृद्धकुमारीवाक्य (वर) न्याय–बूढ़ी कुमारी को वरदान का न्याय। इस प्रकार का वरदान माँगना जिसमें वह सभी बातें आ जाय जो एक व्यक्ति चाहता है। महाभाष्य में कथा आती है कि एक बुढ़िया कुमारी को इन्द्र ने कहा कि एक ही वाक्य में जो वरदान चाहो मांगो, तब बुढ़िया बोली–**पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांचनपायां भुंजीरन्** अर्थात् मेरे पुत्र सोने की थाली में घी——दूध युक्त दूध भात खायें। इस एक ही वरदान में बुढ़िया ने पति, धन धान्य, पशु, सोना–चाँदी सब कुछ माँग लिया। अतः जहाँ एक ही प्राप्ति से सब कुछ प्राप्त हो वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

21. शाखाचंद्र न्याय–शाखा पर वर्तमान चन्द्रमा का न्याय। जब किसी को चन्द्रमा का दर्शन कराते हैं तो चन्द्रमा के दूर स्थित होने पर हम यही कहते हैं, देखो सामने वृक्ष की शाखा के ऊपर चाँद दिखाई देता है। अतः यह न्याय उस समय प्रयुक्त होता है जब कोई वस्तु दूर होकर भी निकटवर्ती किसी पदार्थ से संसक्त होती है।

22. सिंहावलोकन न्याय–सिंह का पीछे मुड़ कर देखना। यह उस समय प्रयुक्त होता है जब कोई व्यक्ति आगे चलने के साथ–साथ अपने पूर्वकृत कार्य पर भी दृष्टि डालता रहता है। जिस प्रकार सिंह शिकार की तलाश में आगे भी बढ़ता जाता है, परन्तु साथ ही पीछे मुड़कर भी देखता रहता है।

23. सूचीकटाह न्याय–सुई और कड़ाही का न्याय। यह उस समय प्रयुक्त किया जाता है, जब दो बातें एक कठिन और एक अपेक्षाकृत आसान करने को हों, तो उस समय आसान कार्य को पहले किया जाता है, जैसे कि जब किसी व्यक्ति को सुई और कड़ाही दो वस्तुएँ बनानी हैं तो वह सुई को पहले बनावेगा, क्योंकि कड़ाही की अपेक्षा सुई को बनाना आसान या अल्पश्रमसाध्य है।

24. स्थूणनिखनन न्याय–गड्ढा खोदकर उसमें थूणी जमाना। जब किसी मनुष्य को कोई थूणी अपने घर में लगानी होती है तो मिट्टी कंकड़ आदि बार–बार डाल कर और कूटकर वह उस थूणी को दृढ़ बनाता है, इसी प्रकार वादी भी अपने अभियोग की पुष्टि में नाना प्रकार के तर्क और दृष्टान्त उपस्थित करके अपनी बात का और भी अधिक समर्थन करता है।

25. स्वामिभृत्य न्याय–स्वामी और सेवक का न्याय। इसका प्रयोग उस समय किया जाता है जब पालक और पाल्य, पोषक और पोष्य के सम्बन्ध को बतलाना होता है या ऐसे ही किन्हीं दो पदार्थों का संबंध बतलाया जाता है।

4.8 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-'परीक्षामुख' ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य कुंदकुंद ☐
(ख) आचार्य माणिक्यनन्दि ☐
(ग) आचार्य विद्यानन्दि ☐

प्रश्न 2-आचार्य वादिदेव सूरि ने किस ग्रंथ में प्रमाण का लक्षण दिया है ?

(क) प्रमाण परीक्षा ☐
(ख) प्रमाणनय तत्त्वालोक ☐
(ग) आप्तमीमांसा ☐

प्रश्न 3-हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में कौन समर्थ है ?

(क) नय ☐
(ख) प्रमाण ☐
(ग) प्रत्यभिज्ञान ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1- 'न्याय' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ बताओ ?

प्रश्न 2-परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत किसकी गणना की जाती है ?

प्रश्न 3- प्रमाण का साक्षात् और परम्परा फल क्या है ?

प्रश्न 4-परीक्षा का लक्षण क्या है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-वृद्धकुमारी वाक्य न्याय और सिंहावलोकन न्याय का वर्णन करो ?

पाठ-5 – सर्वोच्च न्याय ग्रंथ : अष्टसहस्री

5.1 अष्टसहस्री एक महान् न्यायग्रंथ–

अष्टसहस्री एक महान् तार्किक ग्रंथ है। इसका मूलाधार देवागमस्तोत्र है। स्वामी समंतभद्राचार्य के द्वारा विरचित गंधहस्ति महाभाष्य का यह देवागमस्तोत्र मंगलाचरण कहलाता है। गंधहस्ति महाभाष्य के सम्बन्ध में अन्य ग्रंथों में 'उक्तं च' कहते हुये उद्धरण मिलता है, इसलिए स्वामी समन्तभद्राचार्य के द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर एक महान् भाष्य ग्रंथ की रचना की गई है, यह स्पष्ट है, देवागम उसी का यदि मंगलाचरण है तो निःसंदेह वह ग्रंथ भी विद्यानंदि के श्लोकवार्तिकालंकार के समान ही महान तार्किक ग्रंथ होगा, इसे सहज अनुमान कर सकते हैं। आचार्य श्री ने मंगलाचरण की रचना में भी इतनी तर्क पूर्ण दृष्टि रखी है तो मूलग्रंथ में न मालूम कितना रहस्य भरा होगा। जिस ग्रंथ के मंगलाचरण पर अकलंक देव अष्टशती भाष्य की रचना कर सकते हैं और महर्षि विद्यानंदि अष्टसहस्री की रचना करते हैं तो समझना चाहिये कि वह ग्रंथ सामान्य नहीं हो सकता, परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि आज वह अनुपलब्ध है।

5.2 समंतभद्र की अनुपम कृति देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)–

महर्षि समंतभद्र की यह अनुपम कृति है, इसे देवागमस्तोत्र इसलिये कहते हैं कि इसका प्रारम्भ देवागम पद से होता है, जिस प्रकार भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि स्तोत्र उन्हीं पदों से प्रारम्भ होने के कारण उस नाम से कहे जाते हैं, इसी प्रकार यह भी देवागमस्तोत्र कहलाता है। नहीं तो इसे आप्तमीमांसा के नाम से भी कहते हैं। आप्त किस प्रकार होना चाहिये ? आप्त में किन गुणों की आवश्यकता है ? इस बात की सुन्दर मीमांसा इस ग्रंथ में की गई है, अतः इसका नाम "आप्तमीमांसा" सार्थक है।

आप्तमीमांसा समन्तभद्र की एक अर्थगर्भित दुरूह कृति है, उस पर तर्कपूर्ण दृष्टि से अकलंक देव ने अष्टशती नामक वृत्ति लिखी है, यह ग्रंथ आठ सौ श्लोक प्रमाण हैं, अतः इसका नाम अष्टशती पड़ गया है, अकलंक देव ने यह जो ग्रंथ लिखा, वह गंभीर, तर्क पूर्ण एवं अर्थगर्भित है, अनेक स्थानों में विशद व्याख्या न होने के कारण ग्रंथ गांभीर्य को विद्वान् भी समझने में असमर्थ रहे, इसीलिए तार्किक चूड़ामणि विद्यानंदि स्वामी ने अष्टसहस्री नामक आठ हजार श्लोक परिमित ग्रंथ की रचना कर अनेक गुत्थियों को स्वैर शैली से सुलझाया है। कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर जिज्ञासु हृदयों को आकर्षित ही नहीं, आल्हादित भी किया है। इस देवागम पर वसुनंदि सिद्धान्तदेव के द्वारा विरचित देवागम वृत्ति नामक ग्रंथ भी है जो कि श्लोकों का अर्थमात्र सूचित करता है। इससे स्तोत्र के अर्थ को समझने में कोई बाधा नहीं है, यद्यपि अकलंक या विद्यानंदि के समान गम्भीर तर्क पूर्ण भाषा से ग्रंथ की रचना नहीं है, तथापि अपने स्थान में उसका महत्त्व है इसमें कोई संदेह नहीं है।

5.3 प्रकृत ग्रंथ की महत्ता–

यह विद्यानंदि कृत अष्टसहस्री सचमुच में देवागम का विशेष अलंकार है, अतः इसे देवागमालंकार के नाम से भी कहते हैं अथवा अकलंकदेवकृत आप्तमीमांसा को सामने रखकर यह व्याख्यानरूप अलंकार किया गया है, इस दृष्टि से इसे आप्तमीमांसालंकार भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम अष्टसहस्री है। शायद इसलिए कि यह आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अष्टसहस्री में विद्यानंद स्वामी ने भी इस ग्रंथ को अष्टसहस्री के नाम से यत्र–तत्र उल्लेख किया है।

ग्रंथ की शैली अनूठी है। जैनेतर तर्क ग्रंथों का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान होने के कारण उसके तर्कों को पूर्व पक्ष में रखकर ग्रंथ में अकाट्य युक्तियों के द्वारा उत्तर दिया गया है। ग्रंथकार ने कुमारिल भट्ट, प्रज्ञाकर, धर्मकीर्ति आदि मीमांसक, बौद्ध सिद्धांतों का जिस तर्क के साथ खंडन किया है वह अजोड़ है।

कुमारिल भट्ट ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हुए लिखा है कि–

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा। तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः।।

यदि सुगत सर्वज्ञ है तो कपिल सर्वज्ञ क्यों नहीं है। उसके निषेध में प्रमाण क्या है ? यदि वे दोनों सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों ? मतभेद होने के कारण निश्चय से दोनों सर्वज्ञ नहीं हैं यह स्पष्ट है।

अष्टसहस्री को लिखते समय वह मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रंथकार के सामने था, इसलिए उन्होंने भावना, विधि व नियोग को वाक्यार्थ निषेध करने में उसी युक्ति का प्रयोग कर खंडन किया है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा तावुभौ यदि वाक्यार्थो हतो भट्टप्रभाकरौ।
कार्येर्थे चोदना ज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा द्वयोश्चेद्धंत तौ नष्टौ भट्टवेदांतवादिनौ।।

यदि भावना श्रुति वाक्य का अर्थ है तो नियोग नहीं है इसमें क्या प्रमाण है, यदि दोनों ही श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व प्रभाकर का सिद्धांत नष्ट होता है इसी प्रकार नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है तो विधि क्यों नहीं है ? इसमें प्रमाण क्या है ? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व वेदांती दोनों का सिद्धांत खंडित हो जाता है।

अष्टसहस्री में स्थान–स्थान पर इसी प्रकार की तर्कणा शैली के द्वारा स्वमत सिद्धांत का मंडन किया गया है। भाषा सौष्ठव, सरलता, युक्तियुक्त कथन, गंभीर शैली, कोमल प्रहार आदि बातों का विचार करने पर समग्र न्यायसंसार में इसकी बराबरी करने वाला अन्य ग्रंथ नहीं है यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

अष्टसहस्री की तर्कणा शैली अद्वितीय है। खंडन मंडन पद्धति मनोहारिणी है। सूक्ष्मतल स्पर्शी सिद्धान्त का निरूपण है। विद्वत्संसार को चकित करने वाली मीमांसा है।

स्वयं अष्टसहस्री में ग्रंथकार ने ग्रंथ के संबंध में स्पष्ट किया है कि–

स्फुटमकलंकपदं या प्रकटयति परिचेतसामसमम्। दर्शितसमन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु।

अर्थात् अकलंक के अत्यन्त दुर्गम्य पदों का जो स्पष्टीकरण करती है, समंतभद्र की दिशाओं को जो प्रदर्शन करती है वह अष्टसहस्री सदा जयवंत रहे।

इससे स्पष्ट है कि ग्रंथ में स्थान–स्थान पर समंतभद्र के अभिप्रायानुसार अकलंक की अष्टशती के स्पष्ट आशय को व्यक्त किया है। अष्टशती में यह अष्टसहस्री इतनी अनुप्रविष्ट हुई है कि अष्टशती की अनेक पंक्तियाँ अष्टसहस्री में उपलब्ध होती हैं, एवं उनकी विशद व्याख्या इस ग्रंथ में की गई है। इसकी शैली अत्यन्त गंभीर व प्रसन्न हैं, गंभीर इसलिए की वह गूढ़ है, प्रसन्न इसलिए कि स्वयं व दूसरों के लिए खेदजनक नहीं है। सभ्य, मृदु, मधुर, संतुलनात्मक शब्दों से यह ग्रंथित है। इसलिए ग्रंथ में एक स्थान पर कहा गया है। कि–

जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलंकम्। गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्नगंभीरपदपदवी।।

देवागम स्तोत्र में समंतभद्र ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है, जिसे अकलंक देव ने समर्थन किया है जिसमें प्रसन्न गंभीर पदों का प्रयोग हुआ है ऐसी आप्तमीमांसालंकृति अष्टसहस्री सदा जयवंत रहे। यह आचार्य के द्वारा की गई स्वप्रशंसा नहीं है, अपितु वस्तु स्थिति का परिचायक है। देवागम की दिशा को प्रतिपादन करने वाला, इसकी तुलना करने वाला अन्य ग्रंथ नहीं है।

इस ग्रंथ में संशय, विपर्यय, वैयधिकरण्य, व्यतिकर आदि दोषों का उद्भावन कर पूर्व पक्ष में परमत का मंडन कर खंडन किया गया है, एवं स्वमत का मंडन किया गया है। सर्वज्ञ अभाव वादियों को करारा उत्तर देते हुए निर्दोष सर्वज्ञ की सिद्धि करते हुए आचार्य ने मनोरम शैली से ग्रंथ को प्रवाहित किया है। निःसंदेह कहा जा सकता है कि अष्टसहस्री का प्रमेय अन्यत्र दुर्लभ है। सिद्धांत पक्ष का समर्थ समर्थन है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अनेक विषयों का परिज्ञान हो जाता है। कतिपय विषयों में वह निष्णात विद्वान् बन जाता है। इस गौरवमय व्याख्यान के संबंध में स्वयं ग्रंथकार ने वर्णन किया है कि–

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः। विज्ञायेत यथैव स्वसमयपरसमयसद्भावः।।

हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्री के सुनने से ही सर्व इष्टार्थ की सिद्धि हो सकती है, जिसके सुनने से स्वसमय क्या है, पर समय क्या है इसका अन्यून बोध हो जाता है। यह इस ग्रंथ का विषय है।

5.4 इस ग्रंथ के कर्ता महर्षि विद्यानंदि–

इस ग्रंथ की रचना महर्षि विद्यानंदि ने की है। विद्यानंदि यतिपति के ऐतिह्य का पता लगाने पर ज्ञात होता है कि आप वैदिक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर भी जैनमार्ग के अकाट्य तर्क व सयुक्तिक कथन से आकर्षित होकर उस पवित्र धर्म में आये एवं अपनी विद्वत्ता व तर्कणा शक्ति का सदुपयोग किया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा अनेक न्याय ग्रंथों की रचना कर जैन न्याय संसार की श्री वृद्धि की है।

5.5 उनके द्वारा विरचित ग्रंथ संपत्ति का उल्लेख यहाँ पर करना अप्रस्तुत नहीं होगा।

(1) विद्यानन्द महादेय, (2) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, (3) अष्टसहस्री , (4) युक्त्यनुशासनालंकार, (5) आप्त परीक्षा, (6) प्रमाण परीक्षा, (7) पत्र परीक्षा, (8) सत्यशासन परीक्षा, (9) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, इस प्रकार 9 ग्रंथों की रचना का उल्लेख मिलता है, इस ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार कराया जाता है।

5.5.1 विद्यानंद महोदय–

यह विद्यानन्दि आचार्य के द्वारा विरचित शायद प्रथम रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती ग्रंथों में इसका प्रायः उल्लेख आता है, इतना ही नहीं, विस्तार से देखना हो तो विद्यानन्द महोदय में देखो ऐसी सूचना भी इनमें पायी जाती है। परन्तु दुर्भाग्य से आज यह ग्रंथ अनुपलब्ध है। महर्षि विद्यानन्दि के बाद करीब पाँच सौ वर्षों तक यह ग्रंथ उपलब्ध रहा, तत्कालीन आचार्यों ने अपने ग्रंथों में इस ग्रंथ का उद्धरण दिया है।

5.5.2 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक–

उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर श्लोक व वार्तिकरूप बृहद्भाष्य है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थ सूत्र पर जो आज उपलब्ध भाष्य हैं, उनमें सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण है। तत्त्वार्थ सूत्र ही एक ऐसा ग्रंथ रत्न है जिस पर पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनन्दी, श्रुतसागर आदि अनेक विद्वानों ने भाष्य की रचना की है। कुमारिल भट्ट के मीमांसक श्लोकवार्तिक का यह बेजोड़ जवाब है, यह विद्यानन्दि यतिपति की अद्वितीय रचना व न्यायशास्त्र की शोभा को बढ़ाने वाली है।

5.5.3 अष्टसहस्री–

प्रकृत ग्रंथ है। यह समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र पर अकलंक देव के द्वारा विरचित आप्त मीमांसा पर टीकालंकृत भाष्य है। इस ग्रंथ में आचार्य ने अकलंक ग्रंथ की दुरूह गुत्थियों को अच्छी तरह लीलामात्र से सुलझाया है। पाठकों को इसके अध्ययन से सहज ज्ञान हो जावेगा।

5.5.4 युक्त्यनुशासनालंकार–

आचार्य समन्तभद्र के द्वारा विरचित तर्कपूर्ण स्तोत्र ग्रंथ की यह टीका ग्रंथ है। महर्षि विद्यानंदि ने अपनी ही शैली से इसमें युक्ति प्रयुक्तियों से भगवान् की उपासना की है।

5.5.5 आप्त परीक्षा–

इस ग्रंथ में महर्षि विद्यानन्द ने–

मोक्षमार्गस्य नेतार, भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये।।

इस श्लोक को आधार बनाकर अत्यन्त सरल व सुबोध शैली से आप्त की परीक्षा की है। वस्तुतः अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ आप्त हो सकते हैं इस बात की सुन्दर सिद्धि आचार्य देव ने इस ग्रंथ में की है। इसके साथ स्वोपज्ञ टीका होने से

ग्रंथ के हृद्य को समझने में बड़ी सहूलियत हो गई है।

5.5.6 प्रमाण परीक्षा–

इस ग्रंथ में इतर दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए जैनमत सम्मत प्रमाण के स्वरूप में विशद विवेचन किया गया है। प्रमाणपरीक्षा नाम सार्थक है।

5.5.7 पत्र परीक्षा–

यह विद्यानंदि के द्वारा विरचित गद्य पद्यमय रचना है, इसमें साध्य के लिए उपयुक्त अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए स्वमत की स्थापना एवं परमत का निराकरण किया गया है। शायद विद्यानंदि को जैनधर्म की निर्दोषता को व्यक्त करने की अत्यन्त आसक्ति ही उत्पन्न हो गई थी।

5.5.8 सत्यशासन परीक्षा–

यह ग्रंथ अपूर्ण उपलब्ध होता है, प्रकाशित भी है, इसमें पुरुषाद्वैत आदि 12 इतर शासनों की परीक्षा करने का संकल्प आचार्य ने व्यक्त किया है, परन्तु 9 की ही मीमांसा की गई है, शायद आचार्य की यह अन्तिम कृति है, बीच में ही आयु का अन्त हो गया हो, इसे पूर्ण न कर सके हों, अनेकांत शासन की परीक्षा का प्रकरण इस ग्रंथ में अनुपलब्ध है, शायद इस प्रकरण को तार्किक विद्यानंदि की लेखनी से हम अत्यधिक सम्पन्न स्थिति में देख सकते थे परन्तु दुर्भाग्य है।

5.6 अष्टसहस्त्री की कष्टमय हिंदी टीका–

न्याय ग्रंथों की हिन्दी या भाषा टीका करना सरल काम नहीं है। सिद्धान्त और काव्यों का भावांतर सरल व सरस हो जाता है, परन्तु न्याय शास्त्र की पारिभाषिक शैली का भाषानुवाद शुष्क ही नहीं दुरधिगम्य भी हो जाता है। तथापि पूज्य विदुषी आर्यिका गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने इसकी टीका न्यायलोक में उपस्थित कर सचमुच में एक लोकोत्तर कार्य किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

5.7 पूज्य गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती जी साध्वीमणि हैं–

बालब्रह्मचारिणी आर्यिका श्री ज्ञानमती जी का क्षयोपशम अलौकिक है, आपने बाल्यकाल से ही विरक्ति को पाकर आचार्य देशभूषणजी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की तदनंतर परम पूज्य चारित्र चूड़ामणि आचार्य श्री वीरसागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की, संघ में निरन्तर अभीक्ष्णज्ञानोपयोग क्रमबद्ध रूप से शब्द, अलंकार, व्याकरण, न्याय सिद्धान्तों का अध्ययन जारी रहा, केवल पठन की दृष्टि ही नहीं, ग्रंथों के अन्तस्तल में पहुँचकर उनके सूक्ष्म मर्म को समझने के नैपुण्य को उन्होंने प्राप्त किया, विद्यालयों में दसों वर्ष रहकर क्रमबद्ध शास्त्रीय कक्षा तक अध्ययन करने वाले छात्रों में वह योग्यता प्राप्त नहीं होती है, जो योग्यता ग्रंथ का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान गणिनी आर्यिका ज्ञानमतीजी को प्राप्त हो गई है। इससे यह श्रद्धा दृढ़ीभूत होती है कि सम्यग्दर्शन के साथ सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, चारित्र पूर्वक जो ज्ञान है उसमें विशिष्ट क्षयोपशम की प्राप्ति होती है, तप की प्रखरता से ज्ञान भी निखर उठता है। इस बात के लिए आर्यिका ज्ञानमती माताजी ही निदर्शन हैं। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, जिस अष्टसहस्त्री को कष्टसहस्त्री समझकर विद्यार्थी पठन से विद्वान् पाठन से उपेक्षा करते हैं उस अष्टसहस्त्री का बिना किसी की सहायता से स्वयं अध्ययन कर अर्थ करना, भाषांतर लिखना, सुबोध अनुवाद का निर्माण करना, यह उनके तपःपूत प्रज्ञातिशय का ही कार्य है, यह सर्व साधारण को साध्य नहीं है। प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा में प्राप्त ऐसी साध्वी रत्नों से जैन समाज के साधु समुदाय का मुख उज्ज्वल है, मस्तक ऊँचा है, यह लिखने में हमें जरा भी संकोच नहीं होता है।

टिकैतनगर (उ. प्र.) सदृश छोटे से कस्बे में जन्म होने पर भी सर्व भारत के कोने–कोने में विहार, तत्तत्प्रान्तीय भाषाओं का प्रगाढ़ परिचय, साधु सन्तों के प्रति नितांत भक्ति, विद्वानों के प्रति वात्सल्यमय स्नेह, गुणीजनों के प्रति धर्म

स्नेहयुक्त समादर यह माताजी की विशेषता है।

कन्नड़, मराठी, हिन्दी, संस्कृत व प्राकृत ग्रंथों में सूक्ष्मतम प्रवेश ही नहीं, अपितु उन भाषाओं में काव्य रचना की योग्यता भी माताजी में है अनेक काव्यमय ग्रंथ उनकी ज्ञान गंगा से प्रवाहित हुए हैं एवं जनादर को पा चुके हैं। विपुल प्रमाण में ज्ञानदान करने के कारण उनका नाम सचमुच में सार्थक है।

5.8 न्याय दर्शन का सर्वोच्च ग्रंथ है अष्टसहस्त्री–

जैसे अपने धन–मकान–जमीन आदि के साथ अन्याय होने पर व्यक्ति न्यायालय का दरवाजा खटखटाता है और योग्य न्याय मिल जाने पर वह न्यायाधीश को धन्यवाद देता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ, जिनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों के साथ जब एकान्तवादी मतावलम्बियों के द्वारा अन्यायजनक प्रतिपादन होता है, तब अनेकान्त, स्याद्वादशैली में जैनाचार्य उसका खण्डन करके न्याय का पक्ष पुष्ट करते हैं। ऐसे ही अनेक प्रकार के एकान्तपक्षों का उत्तर देने वाला यह अष्टसहस्री ग्रंथ है।

अष्टसहस्री के हिन्दी अनुवाद से विद्वज्जगत में पूज्य गणिनीप्रमुख ज्ञानमती माताजी का जो कीर्तिमान स्थापित हुआ वह भगवान महावीर के शासन की अप्रतिम उपलब्धि है। मैंने स्वयं आचार्यश्री विमलसागर महाराज, आचार्यश्री ज्ञानसागर महाराज, डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया, डॉ. कैलाशचंद्र सिद्धांतशास्त्री, सुमेरुचंद्र दिवाकर एवं डॉ. लालबहादुर शास्त्री आदि के मुख से अष्टसहस्री हिन्दी अनुवाद की अतुलनीय शब्दों में प्रशंसा सुनी है तथा ये लोग उसके शीघ्र प्रकाशन की प्रेरणा भी सदैव दिया करते थे।

इन्हीं प्रेरणाओं के फलस्वरूप सन् 1974 में प्रथम ग्रंथ का प्रकाशन जब हुआ तो आचार्यश्री धर्मसागर महाराज एवं आचार्य श्री देशभूषण महाराज ने बड़े गौरव की अनुभूति के साथ सार्वजनिक सभा में ग्रंथ का विमोचन कराया था। पुनः सन् 1989 में तीन भागों में पूरी अष्टसहस्री टीका का प्रकाशन होते ही साधुओं, विद्वानों एवं पुस्तकालयों में अष्टसहस्री की भारी मांग पूर्ण हुई।

अष्टसहस्री ग्रंथ के अन्दर प्रारंभ की तीन कारिकाओं की टीका में आचार्यश्री विद्यानंद स्वामी ने सच्चे आप्त को परीक्षा की कसौटी पर खरा बतलाते हुए यह सिद्ध किया है कि सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशिता इन तीन विशिष्ट गुणों के कारण जिनेन्द्र भगवान ही तीनों लोकों में सबसे महान हैं।

पुनः चतुर्थकारिका की टीका में मिट्टी के ढेले आदि में अचेतनपना सिद्ध किया और पाँचों स्थावरकाय के चार–चार भेद पूज्य माताजी ने भावार्थ में खोला है और मूल में भी चार–चार भेद हैं।

इससे "कण–कण में जीव है" यह मान्यता खंडित हो जाती है।

अभव्यों में केवलज्ञान कैसे है?— द्रव्यार्थिक नय से अभव्यजीव में भी मनःपर्यय और केवलज्ञान विद्यमान है। किन्तु उनकी प्रगटता भव्यों के ही हो सकती है, अभव्यों के नहीं हो सकती है।

तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण ग्रंथ का मूल हेतु है–चतुर्थकारिका की टीका में 'कर्मभूभृतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य प्रणेता.....विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च।" इत्यादि वाक्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण को ही मूल आधार बनाकर देवगम स्तोत्र रचा गया और उस स्तोत्र की टीका में श्रीविद्यानंद स्वामी ने मंगलाचरण के भाव को लिया है।

अष्टसहस्री की हेडिंग किसने बनाई?— इस ग्रंथ के बीच–बीच में विषय की स्पष्टता हेतु हिन्दी टीकाकर्त्री गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने ही संस्कृत और हिन्दी दोनों में समस्त हेडिंग बनाई है। पं. कैलाशचंद सिद्धांतशास्त्री एवं डॉ. दरबारीलाल कोठिया ने इन्हें देखकर भूरि–भूरि प्रशंसा की थी और अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की थी।।

इसी प्रकार प्रत्येक प्रकरण के अन्त में लघु सारांशों के द्वारा विषय को अत्यन्त सरल बनाना पूज्य माताजी की

सर्वतोमुखी दृष्टि का परिचायक है।

पाँचवीं कारिका की टीका में एक श्लोक आया है—

असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः।
विरुद्धो धर्मोऽभावस्य स सत्तां साधयेत् कथं।।

अर्थात् यदि हेतु साध्य के भाव का धर्म है तो असिद्ध है, क्योंकि साध्य सर्वदा असिद्ध ही होता है। यदि साध्य के भाव एवं अभाव दोनों का धर्म है तो व्यभिचारी है तथा यदि साध्य के अभाव का धर्म है तो विरुद्ध है, ऐसा हेतु साध्य-सर्वज्ञ की सत्ता को कैसे सिद्ध कर सकेगा?

आगे इस कारिका में कई भावार्थों के द्वारा पूज्य माताजी ने सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध किया है। जो विशेष पठनीय है।

नैयायिक मत वाले अतीन्द्रियज्ञान को मानसप्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं और जैन शासन में मानसज्ञान को अनिन्द्रिय-मन से उत्पन्न मतिज्ञानरूप में स्वीकार करते हैं और अतीन्द्रियज्ञान मात्र सर्वज्ञ में ही माना है।

नैयायिक जन सन्निकर्ष-(छूकर जानने को) प्रमाण मानते हैं कि पहले चक्षु इन्द्रिय का घट से संबंध हुआ उसका नाम है "संयोग" पुनः उसके रूप से संबंध हुआ है, उसका नाम है "संयुक्त समवाय" इसके बाद इन्द्रिय ने जो उसके रूप को जाना, उसका नाम "संयुक्तसमवेतसमवाय" है।

अष्टसहस्री मूल में 'कारिकायां' पद आया है। अतः इस ग्रंथ के मूल श्लोक 'कारिका' के नाम से कहे गये हैं।

जैनशासन में जिन्हें अन्तकृत्केवली माना गया है, बौद्धों ने उनका "खड्गी" यह नाम दिया है।

चार्वाक मतावलम्बी किसी भी जीव-संसारी प्राणी के भव-भवान्तर नहीं मानता है, इसीलिए वह मानता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।

इसी प्रकरण में "पथिकाग्नि" का एक उदाहरण उसने दिया है कि—

जिस प्रकार प्रथमतः वन की पथिकाग्नि जो अरणि, बांस आदि के निर्मथन से उत्पन्न होती है। वह पहले किसी भी अग्नि से नहीं हुई है अतः अनग्निपूर्वक देखी जाती है। फिर आगे की दूसरी अग्नि अग्निपूर्वक ही होती है उसी प्रकार से आदि का चैतन्य शरीर के आकार आदि से परिणत भूतचतुष्टय से होगा और युवा, वृद्धावस्था आदि में होने वाला दूसरा चैतन्य उस चैतन्यपूर्वक ही होगा, इसमें कोई विरोध नहीं है।

इसका जैनाचार्य ने खंडन किया कि बिना उपादानकारण के सहकारी कारणमात्र से किसी की भी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है।

प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है।

चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ये ज्ञान को आत्मा का गुण एवं स्वपर प्रकाशी नहीं मानते हैं।

चार्वाक कहता है कि ज्ञान भूतचतुष्टय का गुण है। मीमांसक कहता है कि ज्ञान परोक्ष है परपदार्थों को ही जानता है आत्मा को नहीं जानता है, अन्य ज्ञान के द्वारा ही स्वयं को जानता है किन्तु जैनाचार्य इन सभी का निराकरण करके ज्ञान को स्वपर प्रकाशी सिद्ध करते हैं, क्योंकि जो स्वयं में जड़ हैं वह दूसरे को क्या जानेगा?

5.9 कालात्ययापदिष्ट हेतु का लक्षण—

प्रत्यक्ष से पक्ष के बाधित होने पर जिसका प्रयोग किया जाता है।

फलोपभोग के दो भेद—1. औपक्रमिक 2. अनौपक्रमिक

इन्हें ही अविपाक और सविपाक निर्जरा कहते हैं।

दूरवर्ती पदार्थों को अरिहन्तों के प्रत्यक्ष मानने के प्रकरण में दूषण दिखाने वालों के प्रति अकलंक देव ने अष्टशती

की पंक्तियों में कहा है कि—

"अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्" अर्थात् "अन्य सभी न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं।" इस विषय में अष्टसहस्रीकार ने कहा है कि—

जो न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं वे निर्दोष नहीं है, जैसे—दुर्वैद्य आदि।

सौगत लोग शरीर का हेतु देकर सर्वज्ञ का निषेध करते हैं तब जैनाचार्य उनका हेतु उन्हीं पर घटित करके बुद्ध भगवान में सर्वज्ञत्व का प्रतिषेध कर देते हैं किन्तु वह इससे संतुष्ट न होकर अपने गुरुबुद्ध को तो सर्वज्ञ मानता ही है।

इस प्रकरण में अष्टशतीकार अकलंकदेव ने सुगत को चतुर बन्दर की उपमा दी है।

"तदेतददृष्टसंशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटानामिव स्वलांगूल भक्षणवत्।"

अष्टसहस्री ग्रंथ में माताजी ने शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ और सारांश इन छह कथनों के द्वारा आचार्यों के भाव को प्रगट किया है।

"नहि शब्दतोर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यान-विवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते।"

5.10 दिव्यध्वनि का स्वरूप—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषैरपेतं हितं।
कंठोष्ठादिवचो निमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम्।।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं।
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः।।

तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से 60-61-62 नं. गाथा में दिव्यध्वनि का लक्षण कहा है।

इस अष्टसहस्री प्रथम भाग में मात्र 6 कारिकाओं की टीका है। प्रत्येक जैनधर्मावलम्बी को इसकी हिन्दी टीका जीवन में एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए। प्रत्येक अध्याय के अंत में दिये गये सारांशों को पढ़ने से विषय का सार समझ में आ जाता है। यदि विषय समझ में नहीं भी आए, तो भी इसके स्वाध्याय से असंख्य कर्मों की निर्जरा तो हो ही जाएगी। जिस देवागम स्तोत्र के श्लोकों (कारिकाओं) पर यह अष्टसहस्री टीका आचार्यश्री विद्यानंद स्वामी ने लिखी है, एक बार उस स्तोत्र को एक मुनिराज मंदिर में उच्च स्वर से पढ़ रहे थे उसे सुनने मात्र से पात्रकेसरी नामक एक ब्राह्मण विद्वान को जैनधर्म के प्रति प्रगाढ़श्रद्धान हो गया था और वे दिगम्बर जैन मुनि बनकर एक दिन न्याय के दिग्गज विद्वान् बन गये। उनका पात्रकेसरी स्तोत्र बहुत ही प्रसिद्ध हुआ है। यह इतिहास अहिच्छत्र तीर्थ पर घटित हुआ था, अतः आज भी वहाँ पर इसके साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित वह देवागम स्तोत्र अपरनाम आप्तीमांसा वास्तव में एक चमत्कारिक काव्यरचना है, जिस पर श्री अकलंक देव ने आठ सौ श्लोक प्रमाण अष्टशती ग्रंथ रचा और आचार्य विद्यानंद स्वामी ने आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री ग्रंथ की रचना करके साहित्यजगत् को अमूल्यकृति प्रदान की। पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी ने उसका हिन्दी अनुवाद करके हम सभी को न्यायग्रंथ के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया है।

5.11 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-अष्टशती ग्रंथ की रचना किसने की ?

(क) आचार्य विद्यानन्दि ☐
(ख) आचार्य अकलंकदेव ☐
(ग) आचार्य समन्तभद्र ☐

प्रश्न 2-अष्टसहस्री ग्रंथ में कुल कितने श्लोक प्रमाण टीका है ?

(क) पाँच हजार ☐

(ख) दस हजार ☐

(ग) आठ हजार ☐

प्रश्न 3-प्रमाणपरीक्षा ग्रंथ किसने लिखा ?

(क) आचार्य समन्तभद्र ☐

(ख) गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ☐

(ग) आचार्य विद्यानन्दि ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-श्री समन्तभद्र स्वामी की अनुपम कृति कौन सी है और उसका नाम क्या है ?

प्रश्न 2-कुमारिल भट्ट ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ के अभाव को कैसे सिद्ध किया है ?

प्रश्न 3-आचार्य श्री विद्यानन्दि द्वारा रचित ग्रंथों के नाम लिखें ?

प्रश्न 4-अष्टहस्री ग्रंथ की हिन्दी टीकाकर्त्री गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी को कौन-कौन सी भाषाओं का ज्ञान है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अष्टसहस्री न्याय ग्रंथ का सर्वोच्च ग्रंथ कैसे है ?

इकाई–5 विभिन्न दृष्टियों की अपेक्षा न्याय व्यवस्था

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) जैनधर्म और राजनीति

(2) जैन न्याय में वाद की मौखिक तथा लिखित परम्परा

(3) (हरिवंशपुराण) महाभारतकालीन राजनीति व्यवस्था

(4) जैनधर्म की प्राचीनता एवं स्वतंत्रता के विषय में विभिन्न न्यायालयों के निर्णय

(5) संविधान निर्माण में जैनों का योगदान

पाठ -1 – जैनधर्म और राजनीति

1.1 राजनियमों में जैन सिद्धान्तों का समावेश–

विश्व के सभी प्राणियों में मानव का सर्वोच्च स्थान है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। स्वार्थ साधन हेतु वह पर के हित को आघात न पहुँचा दे, तदर्थ मानव के आचरणों का नियमन आवश्यक है। मानव के आचरण के नियमन हेतु कतिपय पारिवारिक नियम, संस्थागत नियम, सामाजिक नियम एवं नैतिक नियम होते हैं। इन नियमों के पालन से व्यक्ति स्वयं भी सुख-शान्ति का अनुभव करता है तथा अन्य को भी अपने व्यवहार से प्रसन्न रखता है।

व्यक्ति की अपराधिक वृत्ति पर अंकुश रखने तथा देश व समाज में व्यवस्था बनाये रखने हेतु प्रत्येक देश की सरकार कुछ कानून बनाती है, जिनके पालन की अपेक्षा प्रत्येक नागरिक से होती है तथा जिनके उल्लंघन करने पर व्यक्ति को दंडित किये जाने की व्यवस्था होती है। हमारे देश के कानून भी बहुत व्यापक हैं तथा व्यक्ति को हर क्षेत्रीय व्यवहार का नियमन करने में सक्षम हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, संचय आदि दुष्कर्मों पर नियन्त्रण करने हेतु भारतीय दण्डसंहिता अधिनियम में व्यापक प्रावधान हैं तथा कठोर दण्ड की व्यवस्था है। फिर भी देश में हिंसा एवं आतंकवाद का ताण्डव नृत्य दृष्टिगत होता है, जीवन में असत्य का साम्राज्य छाया हुआ है। चोरी करना, मिलावट करना, करवंचना आदि व्यावसायिक कुशलता व सफलता के प्रतीक बन गए हैं। बलात्कार की घटनाएँ वृद्धिंगत होती जा रही हैं तथा ब्रह्मचर्य शब्द उपहास का केन्द्रबिन्दु बन गया है। येन केन प्रकारेण अधिक धन संचय करने वाले हर क्षेत्र में सम्मानित किये जाते हैं, जिससे जमाखोर, रिश्वतखोर, दहेज लालची आदि पनपते जा रहे हैं। इन सबसे यह लगता है कि व्यापक एवं कठोर राजनियम भी अप्रभावी हैं।

1.2 मानव को दुष्कृत्यों से रोकने एवं सुकृत में प्रवृत्त करने में राज संस्था एवं राजनियम कई बार असफल रहते हैं–

इसलिए धर्म संस्था व धर्म नियमों की अपरिहार्यता बढ़ जाती है। राज संस्था के वांछित उद्देश्यों को पूरा करने में धर्म संस्था प्रभावी सहायक बनती है। छिपकर अपराध करने वाले अपराधी राज संस्था से अदण्डित रह जाते हैं और कानून की नजर से बचकर अपराध करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है तथा सरकार विवश होकर पीड़ित जनता के साथ अन्याय देखती रहती है। आतंकवादियों द्वारा समय-समय पर किया जाने वाला नरसंहार इसका उदाहरण है किन्तु धर्म संस्था ने कर्म सिद्धान्त द्वारा मानव मन में ऐसी धारणा बिठा दी है कि कहीं भी कोई कार्य किया जाए वह रिकार्ड हो जाता है तथा उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। नरक का डर, स्वर्ग का प्रलोभन, चाहे कुछ व्यक्तियों द्वारा कल्पित

माना जाये पर इस धारणा ने व्यक्ति को दुष्कर्मों से बचाने एवं सुकर्मों में प्रवृत्त करने में एक प्रभावी कार्य किया है। छिपकर अपराध करने को उद्यत व्यक्ति भी पाप फल भुगतने से डर कर पापकर्म करने से रुक जाता है।

1.3 धर्मशास्त्रों के अनुसार किसी कार्य की क्रियान्विति तो दूर, उसको करने के भाव आने से ही कर्मबन्ध हो जाते हैं–

कर्म फल अवश्य भोगना होता है। कर्मबन्धन में मन की भावना प्रमुख और क्रिया गौण हो जाती है। धर्म की यह बात राजनियम में भी गर्भित है। भारतीय दण्डसंहिता की धारायें 304 ए और 307 के प्रावधानों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि किसी व्यक्ति की लापरवाही से अनजाने में किसी की मौत हो जाने पर उसको धारा 304 ए के अन्तर्गत दो वर्ष तक का कारावास दिया जा सकता है जबकि मारने के बुरे इरादे से कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को मारने का प्रयास करता है किन्तु अन्य के द्वारा रोक लिये जाने के कारण अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाता तो भी उसे धारा 307 के अनुसार 7 वर्ष तक की सजा दी जा सकती है। पहली घटना के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति के निमित्त से दूसरे की मृत्यु हो जाती है जबकि दूसरी घटना में वह व्यक्ति चाहते हुए भी अन्य को मारना तो दूर, चोट भी नहीं पहुँचा पाया। राजदंड की कठोरता घटना के परिणामानुसार नहीं वरन् व्यक्ति की दुर्भावनानुसार है। पहली घटना में जिस व्यक्ति की असावधानी से अन्य की मौत हुई, उसके भाव मारने के बिल्कुल नहीं थे, जबकि दूसरी घटना में व्यक्ति के भाव पूर्णतया मारने के थे चाहे परिणाम कुछ भी रहा हो। कानून की धाराओं में बुरे इरादे के सिद्ध होने पर ही कठोरतम सजा की व्यवस्था है, मात्र क्रिया से नहीं अतः जिस तरह चेहरे को सुन्दर रखने हेतु दर्पण में देखते हैं उसी प्रकार मन की ओर दृष्टि करके उसको निर्मल व शुद्ध बनाये रखें। जब मन में हिंसा के भाव नहीं होंगे तो न वे दुर्वचनों द्वारा अभिव्यक्त होंगे और न ही उनकी काया द्वारा हिंसा की क्रियान्विति होगी अतः धर्मसंस्था हिंसा के उत्पत्ति स्थान अर्थात् मन में आने पर ही रोक लगाकर अहिंसक वातावरण बनाने में प्रभावी योगदान देती है, जबकि राजनियम में मात्र मन में उत्पन्न हिंसा को, जब तक वह काय से व्यक्त न कर दी जाये, रोकने का कोई प्रावधान नहीं है।

राजनियम में कई खामियाँ (Loopholes) निकल आती हैं, जिनका सहारा लेकर भी अपराधी दण्डित होने से बच जाता है किन्तु धर्म नियमों में ऐसी सम्भावना नहीं है। राजनियम लागू करने वाले व्यक्ति को भयभीत अथवा प्रलोभित करके न्याय की दिशा बदलवाने में भी कई बार सफलता मिल जाती है किन्तु धर्म नियमों में पक्षपात को कोई स्थान नहीं है। तीर्थंकर अवस्था में जबकि देवों के द्वारा उनके गर्भ जन्मादि कल्याणक बड़ी धूमधाम से बनाये जाते हैं तब भी स्वयं तीर्थंकर को भी अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जैनदर्शन में प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त पर आस्था हो जाने पर व्यक्ति कभी भी दुष्कर्म करने का साहस नहीं करेगा तथा सद्कर्मों में रत रहेगा। कर्मसिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर भी परख लिया गया है। एक बालक धनी व्यक्ति के यहाँ जन्म लेकर सब सुविधाओं को पाता है तथा करोड़ों की सम्पत्ति में भागीदार बन जाता है, दूसरा नवजात शिशु किसी निर्धन के घर अपंग अवस्था में जन्म लेकर सभी तरह की परेशानियों में पलता है तथा हजारों रुपयों के ऋण में सहभागी बन जाता है। जन्मजात इस विषमता का तर्कसंगत कारण उनके पूर्व जन्म के सुकृत व दुष्कृत का फल ही है। स्वकृत कर्म निष्फल नहीं होते अतः वर्तमान में दुराचारी को भौतिक सुख साधनसम्पन्न तथा वर्तमान में सदाचारी को निर्धनावस्था में देखकर सन्मार्ग से च्युत नहीं होना चाहिए क्योंकि किसी भी व्यक्ति के केवल वर्तमान में किये हुए ही कार्य उसके सुखी व दुखी होने के कारण नहीं होते अपितु उसके द्वारा भूतकाल में किये हुए कार्य भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं अतः मानव को हर स्थिति में धर्म का पालन करना चाहिए।

1.4 जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है किन्तु इसके प्रमुख सिद्धान्तों की उपयोगिता आज के युग में अधिक है।

जैनधर्म के सिद्धान्तों के पालन में विश्व व राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान हो सकता है। अहिंसा को जन-जीवन में उतारने पर आतंकवाद व शस्त्र-अस्त्र की अन्धाधुन्ध होड़ पर अंकुश लगेगा तथा रक्षाव्यय के नाम पर की जाने वाली अपार धनराशि को मानव कल्याण के लिए उपयोग में लाया जा सकेगा। विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को राहत की साँस मिलेगी। अपने शौक की पूर्ति हेतु किये जाने वाले पशुवध में रुकावट आएगी तथा अन्धाधुन्ध हरे-भरे वृक्ष काटने में लोग हिचकिचायेंगे। फलस्वरूप सभी लोग सुख शान्ति से रहेंगे, पशुधन में वृद्धि होगी तथा वनों के संरक्षण से पर्यावरण की शुद्धता बनी रहेगी। अहिंसा के बल पर ही वर्तमान युग में गाँधीजी ने भारत को स्वतन्त्र कराने में सफलता प्राप्त की।

1.5 अनेकान्त का सिद्धान्त जैनदर्शन की विश्व को एक अनूठी देन है-

विश्व की महान् शक्तियों में पारस्परिक वैमनस्य का मूल कारण वैचारिक दुराग्रह है। एक राष्ट्र अपनी विचारधारा को दूसरे पर थोपना चाहता है और दूसरे की विचारधारा का आदर नहीं करता। अनेकान्त सिद्धान्त दूसरे के दृष्टिकोण को समझने व दूसरों की विचारधारा का आदर करने की दिशा प्रदान करता है। तब विचारों में तनाव के स्थान पर सद्भाव व अहिंसा होगी क्योंकि अहिंसा का भवन अनेकान्त के धरातल पर ही ठहर सकता है।

1.6 अपरिग्रह का सिद्धान्त समाजवाद का आदिबिन्दु है-

आर्थिक विषमता से ग्रस्त राष्ट्र में अहिंसक तरीके से समाजवाद अपरिग्रह के सिद्धान्त के पालन से ही आ सकता है। भारत जैसे निर्धन देश में यदि कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो अन्य की आवश्यकता पूर्ति में बाधा आयेगी। यही प्रवृत्ति वर्गभेद व वर्गसंघर्ष की जन्मदात्री है अतः पेट भरो, पेटी नहीं। इच्छाओं पर नियन्त्रण रखने व संयमित जीवन यापन करने से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ ठीक रहेंगी क्योंकि येन-केन प्रकारेण धनसंग्रह की प्रवृत्ति मानव से सभी अकरणीय कार्य भी करवा लेती है अतः शस्त्रसंचय की भाँति धनसंचय को भी अपराध माना जाना चाहिये क्योंकि आधुनिक युद्ध का मुख्य शस्त्र तलवार नहीं वरन् धन है। मात्र धन से स्थायी सुख शान्ति नहीं मिलती। प्राप्तव्य को प्राप्त करने की चिन्ता, उसकी रक्षा की चिन्ता व उसके नष्ट होने पर वियोग का दुख-इस तरह परिग्रह हर अवस्था में दुखदायी है। कभी-कभी तो सुखद भविष्य की कल्पना में वर्तमान को भी बिगाड़ लेते हैं तथा संचित धन का कभी भी उपयोग नहीं कर पाते अतः व्यक्ति को परिग्रह को सीमित करना चाहिए तथा पूर्व संचित परिग्रह में से कुछ राशि विनयपूर्वक जरूरतमन्दों के हितार्थ अर्पित करते रहना चाहिए। जिससे निर्धनों के जीवन स्तर के उत्थान में सरकार के दायित्व में हम भी हाथ बटा सकें।

जो व्यक्ति जैन सिद्धान्तों का निष्ठा से पालन करता है, वह हर स्थिति में सुख-शान्तिपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकता है। उसके आचरण से किसी कानून का उल्लंघन ही नहीं होगा। जैनाचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के 7वें अध्याय के 27वें सूत्र में कहा है— **स्तेनप्रयोग-तदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।**

अर्थात् चोरी के लिए प्रेरणा करना अथवा चोरी के उपाय बताना, चुराई हुई वस्तु को लेना, राज्य के कानूनों के विरुद्ध चलना (जैसे कर चोरी करना, जमाखोरी करना आदि), नापने तौलने के बांट आदि कमती बढ़ती रखना और अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर अधिक मूल्य में बेचना, ये पाँच कार्य अचौर्याणुव्रत में दोष

लगाने वाले हैं अर्थात् चोरी के ही पर्यायवाची हैं। इस सूत्र को ध्यान में रखकर यदि हर नागरिक चोरी से पूर्णतः बचे तो देश की बहुत सी समस्याओं का समाधान सहज में ही हो सकता है। जैनदर्शन ने राजद्रोह का नहीं वरन् राजनियमों के पालन का निर्देश दिया है और देश के नियमों का यदि ध्यान से अवलोकन किया जाये तो उनमें जैन सिद्धान्तों के ही पालन की अपेक्षा की गई है, अन्तर सिर्फ पालने के तरीकों में है। जैनधर्म मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाकर स्वेच्छा से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह के सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा देता है तो सरकार कानून का डर दिखाकर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रहसंचय की वृत्ति पर अंकुश लगाती है। धर्म का प्रभाव स्थायी व आन्तरिक होता है और कानून का प्रभाव अस्थायी व दिखावटी होता है किन्तु विश्वशांति हेतु धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करना ही पड़ेगा। आज एड्स नामक प्राणघातक बीमारी के भय से स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों पर रोक लगी है व ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त को बल मिला है। छापे के भय से काले धन संचय में कटौती हो रही है और अपरिग्रह को मान्यता दी जा रही है। प्राकृतिक सीमित साधनों के व्यर्थ में प्रयोग को रोकने हेतु सरकार करोड़ों रुपये विज्ञापन आदि में व्यय करके जनता को इस बारे में आगाह करती है। जैनदर्शन में अनर्थदण्डव्रत के द्वारा बिना प्रयोजन पानी, हवा, वनस्पति आदि के प्रयोग को निषिद्ध बताकर सीमित साधनों के संरक्षण हेतु बहुत बल दिया है।

विश्वधर्म की पात्रता रखने वाला, प्राणीमात्र के कल्याण की बात करने वाला, स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाला जैनधर्म महान् उदार है, फिर भी कतिपय जैन कहलाने वाले लोग बाह्य क्रियाओं के अन्तर को आधार बनाकर परस्पर द्वेषभाव रखें तो वह जैनत्व के नाम पर कलंक है तथा जैनदर्शन के मूल सिद्धान्तों का घात है। सन्तों के मार्गदर्शन में हम समाज की एकता को अक्षुण्ण रखें ताकि हम लोगों के विघटनकारी व्यवहार को देखकर अन्य जन जैनदर्शन के अहिंसा व अनेकान्त के सिद्धान्तों का उपहास न करें। राष्ट्र की कल्याणकारी योजनाओं में जैनियों का सहयोग सर्वदा बना रहा है।

1.7 जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है–

इसके सिद्धान्त सर्वोपयोगी हैं। इनके निष्ठापूर्वक पालन में ही विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान निहित है। धर्म निरपेक्षता की आड़ में धर्मविहीन हो जाने से राष्ट्र का चारित्रिक पतन होता है। चारित्रिक पतन से राष्ट्रोत्थान की कल्याणकारी योजनायें निष्फल हो जाती हैं अतः राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास एवं मानव की स्थायी सुख–शान्ति हेतु नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था जागृत करना नितान्त आवश्यक है। जैनधर्म नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा उत्पन्न कराता है, जिनके परिपालन से ही स्थायी विश्वशांति सम्भव हो सकती है।

1.8 जैनधर्म और राजनीति–

जैन राजनीति की यह विशेषता है कि वह धर्म से अनुप्राणित है। धर्म की परिभाषा देते हुए आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि–

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।।

अर्थात् मैं समीचीन धर्म का उपदेश करूँगा। यह कर्मों का निर्मूलन करने वाला है और प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में रख देता है। आचार्यश्री ने जैनान् नहीं कहा 'सत्त्वान्' कहा अतः सिद्ध है कि धर्म किसी संप्रदाय विशेष से संबन्धित नहीं है। धर्म निर्बन्ध है, निस्सीम है, सूर्य के प्रकाश की तरह। सूर्य के प्रकाश को हम बन्धनयुक्त कर लेते हैं, दीवारें खींचकर, दरवाजे बनाकर, खिड़कियाँ लगाकर। आज की राजनीति में भी दीवारें, दरवाजे

और खिड़कियाँ लग गई हैं, जिसके कारण जातिवाद, संप्रदायवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, प्रांतवाद, क्षेत्रीयवाद आदि विभिन्न वाद उभरकर संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में अपने को लीन कर रहे हैं।

गंगानदी हिमालय से प्रारंभ होकर निर्बाध गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। उसके जल में अगणित प्राणी किलोलें करते हैं, उसके जल से आचमन करते हैं, उसमें स्नान करते हैं, उसका जल पीकर जीवन रक्षा करते हैं, अपने पेड़–पौधे को पानी देते हैं, खेतों को हरियाली से सजा लेते हैं। इस प्रकार गंगानदी किसी एक प्राणी, जाति अथवा संप्रदाय की नहीं है, वह सभी की है किन्तु उसको यदि कोई अपना बताये तो गंगा का क्या दोष है ? इसी प्रकार भगवान वृषभनाथ व भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म पर किसी जाति विशेष का आधिपत्य संभव नहीं है। धर्म और धर्म को प्रतिपादित करने वाले महापुरुष संपूर्ण लोक की अक्षय निधि हैं। महावीर की सभा में क्या केवल जैन ही बैठते थे ? नहीं। उस सभा में देव, देवी, मनुष्य, स्त्रियाँ, पशु–पक्षी सभी को स्थान मिला हुआ था अतः धर्म किसी परिधि में बँधा नहीं है, उसका क्षेत्र प्राणिमात्र तक विस्तृत है।

प्राचीन राजाओं की राजनीति सभी के योग और क्षेम तक विस्तृत थी। आचार्य वादीभसिंह ने राज्य को योग और क्षेम की अपेक्षा विस्तार से तप के समान कहा है; क्योंकि तप तथा राज्य से संबंध रखने वाले योग और क्षेम के विषय में प्रमाद होने पर अधःपतन होता है और प्रमाद न होने पर भारी उत्कर्ष होता है। आचार्य गुणभद्र के अनुसार राज्य में राजा वही है जो प्रजा को सुख देने वाला हो। चन्द्रप्रभचरित के अनुसार उत्तम देशों के जो लक्षण प्राप्त होते हैं उनमें उपजाऊ और रमणीय भूमि, स्वच्छ सरोवर, दीर्घिकायें, नदियाँ, खनिज का क्षेत्र, उत्कृष्ट धान्य संपदा, वृक्षादि वनस्पति, ईतियों की बाधा न होना, प्रमुदित, सुचरित्र, निर्व्यसनी प्रजा, प्रजापालक राजा, उत्तम जलवायु, उत्तम पथ तथा अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति होना प्रमुख है। ये विशेषताएँ उत्तम प्राकृतिक एवं मानसिक पर्यावरण को सूचित करती हैं।

आचार्य रविषेण कृत पद्मचरित के अध्ययन से राज्य की उत्पत्ति के जिस सिद्धांत को सर्वाधिक बल मिलता है, वह है सामाजिक समझौता सिद्धान्त। आधुनिक युग में इस सिद्धांत को अधिक बल देने वाले हाब्स, रूसो और लॉक हैं। इनमें भी पद्मचरित का राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी संकेत आधुनिक युग के रूसो और लॉक के सिद्धांत से बहुत कुछ मिलता–जुलता है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय संस्था है, जिसका निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के सभी प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीनकाल में एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इस प्राकृतिक अवस्था के विषय में मतभेद है। कुछ इसे पूर्व सामाजिक तथा कुछ इसे पूर्व राजनैतिक अवस्था मानते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार प्राकृतिक नियमों को आधार मानकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। कुछ ने प्राकृतिक अवस्था को अत्यन्त कष्टप्रद तथा असहनीय माना है तो कुछ ने इस बात को प्रतिपादन किया है कि प्राकृतिक अवस्था में मानवजीवन आनंदपूर्ण था। पदम्चरित में इसी दूसरी अवस्था को स्वीकार किया गया है। इस अवस्था को त्यागने का कारण साधनों की कमी तथा प्रकृति में परिवर्तन होने से उत्पन्न हुआ भय था। इन संकटों को दूर करने के लिए समय–समय पर विशेष व्यक्तियों का जन्म हुआ। इन व्यक्तियों को कुलकर कहा गया, राज्य की उत्पत्ति का मूल इन कुलकरों और इनके कार्यों को ही कहा जा सकता है।

1.9 आदिपुराण के अनुसार पहले भोगभूमि थी–

दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना और उन्हें दण्ड देना तथा सज्जनों का पालन करना, यह क्रम भोगभूमि में नहीं था क्योंकि उस समय पुरुष निरपराध होते थे। भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का प्रारंभ हुआ। इस समय यह आशंका हुई कि

दण्ड देने वाले राज्य का अभाव होने पर प्रजा असत्यन्याय का आश्रय करने लगेगी अर्थात् बलवान् निर्बल को निगल जाएगा। ये लोग दण्ड के भय से कुमार्ग की ओर नहीं दौड़ेंगे इसलिए दण्ड देने वाले राजा का होना उचित है और ऐसा राजा ही पृथ्वी जीत सकता है। जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए बिना उसका दूध दुहा जाता है और ऐसा करने से गाय सुखी रहती है तथा दुहने वाले की भी आजीविका चलती रहती है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से टैक्स आदि के रूप में उचित धन वसूल करने का विधान है। वह धन पीड़ा न देने वाले करों से वसूल किया जा सकता है। ऐसा करने से प्रजा भी दुःखी नहीं होती और राज्य व्यवस्था के लिए योग्य धन भी सरलता से मिल जाता है, ऐसा सोचकर भगवान् वृषभदेव ने कुछ लोगों को दण्डधर राजा बनाया; क्योंकि प्रजाओं के योग और क्षेम का विचार करना राजाओं के ही आधीन होता है। अच्छे राजा के होने पर प्रजा को भय और क्षोभ नहीं होते हैं।

राज्य का फल धर्म (जिन कर्तव्यों के करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो) अर्थ (जिससे मनुष्य के सभी प्रयोजनों की सिद्धि हो) और काम (जिससे समस्त इन्द्रियों—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र में बाधारहित प्रीति हो) की प्राप्ति है। उक्त फल प्रदाता होने के कारण आचार्य सोमदेव ने उसे नमस्कार किया है।

1.10 नीति धर्म की प्रारंभिक भूमिका है–

नीतिवेत्ता राजा पृथ्वी को स्त्री के समान वश में कर लेता है। न्यायमार्ग का वेत्ता होने के कारण किसी विषय में विसंवाद होने पर लोग उसके पास न्याय के लिए आते हैं। उत्तम राजा न तो अत्यन्त कठोर होता है और न अत्यन्त कोमल, अपितु मध्यम वृत्ति का आश्रय कर जगत को वशीभूत करता है। इसके अतिरिक्त राजा के अनेक कर्त्तव्य बतलाए गए हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—1. कुलपालन, 2. मत्यनुपालन, 3. आत्मानुपालन, 4. प्रजापालन, 5. मुख्य वर्ग की रक्षा, 6. घायल और मृत सैनिकों की रक्षा, 7. सेवकों की दरिद्रता का निवारण तथा सम्मान, 8. योग्य स्थान पर नियुक्ति, 9. कण्टक शोधन, 10. कृषि कार्य में योग दान देना, 11. अक्षरम्लेच्छों को वश में करना, 12. समञ्जसत्व धर्म का पालन, 13. दुराचार का निषेध तथा 14. लोकापवाद से भयभीत होना।

1. कुलपालन—कुलाम्नाय की रक्षा करना और कुल के योग्य आचरण की रक्षा करना।

2. मत्यनुपालन—राजाओं को वृद्ध मनुष्यों की संगति रूपी संपदा से इन्द्रियों पर विजय प्राप्तकर धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र से अपनी बुद्धि को सुसंस्कृत करनी चाहिए।

3. आत्मानुपालन—इस लोक तथा परलोक संबंधी अपायों, विघ्नों से आत्मा की रक्षा करना।

4. प्रजापालन—प्रजा के कार्य को देखना तथा प्रजा की रक्षा करना।

5. मुख्यवर्ग की रक्षा—जो राजा अपने मुख्य बल से पुष्ट होता है, वह समुद्रान्त पृथ्वी को बिना किसी यत्न के जीत लेता है।

6. घायल और मृत सैनिकों की रक्षा—संग्राम में किसी भृत्य के मर जाने पर उसके पद पर उसके पुत्र अथवा भाई को नियुक्त करना।

७. सेवकों की दरिद्रता का निवारण तथा सम्मान—राजा को चाहिए कि अपनी सेना में किसी योद्धा को उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सम्मानित करे। जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करने वाले वीर पुरुष को उसके योग्य सत्कारों से संतुष्ट रखता है, उसके भृत्य सदा उस पर अनुरक्त रहते हैं और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं।

8. योग्य स्थान पर नियुक्ति—जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओं को काँटों और पत्थरों से रहित तथा शीत और गर्मी आदि की बाधा से शून्य वन में चराता हुआ बड़े प्रयत्न से उसका पोषण करता है उसी प्रकार राजा को भी अपने

सैनिक को किसी उपद्रवहीन स्थान पर रखकर उनकी रक्षा करना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य का परिवर्तन होने पर चोर, डाकू तथा अन्य राजा लोग उसके इन सेवकों को पीड़ा देने लगेंगे।

9. कण्टकशोधन——चोर, चरट (देश से बाहर निकाले गए अपराधी), अन्नप (खेतों या मकानों की माप करने वाले), धमन (व्यापारियों की वस्तुओं का मूल्य निश्चित करने वाले), राजा के प्रेमपात्र, आटविक (वन में रहने वाले भील या अधिकारी) तलार (छोटे-छोटे स्थानों में नियुक्त किए हुए अधिकारी), भील, जुआरी, मंत्री और अमात्य आदि (अधिकारीगण) आक्षशालिक (जुआरी), नियोगि (अधिकारी वर्ग) ग्रामकूट (पटवारी) और वार्द्धषिकु (अन्न का संग्रह करने वाले व्यापारी) ये राष्ट्र के कण्टक हैं। उक्त राष्ट्र के कण्टकों में से अन्न संग्रह करके दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारी लोग देश में अन्याय की वृद्धि करते हैं तथा तंत्र (व्यवहार) एवं देश का नाश कर देते हैं। वार्द्धषिकों (लाभवश राष्ट्र का अन्न संग्रह कर दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारियों) की कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य में लज्जा नहीं होती अथवा उनमें सरलता नहीं होती–कुटिलता स्वभाव वाले होते हैं। जिस देश में राज प्रतापी तथा कठोर शासन करने वाला होता है उसके राज्य में राष्ट्र कण्टक नहीं होते हैं।

10. कृषि कार्य में योग दान देना——राजा को आलस्यरहित होकर अपने अधीन ग्रामों में बीज देना आदि साधनों द्वारा किसानों से खेती कराना चाहिए। वह अपने देश में किसानों द्वारा भलीभाँति खेती कराकर धान्य संग्रह करने के लिए उनसे न्यायपूर्ण उचित अंश ले। ऐसा होने से उसके भण्डार आदि में बहुत सी संपदा इकट्ठी हो जायेगी। उससे उसका बल बढ़ेगा तथा संतुष्ट करने वाले धान्यों से उसका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली हो जाएगा।

11. अक्षरम्लेच्छों को वश में करना——अपने आश्रित स्थानों पर प्रजा को दुःख देने वाले जो अक्षरम्लेच्छ हैं उन्हें कुल शुद्धि प्रदान करना आदि उपायों से अपने अधीन करना चाहिए। अपने राजा से सत्कार पाकर वे फिर उपद्रव नहीं करेंगे। यदि राजाओं से उन्हें सम्मान प्राप्त नहीं होगा तो वे प्रतिदिन कुछ न कुछ उपद्रव करते रहेंगे। जो अक्षरम्लेच्छ अपने ही देश में संचार करते हों, उनसे राजा को कृषकों की तरह कर अवश्य लेना चाहिए। जो अज्ञान के बल से अक्षरों द्वारा उत्पन्न अहंकार को धारण करते हैं, पापसूत्रों से आजीविका करने वाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते हैं। हिंसा करना, मांस खाने से प्रेम रखना, बलपूर्वक दूसरों का धन अपहरण करना और धूर्तता करना, यही म्लेच्छों का आचार है।

12. समञ्जसत्व धर्म पालन——प्रजा को विषम दृष्टि से न देखना, सब पर समान दृष्टि रखना, समञ्जसत्व धर्म हैं। इस गुण के द्वारा शिष्ट गुणों का पालन और दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिए। जो पुरुष हिंसा आदि दोषों में तत्पर रहकर पाप करते हैं, वे दुष्ट कहलाते हैं। जो क्षमा, संतोष आदि के द्वारा धर्मधारण करने में तत्पर हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं।

1.11 वरांगचरित में प्रतिपादित राजा के गुण–

वरांगचरित में धर्मसेन और वरांग आदि राजाओं का वर्णन किया गया है। इन गुणों को देखने से ऐसा लगता है कि जटासिंहनन्दि उपर्युक्त राजाओं के बहाने श्रेष्ठ राजा के गुणों का ही वर्णन कर रहे हैं। इस दृष्टि से अच्छे राजा के निम्नलिखित गुण प्राप्त होते हैं——

राजा को आख्यायिका, गणित तथा काव्य के रस को जानने वाला, गुरुजनों की सेवा का व्यसनी, दृढ़ मैत्री रखने वाला, प्रमाद, अहंकार, मोह और ईर्ष्या से रहित, सज्जनों और भली वस्तुओं का संग्रह करने वाला, स्थिर मित्रों वाला, मधुरभावी, निर्लोभी, निपुण और बन्धु-बान्धवों का हितैषी होना चाहिए। उसका आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्त्व इस प्रकार हो कि वह सौन्दर्य द्वारा कामदेव को, न्यायनिपुणता से शुक्राचार्य को, शारीरिक कान्ति से चन्द्रमा को, प्रसिद्ध यश के द्वारा इन्द्र को, दीप्ति के द्वारा सूर्य को, गंभीरता तथा सहनशीलता से समुद्र को और दण्ड के द्वारा यमराज को भी तिरस्कृत कर दे। अपनी स्वाभाविक विनय से उत्पन्न उदार आचरणों एवं महान गुणों द्वारा वह उन लोगों के भी मन को

मुग्ध कर ले, धर्म तथा राजनीति में बढ़-चढ़कर हो। राजा को चाहिए कि उसके अनुगामी सेवक उससे सन्तुष्ट रहें तथा प्रत्येक कार्य को तत्परता से करें, उसके मित्र समीप में हो और वह हर समय संबन्धियों पर आश्रत न रहे। प्रबुद्ध और स्थिर होना राजा का बहुत बड़ा गुण है। जो व्यक्ति स्वयं जागता है, वही दूसरों को जगा सकता है। जो स्वयं स्थिर है वह दूसरों की डगमग अवस्था का अन्त कर सकता है, जो स्वयं नहीं जागता है और जिसकी स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल है, वह दूसरों को न तो प्रबुद्ध कर सकता है और न स्थिर कर सकता है। राजा की कीर्ति सब जगह फैली होनी चाहिए कि वह न्यायनीति में पारंगत, दुष्टों को दण्ड देने वाला, प्रजा का हितैषी और दयावान् है। राजा राजसभा में पहले जो घोषणा करता है, उसके विपरीत आचरण करना अनुपयुक्त तथा धर्म के अत्यन्त विरुद्ध है। इस प्रकार के कार्य का सज्जन परिहास करते हैं। राजा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का इस ढंग से सेवन करे कि उसमें से किसी एक का अन्य से विरोध न हो। इस व्यवस्थित क्रम को अपनाने वाला राजा अपनी विजयपताका फहरा देता है। राजा की दिनचर्या ऐसी होनी चाहिए कि वह प्रातः से संध्या समय तक पुण्यमय उत्सवों में व्यस्त रहे। अपने स्नेही बन्धु, बान्धव, मित्र तथा अर्थिजनों को भेंट आदि देता रहे। ऐसे राजा की प्रत्येक चेष्टा प्रजा की दृष्टि में प्रामाणिक होती है अतः वह उस पर अडिग विश्वास रखती है। राजा का विवेक आपत्तियों में भी कम नहीं होना चाहिए। संकट के समय व किसी प्रकार की असमर्थता का अनुभव न करे तथा उसे अपने कार्यों का इतना अधिक ज्ञान हो कि कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, शत्रुपक्ष, आत्मपक्ष तथा मित्र और शत्रु के स्वभाव को जानने में देर न लगे। जिस राजा का अभ्युदय बढ़ता है, उसके पास अच्छे मित्र, बान्धव, उत्तम रत्न, श्रेष्ठ हाथी, सुलक्षण अश्व, दृढ़ रथ आदि हर्ष तथा उल्लास के उत्पादक नूतन साधन अनायास ही आते रहते हैं। राजा का यह कर्त्तव्य है कि राज्य में पड़े हुए निराश्रित बच्चे, बुड्ढों तथा स्त्रियों, अत्यधिक काम लिए जाने के कारण स्वास्थ्य नष्ट हो जाने पर किसी भी कार्य के अयोग्य श्रमिकों, अनाथों, अन्धों, दीनों तथा भयंकर रोगों में फँसे हुए लोगों की सामर्थ्य, असामर्थ्य तथा उनकी शारीरिक, मानसिक दुर्बलता आदि का पता लगाकर उनके भरण पोषण का प्रबन्ध करे। जिन लोगों का एक मात्र कार्य धर्मसाधना हो, उसे गुरु के समान मानकर पूजा करे तथा जिन लोगों ने पहले किए गए वैर को क्षमायाचना कर शान्त करा दिया हो, उनका अपने पुत्रों के समान भरण पोषण करे किन्तु जो अविवेकी हों तथा घमण्ड में चूर होकर बहुत बढ़-चढ़कर चलें अथवा दूसरों को कुछ न समझें, उन लोगों को अपने देश से निकाल दे। जो अधिकारी अथवा प्रजाजन स्वभाव से कोमल हों, नियमों का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करें, अपने कर्त्तव्यों आदि को उपयुक्त समय के भीतर कर दें, उन लोगों को समझने तथा पुरस्कार आदि देने में वह अत्यन्त तीव्र हो। राजा को प्रजा का अत्यधिक प्यारा होना चाहिए। वह सब परिस्थितियों में शान्त रहे और शत्रुओं का उन्मूलन करता हुआ अपनी कीर्ति को बढ़ाता रहे।

राजा के उपर्युक्त सभी गुणों को देखने से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने जैनधर्म के प्रायः सभी विशिष्ट सिद्धांतों को, जो कि श्रावक पालन कर सकता है, राजाओं के जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है। इन सभी सिद्धान्तों में प्रेम, मैत्री, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, मृदुभाषण, शील, प्रबुद्धता, त्रिवर्ग का अविरोध रूप से सेवन, पुण्यार्जन, दान——आहारदान, औषधिदान, अभयदान, ज्ञानदान, आश्रयदान, बड़ों के प्रति सम्मान, पुरस्कार देना, कुल की रक्षा, आत्मानुपालन, दरिद्रता निवारण, कृषि को समुन्नत करना, श्रमिकों की रक्षा करना आदि प्रमुख है। इनका पालन करने से राजा और प्रजा का व्यक्तित्व परिष्कृत होता है और जीवन में सुख-शांति होती है, सब प्रकार के उपद्रव दूर होते हैं और समृद्धि वृद्धिंगत होती है।

1.12 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-.....के बल पर ही गाँधीजी ने भारत को स्वतंत्र कराने में सफलता प्राप्त की।

(क) हिंसा ☐
(ख) अहिंसा ☐
(ग) वन संरक्षण ☐

प्रश्न 2-"देशयामि समीचीनं ..... यो धरत्युत्तमे सुखे" यह गाथा किस ग्रंथ से ली गई है ?

(क) वसुनन्दि श्रावकाचार ☐
(ख) मूलाचार ☐
(ग) रत्नकरण्ड श्रावकाचार ☐

प्रश्न 3-"पद्मचरित" ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्यश्री रविषेण जी ☐
(ख) आचार्यश्री जिनसेन स्वामी ☐
(ग) आचार्यश्री उमास्वामी ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-धर्म, अर्थ, काम इनको परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 2-राजा के प्रमुख कर्त्तव्यों को बताइए ?

प्रश्न 3-राजा के "समञ्जसत्व धर्म पालन" कर्त्तव्य को समझाइये ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-वरांगचरित में प्रतिपादित राजा के गुणों को बताइए ?

पाठ-2—जैन न्याय में वाद की मौखिक तथा लिखित परम्परा

2.1 वाद का स्वरूप (नैयायिकों का मत)–जब से मनुष्य में विचारशक्ति का विकास हुआ तभी से पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में विचारधाराओं का संघर्ष भी हुआ है। इसी से वाद प्रवृत्ति का जन्म हुआ। नैयायिक इस वाद–वृत्ति को 'कथा' का नाम देकर इसके तीन भेद करते हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। इनके अनुसार 'वाद', वीतराग कथा तथा 'जल्प' और 'वितण्डा' विजीगीषु कथाएं हैं।

वाद—जब तत्त्व निर्णय के उद्देश्य से समानधर्मियों या गुरु-शिष्यों में पक्ष-प्रतिपक्ष को लेकर चर्चा चलती है, तब यह चर्चा 'वाद' कहलाती है। इसमें स्वपक्ष का स्थापन प्रमाण से, प्रतिपक्ष का निराकरण तर्क से परन्तु सिद्धान्त से अविरुद्ध होता है और यह अनुमान के पांच अवयवों से सम्पन्न होती है।

जल्प—तत्त्व संरक्षण के ध्येय से होने वाला शास्त्रार्थ 'जल्प' कहलाता है। इसमें प्रमाण और तर्क के अतिरिक्त छल, जाति, निग्रह—स्थान जैसे असत् उपायों का आलम्बन लिया जाता है।

वितण्डा—जब यही जल्प अपने पक्ष की स्थापना न करके केवल प्रतिपक्ष का खण्डन करता है तो 'वितण्डा' बन जाता है।

जैनमत—जैन न्याय में वाद को वीतराग कथा नहीं, अपितु विजिगीषु कथा माना गया है। आचार्य अकलंकदेव ने स्पष्ट रूप से जिगीषापूर्वक वाद की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। आचार्य विद्यानन्द आदि भी इसी मत का समर्थन करते हैं। मार्तण्डकार नैयायिकों द्वारा निर्धारित वाद लक्षण का विवेचन करते हुए कहते हैं जब 'सिद्धान्ताविरुद्ध' से अपसिद्धान्त तथा 'पञ्चावयवोपपन्नः' से न्यून, अधिक और पांच हेत्वाभास, इन आठ निग्रह स्थानों का वाद लक्षण से ग्रहण होता है, तो वाद भी जल्प और वितण्डा की भांति तत्त्व संरक्षण के उद्देश्य से होने वाली विजिगीषु कथा ही हो सकती है, वीतराग कथा नहीं।

मार्तण्डकार अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—एक अधिकरण में रहने वाले परस्पर विरोधी और एक काल में होने वाले अनिश्चित वस्तु धर्म पक्ष-प्रतिपक्ष होते हैं। इस प्रकार के पक्ष–प्रतिपक्ष का परिग्रह करके जल्प और वितण्डा में प्रमाण और तर्क से स्थापन और निराकरण संभव नहीं है; अतः वाद ही तत्त्व संरक्षण कर सकता है। यहां तत्त्व संरक्षण से तात्पर्य है कि न्याय के बल से समस्त बाधक तत्त्वों का निराकरण कर देना। जल्प और वितण्डा से समस्त बाधक तत्त्व निराकृत नहीं हो सकते क्योंकि छल आदि असत् उपायों के प्रयोग से संशय-विपर्यय उत्पन्न हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि छल आदि के प्रयोग से प्रतिवादी को पराजय की ओर प्रवृत्त करते हुए वादी के प्रति प्राश्निक संदेह करते हैं—'इसका तत्त्व संरक्षण हुआ या नहीं, शायद नहीं ही हुआ।' इस प्रकार जय-पराजय की प्रवृत्ति मात्र होने के कारण जल्प और वितण्डा तत्त्व संरक्षण की प्रवृत्ति से रहित है। अकलंकदेव ने भी छलादि असत् उपायों का प्रयोग सर्वथा परिवर्जनीय माना है इसीलिए सम्भवतः वे वाद और जल्प का एक ही अर्थ में ऐच्छिक प्रयोग करते हैं और वितण्डा को 'वादाभास' कहते है परन्तु वादिराज, मार्तण्डकार आदि वितण्डा के साथ-साथ जल्प को भी तत्त्व संरक्षण में अनुपयोगी बताकर उनका पूर्णतः बहिष्कार करते हैं।

इस प्रकार विजिगीषु के विषय और स्वाभिप्रेत अर्थव्यवस्थापन फल वाले वाद को अकलंकदेव ने चार अङ्गों से युक्त माना है। अनन्तवीर्य ने वे चार अङ्ग इस प्रकार कहे हैं—सभापति, प्राश्निक, वादी और प्रतिवादी। प्रमेयकमलमार्तण्ड में इन अङ्गों की कार्य सीमा एवं उपयोगिता का भी उल्लेख है। उनके अनुसार—'सभापति' योग्य, समर्थ मन्त्रणा—कुशल तथा पक्षपात रहित होना चाहिए। 'प्राश्निक' पक्षपात में न पड़कर वादी या प्रतिवादी किसी से भी प्रश्न कर सकते हैं। ये असद्वाद का निषेध करते हैं और लगाम की भांति वादी या प्रतिवादी को इधर—उधर न जाने देकर ठीक मार्ग

पर रखते हैं तथा ये सभापति वाद व्यवस्था के नियामक हैं। प्रमाण तथा प्रमाणाभास की ज्ञान सामर्थ्य से सम्पन्न वादी और प्रतिवादी के बिना तो वाद की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। ये चारों अंग वाद के लिए अत्यावश्यक हैं, इनमें से एक भी अङ्ग के कम होने पर वाद व्यवस्था की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि नैयायिकों द्वारा स्वीकृत वाद के गुरू और शिष्य ये ही दो अङ्ग माने जाएं तो सभापति और प्राश्निकों के बिना वाद का नियमन कौन करेगा ? अतः वाद चतुरङ्ग ही है।

2.2 जय-पराजय व्यवस्था-

वाद को विजिगीषु कथा माना गया है। इसी से स्पष्ट है कि वादी प्रतिवादी में एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से इसका संयोजन होता था। जब नैयायिकों ने जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रह-स्थान जैसे असत् उपाय का ग्रहण किया तो जय-पराजय व्यवस्था उन्हीं असत् उपायों के आधार पर बनी। वे असत-उपाय यहां वर्णित हैं—

(1) छल—वादी के वचन से भिन्न अर्थ की कल्पना करके उसके वचन में दोष देना 'छल' है। जो तीन प्रकार का माना गया है-वाक्छल, सामान्य-छल और उपचार-छल।

(क) वाक्छल—सामान्येन कथित अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना वाक्छल कहलाती है। जैसे 'आद्यो वै वैधवेयोयं वर्तते नवकम्बलः' ऐसा कहे जाने पर प्रतिवादी 'नव' के असम्भाव्यमान अन्य अर्थ "नौ' की कल्पना करके कहे-इसके नौ कम्बल कैसे हैं ? जबकि वक्ता का अभिप्राय है—इसका कम्बल नया है।

(ख) सामान्य-छल—अतिसामान्य योग से सम्भव अर्थ की असम्भव अर्थ कल्पना करना 'सामान्य छल है। जैसे—विद्याचरणसम्पत्तिर्ब्राह्मणे सम्भवेत्' ऐसा कहने पर प्रतिवादी अर्थ-विकल्पोपपत्ति द्वारा असंभूत अर्थकल्पना करके कहे—यदि ब्राह्मण में विद्या आचरणरूप सम्पत्ति हो सकती है तो व्रात्य में भी हो सकती है क्योंकि व्रात्य भी जाति से तो ब्राह्मण ही है। यहां 'ब्राह्मणत्व' अर्थ अतिसामान्य है।

(ग) उपचार-छल—स्वभावविकल्पनिर्देशक वाक्य में अर्थ की सत्ता का निषेध करना 'उपचार छल' कहलाता है। जैसे—मञ्चाः क्रोशन्ति ऐसा कहने पर प्रतिवादी अभिप्रेतार्थ की सत्ता का निषेध करके शब्द के उपचार से कहे—मञ्च नहीं, अपितु मञ्चस्थ पुरुष रो रहे हैं।

(2) जाति—साधर्म्य-वैधर्म्य से जो प्रत्यवस्थान (दूषण) दिया जाता है, वह 'जाति' कहलाता है। यह जाति वादी द्वारा स्थापना हेतु के उपस्थित किए जाने पर प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध के लिए प्रयुक्त होती है। यह चौबीस प्रकार की मानी गई है—

1. साधर्म्यसम, 2. वैधर्म्यसम, 3. उत्कर्षसम, 4. अपकर्षसम, 5.वर्ण्यसम, 6.अवर्ण्यसम, 7. विकल्पसम, 8. साध्यसम, 9. प्राप्तिसम, 10. अप्राप्तिसम, 11. प्रसङ्गसम 12. प्रतिदृष्टान्तसम, 13, अनुत्पत्तिसम, 14. संशयसम, 15.प्रकरणसम, 16. हेतुसम, 17 अर्थापत्तिसम, 18.अविशेषसम, 19. उपपत्तिसम, 20. उपलब्धिसम, 21. अनुपलब्धिसम 22. नित्यसम, 23 अनित्यसम तथा 24.कार्यसम।

(3) निग्रह स्थान—विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति 'निग्रह स्थान' माने गए हैं। विपरीत या निन्दित प्रतिपादन 'विप्रतिपत्ति' होता है। 'अप्रतिपत्ति' उसे कहते हैं कि जातिवादी आवश्यक विषय में भी आरम्भ न करे, पक्ष को जानते हुए उसकी स्थापना न करे या प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष का खण्डन न करे और वादी द्वारा निराकृत पक्ष का परिहार न करे। विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिरूप निग्रह (पराजय) स्थान बाईस कहे गए हैं—

1. प्रतिज्ञाहानि, 2. प्रतिज्ञान्तर, 3. प्रतिज्ञाविरोध, 4. प्रतिज्ञासंन्यास, 5. हेत्वन्तर, 6. अर्थान्तर, 7. निरर्थक, 8. अविज्ञातार्थ, 9.अपार्थक, 10. अप्राप्तकाल, 11. न्यून, 12. अधिक, 13. पुनरुक्त, 14.अननुभाषण, 15. अज्ञान, 16. अप्रतिभा, 17. विक्षेप, 18. मतानुज्ञा, 19. पर्यनुयोज्योपेक्षण, 20. निरनुयोज्यानुयोग, 21. अपसिद्धान्त तथा

22, हेत्वाभास। इनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा और पर्यनुयोज्योपेक्षण अप्रतिपत्तिरूप निग्रह स्थान हैं, शेष विप्रतिपत्तिरूप। उपर्युक्त निग्रह स्थानों में क्रमशः बताया गया है कि यदि कोई वादी प्रतिज्ञा की हानि करे, दूसरी प्रतिज्ञा करे; हेतु विरोधी प्रतिज्ञा करे, प्रतिज्ञा को छोड़ दे, एक हेतु के दूषित होने पर उसमें कोई विशेषण जोड़ दे, असम्बद्ध अर्थ कहे, अवाचक प्रयोग करे, इस प्रकार बोले कि तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी या परिषद् न समझ सके, परस्पर साकांक्षा रहित अर्थ कहे, पञ्चावयवों का क्रम भङ्ग करे, अवयव न्यून या अधिक कहे, पुनरुक्ति हो, ज्ञातवाक्यार्थ का उच्चारण न करे, समझ न सके, उत्तर न दे सके, अन्य कार्य में आसक्ति दिखाकर वाद को रोके, प्रतिवादी द्वारा दिए गए दूषण को स्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहस्थान प्राप्त का निग्रह न करे, अनिगृहीत को निगृहीत कहे, सिद्धान्त विरुद्ध बोले और हेत्वाभासों का प्रयोग करे तो उसकी पराजय होगी।

2.3 बौद्धोक्त निग्रह स्थान–

बौद्ध दर्शन में जय-पराजय व्यवस्था के लिए स्वीकृत छल, जाति और निग्रह स्थान का निराकरण करते हुए वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रह स्थान माने गए हैं। वहां असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन के विविध व्याख्यान करके कहा है–त्रिरूप हेतु का वचन साधनाङ्ग है। उसका कथन न करना, चुप रहना या जो कुछ बोलना 'असाधनाङ्ग' है। प्रतिज्ञा निगमन आदि साधन के अंग नहीं हैं, उनका कथन असाधनांग है। साधर्म्य हेतु के वचन में वैधर्म्य का प्रतिपादन या वैधर्म्य हेतु के वचन में साधर्म्य का 'असाधनांग' ही है। प्रसज्यप्रतिषेध में दोष का उद्भावन न करना अदोषोद्भावन' है।

2.4 जैन मत–

जैन न्याय परम्परा में सभी नैयायिकों ने छल, जाति, निग्रह स्थान जैसे असत् उपायों का निषेध किया है। वे सभी इन्हें स्वपक्षसिद्धि में बाधक मानते हुए कहते हैं——पक्ष में वादी-प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति से प्रवृत्ति होने पर तथा उसके सिद्ध होने पर ही एक की जय और अन्य की पराजय होती है। मार्तण्डकार भी स्वपक्षसिद्धि से जय-पराजय व्यवस्था स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार वाक्छल से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करके या सामान्य छल से असम्भूत अर्थ की कल्पना करके या उपाचार छल से अभिप्रेतार्थ का निषेध करके जय-पराजय नहीं हो सकती। इसी प्रकार अकलंक वादिराज आदि जातियों को मिथ्या उत्तर कहते हैं। मिथ्या उत्तर जैनन्याय में अनन्त माने गए हैं अतः जातियों की संख्या चौबीस उचित नहीं है परन्तु मार्तण्डकार जातियों को दूषणाभास मानते हैं। उनके अनुसार यदि जातियों को उपयुक्त माना जाए तो साधनाभास में साधर्म्य आदि से होने वाला प्रत्यवस्थान भी जाति कहलाएगा जबकि साधनाभास में जाति प्रयोग का उद्योत कर स्वयं ही निषेध करते हैं। साधनाभास की प्रतिपत्ति में जातियों का प्रयोग फलहीन ही होता है इस प्रकार ये जातियां ऐकान्तिक पराजय कराने वाली हैं इसलिए स्वपक्ष की सिद्धि-असिद्धि से ही जय-पराजय व्यवस्था उचित है।

छल जाति के अतिरिक्त निग्रह स्थान भी जैन न्याय में नहीं माने गए क्योंकि इन निग्रह स्थानों के अन्तर्गत प्रतिपादित नियमों से दुष्टसाधन साधनवादी भी जय लाभ कर सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है नैयायिकों के अनुसार शास्त्रार्थ के नियमों का बारीकी से पालन करने, न करने का प्रदर्शन ही जय और पराजय का आधार हुआ। बौद्ध भी इस प्रपञ्च से अछूते नहीं रहे। जबकि अकलंक ने तत्त्वसंरक्षण के ध्येय को सम्मुख रखते हुए स्वपक्षसिद्धि को जय-पराजय का आधार माना। अन्य जैन नैयायिकों ने भी इन्हीं का अनुसरण किया। मार्तण्डकार इस मत को तार्किक पुट देते हुए कहते हैं——'यथावत् प्रतिपन्न स्वरूप वाले प्रमाण से जय और अप्रतिपन्न स्वरूप वाले प्रमाणाभास से पराजय का निबन्धन होता है। तात्पर्य यह है कि वादी प्रमाण और प्रमाणाभास के विज्ञान स्वरूप से स्वपक्षसिद्धि के लिए

उपन्यस्त सम्यक् प्रमाण में और उनके अविज्ञात स्वरूप से प्रमाणाभास में प्रवृत्त होता है। उनके अनिश्चित स्वरूप से प्रतिवादी दोषरूप से सम्यक् प्रमाण में भी प्रमाणाभास का उद्भावन कर सकता है एवं वादी द्वारा प्रयुक्त प्रमाण प्रतिवादी से दोषरूप में उद्भावित होने पर परिहृत दोष वाला होता है, जिससे वादी का साधन और प्रतिवादी का दूषण होता है और वादी द्वारा प्रयुक्त प्रमाणाभास प्रतिवादी से दोषरूप में उद्भावित होने पर अपरिहृत दोष वाला होता है, जिससे वादी का साधनाभास और प्रतिवादी का भूषण होता है।

अकलंक जय-पराजय व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—स्वपक्षसिद्धि करने वाला यदि कुछ अधिक बोल जाये तो कोई हानि नहीं। आचार्य विद्यानन्द के अनुसार वादी के द्वारा कहे गए सत्य हेतु में प्रतिवादी का चुप रह जाना अथवा सत्य हेतु दोषों का प्रसंग न उठाना ही वादी के पक्ष की सिद्धि है, अन्य प्रकार नहीं। मार्तण्डकार इसी प्रसंग को तार्किक शैली में कहते हैं—पञ्चावयव प्रयोग में कमी होने पर भी साध्य की सिद्धि हो सकती है, दो हेतु या दो दृष्टांत अर्थात् अधिक अवयव होने पर भी। हां, यदि प्रतिवादी प्रतिपक्ष स्थापित करते समय सिद्धान्त विरुद्ध बोले तो उसकी पराजय होगी।

इसके अतिरिक्त वादी यदि विरुद्ध हेतु का उद्भावन करता है तो प्रतिवादी का पक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है और वादी की पराजय हो जाती है। असिद्धादि हेत्वाभासों के उद्भावन करने पर प्रतिवादी को अपने पक्ष की सिद्धि करना आवश्यक है।

इस प्रकार छल आदि असत् उपायों के निबन्धन से ग्रहाग्रह को छोड़कर विचारक भाव को लेकर निर्मल मन से प्रामाणिक स्वयं ही प्रमाण और उसके स्वरूपाभासों से जय-पराजय का निश्चय कर सकते हैं।

2.5 निष्कर्ष-

जैन परम्परा में नैयायिकों की भांति वाद को वीतराग कथा नहीं अपितु विजिगीषु कथा माना गया है। यह वाद सभापति, प्राश्निक, वादी और प्रतिवादी–चार अंगों से युक्त माना गया है। विजिगीषु कथा नाम होने से स्पष्ट है कि वादी-प्रतिवादी एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से वाद का संयोजन कराते थे। नैयायिकों ने इस जय-पराजय के लिए छल, जाति, निग्रह स्थान जैसे असत् उपायों को आधार माना। बौद्धों ने नैयायिकाभिमत छल, जाति और निग्रह स्थानों का निराकरण तो किया परन्तु वादी के लिए असाधनांगवचन और प्रतिवादी के लिए दो नये निग्रह स्थान का निरूपण कर दिया। जैन न्याय परम्परा में नैयायिकोक्त और बौद्धोक्त सभी असत् उपायों को अनावश्यक माना गया। जैनों ने स्वपक्षसिद्धि से ही जय–पराजय व्यवस्था का औचित्य माना। इसी प्रसंग में लिखित शास्त्रार्थ का उल्लेख भी हुआ है, जिसमें आदान-प्रदान किए जाने वाले लेख-प्रतिलेखों को 'पत्र' की संज्ञा दी गई है। पत्र को प्रकृति प्रत्यय गुप्त रखकर गूढ़ बनाने का निर्देश किया गया है। पत्र में प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव प्रयोग किए जाते थे। इस प्रसंग में नैयायिक-वैशेषिकों के पत्र का उल्लेख करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड ने उसका निराकरण भी किया है। इस प्रकार जैन न्याय में मौखिक और लिखित दोनों वाद व्यवस्थाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

2.6 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-छल कितने प्रकार का माना गया है ?

(क) दो ☐
(ख) तीन ☐
(ग) चार ☐

प्रश्न 2-उत्कर्षसम यह किसका भेद है ?

(क) जाति ☐

(ख) छल ☐

(ग) निग्रह स्थान ☐

प्रश्न 3-"स्वपक्षसिद्धि करने वाला यदि कुछ अधिक बोल जाए तो कोई हानि नहीं" यह किसने कहा ?

(क) निकलंक ☐

(ख) आचार्य अकलंक ☐

(ग) आचार्य विद्यानन्द ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-वाद का स्वरूप क्या है, बताइए ?

प्रश्न 2-जाति कितने प्रकार की मानी गई है ? नाम बताइए ?

प्रश्न 3-जल्प किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जैनमत के अनुसार वाद का क्या स्वरूप है ? बताइए ?

पाठ-3 – (हरिवंशपुराण) महाभारतकालीन राजनीति व्यवस्था

3.1 विक्रम सं0 840 में लिखा गया हरिवंशपुराण एक आकर ग्रंथ है, इसमें अन्य तत्त्वों के साथ राजनीति का भी पर्याप्त निर्देश मिलता है, जो इस प्रकार है—

3.2 देश–

हरिवंशपुराण के अनुसार देश के जो लक्षण प्राप्त होते हैं उनमें उर्वरा और शालि–ब्रीहि सब प्रकार के धान्यों के समूह से सफलता को धारण करने वाली भूमि, सफल वाणिज्य, व्यापारियों के क्रय–विक्रय की बहुलता तथा उत्तम गायें तथा भैंसों का होना प्रमुख है। वही देश उत्तम माना जा सकता है जो सब प्रकार के उपसर्ग (विघ्न बाधाओं) से रहित हो तथा जहां प्रजा सुखपूर्वक निवास करे। देश की सीमा के अन्दर खेट, कर्वट, मटम्ब, पुटभेदन, द्रोणमुख, खानें, खेत, ग्राम, घोष,पुर (नगर), पर्वत, नदी, वन, जिनमन्दिर (जिनगृह), व्रज तथा सरोवर सभी आते थे।

3.3 राजा और उसका महत्व–

जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियों और उत्तम रत्नों की खान है उसी प्रकार राजा भी इस लोक में अनर्घ्य वस्तुओं की खान है। वह प्रभु है और पृथ्वी को वश में करने वाला है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतने वाला तथा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग का प्रवर्त्तक है। धर्म, अर्थ और कामविषयक कोई भी वस्तु उसे दुर्लभ नहीं है। मनुष्यों की रक्षा करने के कारण नृप, पृथ्वी की रक्षा करने के कारण भूप और प्रजा को अनुरञ्जित करने के कारण राजा कहते हैं।

3.4 उत्तम राजा के गुण–

उत्तम राजा के राज्य में प्रजा का सब समय आनन्द से बीतता है। घर के उपयोग के लिये साधारण रीति से तैयार किया हुआ थोड़ा सा अन्न भी दान के समय धर्मात्माओं के भोजन में आने से सायंकाल तक भी समाप्त नहीं होता है। जिस प्रकार सूर्य प्रकृष्ट सन्ताप का कारण होता है उसी प्रकार राजा भी उत्कृष्ट प्रभाव का कारण (प्रताप प्रभवः) होता है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से दिक्चक्र को व्याप्त कर लेता है (कराक्रांतदिक्चक्रः) उसी प्रकार राजा भी अपने कर (टैक्स) से दिक्चक्र को व्याप्त करता है। जिस प्रकार सूर्य उत्तम आकाश सहित होता है उसी प्रकार राजा भी उत्तम सुख से सहित (सुखी) होता है। राजा को धर्मशास्त्र का अर्थ करने में कुशल, कला और गुण से विशिष्ट, दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह करने में समर्थ और प्रजा का अनुपालक होना चाहिये। उत्तम राजा के विद्यमान होने पर प्रजा शत्रुओं का भय छोड़ देती है। नीतिवेत्ता राजा पृथ्वी को स्त्री के समान वश में कर लेता है। न्यायमार्ग का वेत्ता होने के कारण किसी विषय में विसंवाद होने पर लोग उसके पास न्याय के लिये आते हैं। राजा की अध्यक्षता में विद्वानों के सामने लोग जय अथवा पराजय को प्राप्त करते हैं। न्याय द्वारा वाद के समाप्त होने पर वेदानुसारी लोगों की प्रवृत्ति सन्देहरहित एवं सब लोगों का उपकार करने वाली हो जाती है। राजा धर्म, अर्थ और काम में परस्पर बाधा नहीं पहुंचाता है।

3.5 राजाओं के भेद–

'हरिवंश पुराण' में राजाओं के कुलकर, चक्रवर्ती, विद्याधर, भूचर (भूमिगोचरी) तथा अर्द्धचक्री भेद प्राप्त होते हैं।

3.6 मन्त्री–

गुप्तचर रूपी नेत्रों से युक्त राजा के मन्त्री ही निर्मल चक्षु हैं अतः मन्त्रियों का अत्यधिक महत्व है। मन्त्री अत्यन्त निकटवर्ती आपत्तियों को दूर करते हैं। मन्त्रियों को मन्त्र की यत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए; क्योंकि छह कानों में पहुंचा

हुआ मन्त्र फूट जाता है। मन्त्रियों के विशेषणों में एक विशेषण मंत्रमार्गविद् आता है अर्थात् मंत्री को मंत्रमार्ग का ज्ञाता होना चाहिए। भरत और बाहुबली दोनों समान बलशाली थे। उनका यदि युद्ध होता तो जनपद का क्षय होता अतः 'हरिवंशपुराण' के 11 वें सर्ग में कहा गया है कि दोनों ओर के मन्त्रियों ने परस्पर सलाह कर कहा कि देशवासियों का क्षय न हो इसलिये दोनों में धर्मयुद्ध होना चाहिये। भरत और बाहुबली दोनों ने मन्त्रियों की बात मान ली। मन्त्री के लिए सचिव शब्द का भी प्रयोग हुआ है। अश्वग्रीव राजा के हरिश्मश्रु नाम का एक सचिव था। उसने तर्कशास्त्र रूपी महासागर को पार कर लिया था। मन्त्रियों की संख्या कितनी होना चाहिये, इसका यहां कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। राजा श्रीधर्मा के वृहस्पति, बलि, नमुचि और प्रहलाद ये चार मन्त्री थे। इससे यह अनुमान होता है कि सामान्यतः राजा के चार ही मन्त्री हुआ करते थे।

3.7 अन्य अधिकारी–

मन्त्रियों के अतिरिक्त अन्य अधिकारियों में पुरोहित, सामन्त, महासमान्त, प्रतिहारी, द्वारपाल, युवराज तथा महामंत्री के नाम 'हरिवंशपुराण' में आए हैं। पुरोहित राजा को सलाह देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता था। जब सुदर्शनचक्र ने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया तब भरत ने संदेहयुक्त हो बुद्धिसागर पुरोहित से पूछा कि समस्त भरतक्षेत्र को वश में कर लेने पर भी यह दिव्य चक्ररत्न अयोध्या में क्यों नहीं प्रवेश कर रहा है ? अब तो हमारे युद्ध के योग्य कोई नहीं है इस पर पुरोहित ने कहा——आपके जो महाबलवान् भाई हैं वे आपकी आज्ञा नहीं सुनते हैं। सामन्त और महासामन्तों का राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। अपने पति दक्ष प्रजापति से रुष्ट होकर इलादेवी महासामन्तों से घिरी होकर अपने ऐलेय पुत्र को ले दुर्गम स्थान में चली गईं और उसने वहां निवास का निश्चय किया। राजा अपने राज्यकाल में ही अपने किसी पुत्र को युवराज बनाकर उसका पट्टबन्ध करता था अथवा राज्यकार्य से विरत होने पर एक पुत्र को राजा और दूसरे को युवराज बनाता था।

3.8 मित्र–

समस्त लोग प्राणतुल्य सखा या मित्र के लिए मन का दुःख बाँटकर सुखी हो जाते हैं, यह जगत की रीति है। मित्र पर आपत्ति आने के समय मित्र दुःखी हो जाता है। मित्रमण्डल के प्रतापरहित हो अस्त हो जाने पर, उद्यमी मनुष्य भी उद्यमरहित हो जाते हैं। मित्रता दुष्ट मनुष्यों से नहीं करना चाहिये; क्योंकि दुष्ट मनुष्य से की गई मित्रता रागरहित होती है। सज्जनों से मैत्री करना चाहिये; क्योंकि सज्जन से की गई मैत्री उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

3.9 नगर–

'हरिवंशपुराण' में नगर रचना का जो रूप प्राप्त होता है उसमें प्राकार (कोट) परिखा (खाई), बहुभूमिक प्रासाद (अनेक खण्डों के भवन), बावड़ी (वापी), पुष्करिणी, दीर्घदीर्घिका (बड़ी-बड़ी बावड़ियां), सरोवर, ह्रद, विचित्र मणिकुट्टिम (रंग-बिरंगे फर्श), प्याऊ, सदावर्तरथ्यायें (सड़कें) प्राकार और तोरणों से युक्त बाग-बगीचे उत्तुंग जिनमंदिर, बड़े-बड़े धूलिकुट्टिम (महावप्र) तथा वनों के सद्भाव की विशेषतायें प्रमुख हैं। जो नगरी राजधानी होती थी उसमें सभी दिशा में राजा के परिवार के व्यक्तियों के महल होते थे। बीच में राजा का भवन बनाया जाता था। अन्तःपुर तथा पुत्र आदि के योग्य महलों की पंक्तियाँ राजा के भवन का आश्रय कर चारों ओर होती थीं।

3.10 अन्य निवासस्थान–

नगर के अतिरिक्त किन्हीं विशेष अवसरों पर राजा लोग पहाड़ी दुर्गों (गिरिदुर्ग) का आश्रय कर शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध उठ खड़े होते थे। ऐसी दशा में शत्रु को पकड़ना या वश में करना बहुत बड़ी सफलता मानी जाती थी क्योंकि यह

कठिन कार्य था। कभी-कभी कोई भूला-भटका राजा या राजकुमार गोष्ठों (ग्वालों की बस्तियों) की शरण लेता था। ग्वाल वधुयें उनकी भूख-प्यास तथा परिश्रम को दूर करने में सहायक होती थीं।

3.11 सेना और युद्ध–

'हरिवंशपुराण' में हाथी , घोड़ा, रथ, पैदल, सैनिक, बैल, गंधर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की सेनाओं का उल्लेख मिलता है। इसके 38 वें सर्ग में भगवान् नेमिनाथ के जन्मोत्सव के समय देव, अश्व, वृषभ, रथ, हाथी, गंधर्व और नर्तकी इस तरह सात प्रकार की सेना के आने का वर्णन प्राप्त होता है। सबसे पहले देवों की सेना थी, इसने सात कक्षाओं का विभाग किया था और गोल आकार बनाया था। यह स्वाभाविक पुरुषार्थ से युक्त थी और शस्त्र धारण किए हुए थी। इसके पश्चात् वेग में वायु को जीतने वाली घोड़ों की सेना थी। तदनन्तर बैलों की वह सेना चारों ओर खड़ी थी जो सुन्दर मुख, सुन्दर अण्डकोष, नयनकमल, मनोहर कन्दोल, पूँछ, शब्द, सुन्दर शरीर, सास्ना, स्वर्णमय खुर और सींगों से युक्त थी तथा चन्द्रमा के समान उसकी उज्जवल कान्ति थी। वृषभ सेना के बाद वलयाकार रथसेना सुशोभित थी। इसके पश्चात् विशालकाय हाथियों की सेना थी। हाथियों की सेना के बाद गन्धर्वों की सेना सुशोभित थी। इसने मधुर मूर्च्छना से कोमल वीणा, उत्कृष्ट बाँसुरी और ताल के शब्द से सातों प्रकार के स्वरों से संसार के मध्य भाग को पूर्ण कर दिया था। यह सेना देव, देवाङ्गनाओं से सुशोभित और सबको आनन्दित करने वाली थी। गन्धर्वों की सेना के बाद उत्कृष्ट नृत्य करने वाली नर्तकियों की सेना थी। प्रत्येक सेना में सात-सात कक्षायें थीं। प्रथम कक्षा में चौरासी हजार घोड़े, बैल आदि थे। दूसरी, तीसरी आदि कक्षाओं में ये क्रमशः दूने-दूने थे। जिनमें नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और नौ करोड़ पैदल सैनिक हों, उसे एक अक्षौहिणी सेना कहते हैं। जरासन्ध के पास इस प्रकार की अनेक अक्षौहिणी सेना थी।

3.12 शस्त्रयुद्ध के साथ-साथ धर्मयुद्ध के भी उल्लेख मिलते हैं–

यह युद्ध उसी स्थिति में होता था जब दो समान बल वाले राजाओं का विरोध हो। धर्मयुद्ध से तात्पर्य ऐसे युद्ध से है जिनमें दो राजा आपस में युद्ध करें किन्तु जिसमें सेना आदि की सहायता न ली जाय। इस प्रकार के युद्ध के तीन रूप प्राप्त होते हैं—(1) दृष्टियुद्ध (2) जलयुद्ध तथा (3) मल्लयुद्ध। भरत और बाहुबली में आरम्भ में यही तीन युद्ध हुए, जिनमें बाहुबली की विजय हुई। सेना का एक सेनापति होता था; जिसके लिए सेनानी और चमूनाथ शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। सेनापति का विधिपूर्वक अभिषेक होता था। युद्ध का कारण प्रायः कन्याप्राप्ति और दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना था। एक का अनेक के साथ युद्ध होना अन्यायपूर्ण माना जाता था अतः एक का एक के साथ युद्ध होने का प्रयास किया जाता था।

युद्ध के समय सेना की अनेक प्रकार से व्यूहरचना की जाती थी। इनमें से कतिपय व्यूहों का विवरण 'हरिवंश पुराण' में प्राप्त होता है।

3.13 चक्रव्यूह–

इसमें चक्राकार रचना की जाती थी। चक्र के एक हजार आरे होते थे। एक-एक आरे में एक-एक राजा स्थित था, एक एक राजा के सौ-सौ हाथी, दो-दो हजार रथ, पाँच-पाँच हजार घोड़े और सोलह-सोलह हजार पैदल सैनिक होते थे। चक्र की धारा के पास छह हजार राजा स्थित होते थे और उन राजाओं के हाथी, घोड़ा आदि का परिमाण पूर्वोक्त परिमाण से चौथाई भाग प्रमाण था। पाँच हजार राजाओं के साथ में प्रधान राजा उसके मध्य में स्थित होता था। कुल के मान को धारण करने वाले धीर वीर, पराक्रमी पचास-पचास राजा अपनी-अपनी सेना के साथ चक्रधारा की सन्धियों

पर अवस्थित होते थे। आरों के बीच-बीच के स्थान अपनी-अपनी विशिष्ट सेनाओं से युक्त राजाओं सहित होते थे। इसके अतिरिक्त व्यूह के बाहर भी अनेक राजा नाना प्रकार के व्यूह बनाकर स्थित होते थे।

3.14 गरुड़ व्यूह-

चक्रव्यूह को भेदने के लिए गरूड़ व्यूह की रचना की जाती थी। उदात्त, रण में शूरवीर तथा नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को धारण करने वाले पचास लाख योद्धा उस गरुड़ के मुख पर खड़े किए जाते थे। प्रधान राजा उसके मस्तक पर स्थित होते थे। मुख्य राजा के रथ की रक्षा करने के लिए अनेक राजा उनके पृष्ठरक्षक बनाए जाते थे। एक करोड़ रथों सहित एक राजा गरुड़ के पृष्ठ भाग पर स्थित होता था। उस राजा की पृष्ठरक्षा के लिए अनेक रणवीर राजा उपस्थित होते थे। बहुत बड़ी सेना के साथ एक राजा उस गरुड़ के दायें पंख पर स्थित होता था और उनकी अगल-बगल रक्षा के लिए चतुर शत्रुओं को मारने वाले सैकड़ों प्रसिद्ध राजा पच्चीस लाख रथों के साथ स्थित होते थे। गरुड़ के बायें पक्ष का आश्रय ले महाबली बहुत से योद्धा अथवा राजागण युद्ध के लिए खड़े होते थे। इन्हीं के समीप अनेक लाख रथों से युक्त शस्त्र और अस्त्रों में परिश्रम करने वाले राजा स्थित होते थे। इनके पीछे अनेक देशों के राजा साठ-साठ हजार रथ लेकर स्थित होते थे। इस प्रकार ये बलशाली राजा गरुड़ की रक्षा करते थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक राजा अपनी अपनी सेनाओं के साथ मुख्य राजा के कुल की रक्षा करते थे।

3.15 चतुरङ्ग सेना-

रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सेना को मिलाकर चतुरङ्ग सेना कहते थे। राजा रुधिर की चतुरङ्ग सेना में दो हजार रथ, छह हजार मदोन्मत्त हाथी, चौदह हजार घोड़े और एक लाख पैदल सैनिक थे। प्रत्येक राजा के रथ पर उसकी विशिष्ट ध्वजा होती थी; जिससे वह पहचाना जाता था। 'हरिवंशपुराण' में गरुड़ ध्वजा, वृषकेतु, ताल की ध्वजा, वानर की ध्वजा, हाथी की ध्वजा, सिंहों की ध्वजा, कदली की ध्वजा, हरिण की ध्वजा, शुशुमाराकृति ध्वजा, पुष्कर ध्वज, कलशध्वज इस प्रकार अनेक ध्वजाओं को उल्लेख मिलता है। रथ पर कुशल सारथी रहने पर शत्रुओं को भली-भाँति नष्ट किया जा सकता था।

3.16 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध-

दूत——एक राजा दूसरे राजा के पास सन्देश भेजने के लिए साम, दाम आदि नीति के साथ दूत भेजता था। प्रत्युत्तर स्वरूप भी राजा दूसरे राजा के पास दूत भेजा करते थे। जैसे——भरत के प्रति अपनी प्रतिकूलता प्रकट करने के लिए बाहुबली ने——'मैं आपके आधीन नहीं हूँ', यह कहकर दूत भेज दिए थे। दूत के लिए वचोहर अथवा वचनहर शब्द का प्रयोग होता था। कन्या के पिता अपनी कन्या के विवाह सम्बन्ध के लिए भी दूसरे राजा के पास दूत भेजते थे। दूत सावधानी से परिषद् अथवा राजसभा में प्रविष्ट हो नमस्कार कर बैठता था, अनन्तर अवसर जानकर अपनी बात राजा के समक्ष रखता था।

गुप्तचर——गुप्तचर राजाओं के नेत्र होते थे। उनके द्वारा वे गूढ़ से गूढ़ बातों का पता लगा लेते थे।

तीन शक्तियाँ——दूसरों पर विजय प्राप्त करने में तीन शक्तियाँ प्रमुख रूप से सहायक होती हैं—— (1) प्रभु शक्ति (2) मन्त्र शक्ति (3) प्रोत्साह शक्ति।

3.17 नीति विधान-

'हरिवंशपुराण' में साम, दाम आदि नीतियों का निर्देश किया गया है। जिसमें अपना और दूसरे का समय सुख से व्यतीत हो वही अवस्था प्रशंसनीय मानी जाती है। जो दैव और काल के बल से युक्त हो, देव जिसकी रक्षा कर उसे सोते

हुये सिंह के समान बतलाया है। ऐसे व्यक्ति से युद्ध करना खतरे से खाली नहीं है। साम स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों के लिए शान्ति का कारण होता है अतः साम का ही प्रयोग करना चाहिए। जिस प्रकार अपनी सेना में कुशल योद्धा हों उसी प्रकार प्रतिपक्षी की सेना में भी कुशल योद्धा हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध में यदि एक भी स्वजन की मृत्यु होती है तो जैसे वह शत्रु के लिए दु:खदाई होगी उसी प्रकार अपने लिये भी दु:खदाई हो सकती है अतः सबकी भलाई के लिये साम ही प्रशंसनीय उपाय है इसलिए अहङ्कार छोड़कर साम के लिये दूत भेजना चाहिये। साम के द्वारा भी यदि शत्रु शांत नहीं होता है तो फिर उसके अनुरूप कार्य कर सकते हैं।

जहां तक दण्डनीति का सम्बन्ध है, सबसे पहले कुलकरों द्वारा स्थापित हाकार, माकार और धिक्कार नीति के दर्शन होते हैं। यदि कोई स्वजन या परजन कालदोष से मर्यादा का लङ्घन करने की इच्छा करता था तो उसके साथ दोषों के अनुरूप उक्त तीन नीतियों का प्रयोग किया जाता था। तीन नीतियों से नियन्त्रण को प्राप्त समस्त मनुष्य इस भय से तृप्त रहते थे कि हमारा कोई दोष दृष्टि में न आ जाये और इसी भय से वे दोषों से दूर रहते थे। इस प्रकार की नीति को अपनाने के कारण ये राजा प्रजा के पितातुल्य माने जाते थे। बाद में प्रजा की मनोवृत्ति बदलने के कारण अपराधों में बढ़ोत्तरी होती गई, फलतः दण्डविधान भी कठोर बना। दूसरे के धन अपहरण करने की तीन सजायें थीं—

(1) सब धन छीन लेना।

(2) गोबर खिलाना।

(3) मल्लों के मुक्कों से पिटवाना।

एक राजा दूसरे राजा को दण्डस्वरूप बन्धनागार (कारागृह) में बन्दी रखता था, जिससे छुटकारे का उसके स्वजन प्रयत्न करते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी पशु के अङ्ग का छेदन करता था तो राजा उस व्यक्ति को मारने की आज्ञा देने में संकोच नहीं करता था। परस्त्री का अपहरण करने वाले की सजा हाथ-पाँव काटकर भयङ्कर शारीरिक दण्ड देने की थी।

3.18 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-चक्रव्यूह के चक्र में कितने आरे होते थे ?

(क) दस हजार ☐ (ख) एक हजार ☐ (ग) चार हजार ☐

प्रश्न 2-रथ, घोड़े, हाथी और ..... को मिलाकर चतुरङ्ग सेना कहते थे।

(क) गरूड़ ध्वजा ☐ (ख) पैदल सेना ☐ (ग) सिंहों की ध्वजा ☐

प्रश्न 3-दूसरों पर विजय प्राप्त करने में कितनी शक्तियाँ प्रमुख रूप से सहायक होती है।

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) तीन ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-गरुड़ व्यूह की रचना क्यों की जाती थी ? संक्षेप में समझाइए ?

प्रश्न 2-दूसरे के धन अपहरण करने की कितनी सजाएँ मिलती थीं और कौन सी, बताइए ?

प्रश्न 3-गुप्तचर कौन होते थे और उनका क्या काम रहता था ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-उत्तम राजा के गुण बताइए ?

पाठ-4 – जैनधर्म की प्राचीनता एवं स्वतन्त्रता के विषय में विभिन्न न्यायालयों के निर्णय

4.1 जैनधर्म की प्राचीनता और स्वतंत्रता के विषय में समय-समय पर अदालतों में पेश किए गए देश की उच्चतम एवं प्रदेशों की उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों ने निष्पक्ष होकर जैनधर्म के बारे में जो अपने सटीक निर्णय प्रस्तुत किए थे उनकी संक्षिप्त जानकारी यहाँ दी जा रही है—

1927–मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा, 1927 मद्रास 228 मुकदमे के निर्णय में 'जैनधर्म को स्वतंत्र' प्राचीन व ईसा से हजारों वर्ष पूर्व का माना।'

1939–बम्बई उच्च न्यायालय ने बम्बई 377 मुकदमे के निर्णय में कहा कि 'जैनधर्म वेदों को स्वीकार नहीं करता है, श्राद्धों को नहीं मानता है व अनुसंधान बताते हैं कि भारत में जैनधर्म ब्राह्मण धर्म से पहले था।'

बम्बई सरकार ने 19 अगस्त, 1948 की अपनी अधिसूचना में इस तथ्य को स्वीकार किया कि 'यद्यपि जैनों पर हिन्दू लॉ लागू है परन्तु जैनों को हिन्दुओं के रूप में वर्णित नहीं किया जा सकता।

1951–बम्बई हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश एम. सी. छगला और न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर ने याचिका 91/1951 पर यह निर्णय दिया कि 'हरिजनों को जैनों के मंदिरों में प्रवेश करने का कोई अधिकर नहीं है क्योंकि वे हिन्दू मंदिर नहीं हैं। यह विदित है कि जैन हिन्दुओं से भिन्न मतावलम्बी हैं।'

1954–उच्चतम न्यायालय ने 1954 /282 के निर्णय में माना कि 'भारत में जैनधर्म व बौद्ध अपनी पहचान रखते हैं व वैदिक धर्म से भिन्न हैं।'

1958–उच्चतम न्यायालय ने केरल शिक्षा बिल मामले में कहा कि 'जैन समाज अल्पसंख्यकता प्राप्त करने के लिए उपयुक्त हैं।'

1963–उच्चतम न्यायालय ने 643 (50/ 101) के निर्णय में कहा था हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई व जैनों में ब्राह्मण, बनिया व कायस्थ समुदाय के अलावा सभी समुदायों को सामाजिक व शैक्षणिक रूप से पिछड़े माना गया है।

1968-कलकत्ता उच्च न्यायालय ने 1968 कलकत्ता 74 के निर्णय में कहा है कि जैन हिन्दू नहीं हैं केवल उनके फैसले हिन्दू लॉ के अनुसार किए जाते हैं।

1968–कलकत्ता उच्च न्यायालय ने 74 (14) के निर्णय में 'जैनों को हिन्दू नहीं माना।'

1975–उच्चतम न्यायालय ने 1975 (96) के निर्णय में जैनों को दिल्ली में अपने शिक्षण संस्थानों का प्रबंधन करने का निर्णय दिया था।

1976–दिल्ली उच्च न्यायालय ने 1976 दिल्ली 207 के निर्णय में कहा था संविधान का अनुच्छेद 25-जैनों को स्वतंत्र रूप से मानता है जो कि सर्वोच्च नियम है।

1993–उच्चतम न्यायालय ने बाबरी मस्जिद मुकदमे के निर्णय में (1993, 1954) जैनधर्म को अन्य अल्पसंख्यक धर्म की तरह हिन्दूधर्म से भिन्न माना था।

2003–उच्चतम न्यायालय ने 2003/724 में कहा कि 'राष्ट्रीय गान में जैनों को पृथक् रूप से दिखाया गया है।'

2006–भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री एस. बी. सिन्हा और श्री दलबीर भण्डारी की खण्डपीठ ने अपने एक फैसले में कहा कि 'यह अविवादित तथ्य है कि जैनधर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा नहीं है'।

4.2 प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था–

प्राचीन भारतीय व्यवस्थाकारों ने समाज एवं मनुष्य को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने के लिए जिन मान्य परंपराओं, प्रथाओं तथा विधानों को लिपिबद्ध किया है, उन्हीं नियमों को विधि और कानून की संज्ञा प्रदान की गयी। इन

विधिक सिद्धांतों को राज्य संस्था द्वारा स्वीकृत किया गया। इसी कारण इनके अनुपालन के लिए राज्यशक्ति का प्रयोग आवश्यक हुआ। वैदिक युग से ही विधि एवं विधिक संस्थाओं की स्थापना प्रारंभ हो गयी थी। वैदिक साहित्य में विधि द्वारा न्याय करने के संकेत मिलते हैं। उत्तर वैदिक काल में धर्मशास्त्रों, सूत्रसाहित्यों तथा स्मृतिग्रंथों में विभिन्न प्रकार से विधि का स्वरूप निर्मित हुआ। सूत्र साहित्य में विधि का मुख्य आधार वेदों को ही माना गया। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार धर्म व्यवस्था के मूल स्रोत वेद हैं तथापि इतिहास, स्मृति और आचार से भी धर्म व्यवस्था का बोध होता है।

वैदिक युग में वरुण को प्रशासन और न्याय का अधिष्ठातृ देवता कहा गया है, जिसके प्रतिनिधि के रूप में राजा इस लोक में राज्य करता है, जो पापियों को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है। महावीर चरित नाटक में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रजाजनों के विरुद्ध आचरण करता है और जान-बूझकर पाप और अपराध करता है, उसको राजा अवश्य दण्ड देता है। प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था उन व्यक्तियों द्वारा निर्मित की गयी थी, जो समस्त जीवन का अनुभव प्राप्त किये हुए मनुष्य की चरम अवस्था को प्राप्त कर, सांसारिक जीवन के स्वार्थों से निर्लिप्त थे और जो समाज की व्यवस्था-निर्माण के लिए सबसे अधिक योग्य थे। यह व्यवस्था 'आप्त' वाक्यों के रूप में श्रुति-साहित्य; वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में दी गयी थी और आगे चलकर जिनका स्पष्टीकरण नियमों तथा उपनियमों के रूप में स्मृतियों, धर्मसूत्रों तथा वेदांगों आदि में किया गया था।

4.3 प्राचीन भारत में समाज के नियम बनाने का अधिकार राज्य को प्राप्त नहीं था।

भारतीय विचारकों तथा समाज व्यवस्थापकों की धारणा थी कि राजतंत्रात्मक, गणतंत्रात्मक या कुलीनतंत्रात्मक किसी भी राज्य का अधिकार जिन लोगों के पास रहता है वे सांसारिक दृष्टि से महत्त्वाकांक्षी होते हैं और अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अथवा अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए वे समस्त उपायों या युक्तियों को करने के लिए तत्पर रहते हैं, वे निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप में सांसारिक जीवन के संघर्षों और स्वार्थों से ऊपर उठकर विचार कर ही नहीं सकते अत: ऐसे व्यक्तियों के हाथों में समाज के नियम बनाने का अधिकार देना उन्हें मान्य नहीं था। यही कारण है कि समाज के नियम तथा उन नियमों के स्पष्टीकरण के अधिकार के लिए 'परिषद्' नाम की एक संस्था का निर्माण किया गया। 'परिषद्' के विषय में मनुस्मृति में कहा गया है कि इस स्मृति में बताये गये धर्म के विषय में यदि कोई शंका हो तो जिस नियम को शिष्ट ब्राह्मण मान्यता दे उसी को शंकारहित होकर धर्म समझना चाहिये अथवा दस या तीन श्रेष्ठ ब्राह्मण की 'परिषद्' में धर्म का निर्णय होना चाहिए। याज्ञवल्क्य व पाराशरस्मृतियों तथा गौतमधर्मसूत्र में भी परिषद् के संबंध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं कि धर्म-संशय के निर्णय के लिए तीन व्यक्तियों की परिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के ज्ञाता ही रहने चाहिए। समाज व्यवस्था के नियमों का समावेश सर्वप्रथम धर्मशास्त्रों; जिनके अन्तर्गत श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराण आदि आते हैं; में किया गया; इनमें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, वैयक्तिक, शैक्षिक, वैवाहिक आदि सभी प्रकार के नियमों का समावेश किया गया था। इस दृष्टि से धर्मशास्त्रों के नियम भी विधि के रूप में मान्यता रखते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि राज्य कोई नियम ही नहीं बना सकता था। राज्य की आज्ञा द्वारा जो नियम लागू किये जाते थे, उन्हें ही 'राज्यानुशासन' कहा गया है। कौटिल्य ने विधि के चार स्रोतों का वर्णन करते हुए कहा है कि धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज्यानुशासन व्यवहार के चार पद हैं। इनमें धर्म सत्य में, व्यवहार साक्षियों पर, चरित्र मनुष्यों के संग्रह में और राज्यानुशासन राज्य की आज्ञा में स्थित है।

4.4 धर्मशास्त्रों तथा विधिशास्त्रों में आपसी विवादों के नियमों को व्यवहार नाम से संबोधित किया गया है।

व्यवहार का अर्थ पारस्परिक विवाद के विविध संदेहों को हरण करने के साधन से है। व्यवहार के नियम

धर्मसम्मत होते थे। शुक्रनीति और याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है कि स्मृतियों और आचार के उल्लंघन से यदि कोई दूसरों द्वारा पीड़ित हो और वह राजा के यहाँ आवेदन करे, तो वह क्रिया व्यवहार पद है। प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं राजनैतिक चिंतकों ने राज्य संरचना एवं समाज संरचना में ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया कि सभी प्रकार की विधियों का निर्णय उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा हो, जो उन नियमों की भावनाओं को ठीक प्रकार से समझ सकें और जो उन नियमों के प्रयोग में अधिकृत रीति से बोल सकें।

4.5 काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को मनुष्य का प्रबल शत्रु माना गया है।

इनके वशीभूत होकर मनुष्य अपने धर्म का उल्लंघन कर अन्य व्यक्तियों को कष्ट अथवा हानि पहुँचाता है, जो समाज में कलह और द्वेष भावना की वृद्धि का कारण बन जाता है, उस द्वेष और कलह की भावना को रोकने के लिए प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने न्याय व्यवस्था का विधान किया था। राज्य एवं शासन-संस्था के विकास के साथ-साथ प्राचीन काल में न्याय व्यवस्था का भी समुचित विकास हुआ। सर्वमान्य जनता को अराजक स्थिति से मुक्ति दिलाने तथा सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए एक सुव्यवस्थित शासनपद्धति ने जन्म लिया। इस व्यवस्था के लिए आवश्यक था कि सामान्य जन भी परस्पर न्यायोचित व्यवहार कर राज्य के नियमों का पालन करें। प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था और प्रशासन के दो मुख्य उद्देश्य थे। पहला सत्य का ज्ञान करना और दूसरा न्याय से सम्बन्धित वादों के नियमों का पालन करना और कराना। राजा की तुलना एक शल्यचिकित्सक से करते हुए कहा गया है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अंगच्छेदन भी करता है। न्यायालय विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों, नियुक्तों-अनियुक्तों एवं चरों आदि से सत्य की जानकारी प्राप्त करके ही विधि का कार्यान्वयन करता है क्योंकि सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही न्याय का मुख्य उद्देश्य है।

4.6 प्राचीन भारत में राजा विधि निर्माण के स्थान पर न्यायिक प्रशासन का नेतृत्व करता था-

न्यायाधीशों पर भी विधि के अतिरिक्त अन्य कोई दबाव नहीं था। कार्यपालिका और न्यायपालिका के क्षेत्र अलग-अलग निर्धारित थे। यद्यपि दोनों का अध्यक्ष एक ही होता था। न्यायिक प्रशासन में समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का विशेष प्रभाव था और न्यायिक प्रशासन भी सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करता था। अश्वघोष के अनुसार न्याय का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र में सुख और समृद्धि का प्रसार करना था, ताकि सबल व्यक्ति दुर्बलों को न सताने पाए। दण्ड्य व्यक्ति दण्ड से मुक्त न हो और अदण्ड्य व्यक्ति दण्डित न हो। प्राचीन भारत में राज्य प्रशासन का महत्त्व न्यायिक प्रशासन में अधिक नहीं था और वह स्वयं ऐसा कोई आदेश नहीं कर सकता था जो देशदृष्ट एवं शास्त्रसम्मत नियमों के विरुद्ध हो। स्वाभाविक रूप से प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में अनेक ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे पता चलता है कि स्वयं राजा भी विधि के अधीन था और न्याय से ऊपर नहीं था। अपराध सिद्ध हो जाने पर राजा भी दण्डित होता था। मनुस्मृति में स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि जिस अपराध के लिए साधारण व्यक्ति को एक कार्षापण का दण्ड दिया जाए, उसके लिए राजा को एक सहस्र कार्षापण का दण्ड दिया जाना चाहिए।

4.7 प्राचीन भारतीयशास्त्रों के अनुसार राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा को माना गया है-

राजा को 'न्याय का आस्पद' कहा गया है। न्याय करना राजा के पद का कर्त्तव्य माना गया है। भास के अनुसार राजा दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा के पारस्परिक विवादों को शान्त कर राज्य में शांति स्थापित करता है। मालविकाग्निमित्र में राजा अग्निमित्र प्रजा को न्याय देने में संलग्न बताया गया है। राजा के लिए सबसे बड़ा यज्ञ उचित न्याय की व्यवस्था मानी गयी है, यही कारण है कि वह समाज और विधि की मर्यादाओं के अंतर्गत रहकर न्याय का आयोजन करता था।

राजा का कर्त्तव्य था कि अपराधी को दण्ड मिले तथा निरपराध व्यक्ति दण्डित न होने पाये। बुद्धचरित में अश्वघोष ने राजा शुद्धोधन की धर्मनिष्ठा और कर्त्तव्यपरायणता का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजा अपराध करने वालों को दण्ड देता था, यद्यपि उसे क्षमा का भी अधिकार था किन्तु अपराधियों को छोड़ा नहीं जाता था। निष्पक्ष न्याय करने वाले राजा को वही फल मिलता है जो पवित्र यज्ञ करने से प्राप्त होता है। निरपराधियों को दण्ड देने वाले राजा के लिए न केवल नरक का भय था अपितु प्रजा भी उसके प्रति विद्रोह कर सकती थी। राज द्वारा न्याय के नियमों का पालन न करने पर राज्य में क्रांति का भी भय हो सकता था। राजा स्वयं समस्त राज्य के विवादों का निर्णय नहीं कर सकता था अतः ग्रामस्तर से लेकर राष्ट्रस्तर तक के न्यायालयों की स्थापना करके उनमें न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था किन्तु अन्तिम निर्णय राजा का ही मान्य होता था। राजा ही न्याय का अंतिम उत्तरदायी था। राजा कर्त्तव्यानुसार राजसभा में स्वयं उपस्थित होकर समस्त विवादों का निर्णय करता था। उत्तररामचरित में भवभूति ने राजा को धर्मासन पर बैठकर स्वयं न्याय करते हुए बताया है।

4.8 न्यायालयों का संगठन-

राज्यों के विस्तार और साम्राज्यों की स्थापना के साथ-साथ न्याय का क्षेत्र भी बढ़ गया था। समस्त विवादों का समाधान राजा द्वारा किया जाना संभव नहीं था अतः राजा न्याय-निर्णय हेतु अमात्यों, पुरोहितों और न्याय सभा की सहायता लेने लगे थे। प्राचीन भारतीय विधिशास्त्रों में राजा द्वारा न्यायनिष्पादन हेतु न्यायालयों की स्थापना का सिद्धान्त मान्य था। प्राचीन भारतीय साहित्य में इनको 'अधिकरण' कहा गया है। स्मृति साहित्य में इन न्यायालयों के लिए धर्मस्थान, धर्मासन, धर्माधिकरण आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। मृच्छकटिक में इनको व्यवहार मण्डप और अधिकरण मण्डप नामों से अभिहित किया गया है। व्यवहार प्रकाश में पृथ्वीचन्द ने वात्स्यायन के मत को उद्धृत करते हुए न्यायालय को धर्माधिकरण शब्द से संबोधित किया है क्योंकि वहाँ धर्मशास्त्रों के आधार पर ही विवादों का निर्णय किया जाता था। प्राचीन साहित्य में स्थूल रूप में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है—1. राज न्यायालय, 2. अन्य न्यायालय।

4.9 राज न्यायालय वह सभा थी, जहाँ राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था-

अन्य प्रकार के न्यायालयों को क्षेत्रीय न्यायालय कहा जा सकता है, जो क्रमानुसार छोटे-बड़े स्तर के होते थे। राज न्यायालय के भी दो रूप थे—एक में मुख्य न्यायाधीश के रूप में राजा स्वयं उपस्थित होता था, दूसरे प्रकार के न्यायालयों के लिए वह किसी योग्य व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त कर देता था। अन्य न्यायालयों में कुल, श्रेणी, पूग एवं गण आदि के अपने न्यायालय थे, जिन्हें केवल सीमित क्षेत्र में ही न्याय करने का अधिकार प्राप्त था। एक ही प्रकार की वृत्ति करने वाले राज्यसम्मत व्यापारिक संगठनों को श्रेणी कहा जाता था। राजा द्वारा श्रेणियों को नियमों, परम्पराओं आदि के अनुसार अपने स्वयं के विवादों को सुलझाने हेतु मान्यता प्रदान की गयी थी। इन श्रेणियों अथवा संघों के नियमों को राजकृत नियमों के समान ही मान्यता प्राप्त थी। ये संघ स्वयं अपने विवादों को हल करते थे तथा अयोग्य और भ्रष्ट कर्मचारियों को दण्ड देते थे। यदि श्रेणीप्रमुख दुर्भावना अथवा घृणावश किसी व्यक्ति के साथ अन्याय करता था तो राजा उसे दण्डित करने का अधिकारी था क्योंकि श्रेणी प्रमुख राजा से ही अधिकार प्राप्त करके न्याय करते थे। चाणक्य ने दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है—धर्मस्थीय और कण्टकशोधन। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीशों को धर्मस्थ और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा नाम से अभिहित किया गया है। राजकीय न्यायाधिकरणों के अतिरिक्त विभिन्न विभागों के अपने प्रशासनिक न्यायाधिकरण भी होते थे, जिन्हें अपने विभागों के अधिकारियों के मामलों में विवादों के निस्तारण का अधिकार था। एक वेश्या द्वारा अपनी पुत्री को आधे

पण के लिए कुमारामात्य के अधिकरण में ले जाने का उल्लेख श्यामिलक के पादताडितक नामक भाण में प्राप्त होता है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय विशेष सतर्कता बरती जाती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि वह व्यक्ति गुणसंपन्न, योग्य, उदार, कुलीन, उद्वेगरहित, स्थिर, क्रोध रहित और धर्मनिष्ठ होना चाहिए। न्यायाधीश के लिए धर्मशास्त्रों का ज्ञाता होने के साथ-साथ चरित्रवान होना भी आवश्यक था। मत्तविलास प्रहसन के अनुसार उसे कुटिलतारहित, स्थिरस्वभाव, कोमलवृत्ति, उत्तम कुल में उत्पन्न तथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति, श्रुति, स्मृति आदि में पारंगत होना चाहिए। व्यवहारप्रकाश के अनुसार न्यायाधीश ब्राह्मण वर्ण का होना चाहिये, योग्य ब्राह्मण के न मिलने पर क्षत्रिय या वैश्य को भी न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है किन्तु शूद्र को किसी भी अवस्था में न्याय संबंधी कार्य में नहीं लगाया जा सकता।

4.10 प्राचीन भारतीय न्याय प्रक्रिया अत्यधिक सरल थी–

न्याय के इच्छुक वादी को अपनी याचिका के साथ न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता था। न्यायालय में प्रस्तुत मुकदमों को 'व्यवहार' तथा व्यवहार के लिए आने वाले व्यक्ति को 'अभ्यर्थी ' कहा जाता था। याचिकाओं को प्रस्तुत करने के विशेष नियम थे। याचिका लिखित रूप में शुद्ध और संक्षिप्त होनी आवश्यक थी। याचिका के अशुद्ध होने पर वादी की याचिका अमान्य कर दी जाती थी। याचिका में सभी तथ्यों का समावेश तथा वह दायें हाथ से न्यायालय में प्रस्तुत की जाये, इस प्रकार का विवरण युक्तिकल्पतरु तथा नारदस्मृति में दिया गया है। जो व्यक्ति; जैसे स्त्री, बालक, वृद्ध, अनाथ, रुग्ण अथवा जिन व्यक्तियों को न्यायालय में उपस्थित होने की छूट थी, जैसे——देव, ब्राह्मण, ऋषि, तपस्वी आदि; शारीरिक रूप से स्वयं उपस्थित होने में असमर्थ होते थे, उनके पक्ष को राजकर्मचारी प्रस्तुत कर सकता था। अभ्यर्थी की याचिका प्रस्तुत होने पर प्रतिवादी अथवा प्रत्यर्थी को उसकी सूचना भेजी जाती थी। यह कार्य श्रावणिक नामक कर्मचारी द्वारा संपन्न किया जाता था। निर्धारित सुनवाई के दिन धर्मासनिक के आदेश पर श्रावणिक वादी तथा प्रतिवादी को पुकारता था तथा वाद पर सुनवाई प्रारंभ होती थी। न्यायाधीश दोनों पक्षों को सुनकर एवं न्यायसभा के सदस्यों के परामर्श करने के उपरांत या तो स्वयं निर्णय देता था अथवा महत्त्वपूर्ण विवादों को राजा के निर्णय के लिए सुरक्षित रख लेता था। किसी भी 'व्यवहार' पर अंतिम निर्णय का अधिकार राजा के पास सुरक्षित होता था। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि चारुदत्त बसन्तसेना की हत्या का अपराधी था। अपराध के प्रमाणित होने पर न्यायाधिकरण द्वारा देश निर्वासन के दण्ड की संस्तुति की गयी थी परन्तु राजा ने इस संस्तुति को अमान्य करते हुए चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया।

4.11 मृच्छकटिक से न्याय प्रक्रिया के संबंध में और भी विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है–

तदनुसार व्यवहारमण्डप के मुख्य द्वार पर एक दौवारिक या द्वारपाल नियुक्त रहता था, जो दण्डनायक की अनुमति पाने पर पूछता था कि कौन लोग कार्यार्थी हैं अर्थात् मुकदमा दायर करना चाहते हैं। उसके उपरांत वादी न्यायालय में अपना वाद प्रस्तुत करता था। तदुपरांत न्यायालय से सूचना मिलने पर प्रतिवादी निश्चित तिथि पर उपस्थित होकर अपना पक्ष रखता था। न्यायालय द्वारा वाद के पक्ष में प्रमाण माँगा जाता था और सम्बन्धित पक्षों की गवाही भी ली जाती थी। तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवादी, पुत्रवान्, धर्मनिष्ठ तथा धनी व्यक्तियों का साक्ष्य उचित माना जाता था। स्त्री, बालक, वृद्ध, पाखण्डी, उन्मत्त (पागल), लूले एवं लँगड़े व्यक्ति गवाही के योग्य नहीं माने जाते थे। न्यायालयों में वादी-प्रतिवादी तथा गवाहों को शपथ लेनी होती थी——ब्राह्मण को सत्य, क्षत्रिय को वाहन या आयुध, वैश्य को गाय, बीज अथवा सुवर्ण तथा शूद्र को समस्त पापों से शपथ लेनी पड़ती थी। झूठी शपथ लेना निंदनीय भी था और अपराध भी।

4.12 विवादों के निर्णय में साक्षियों का बहुत अधिक महत्त्व था।

प्राचीन समय में दो प्रकार के साक्ष्य प्रचलित थे—मौखिक साक्ष्य और लिखित साक्ष्य। वादी और प्रतिवादी अपने-अपने कथनों को सिद्ध करने के लिए मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत करते थे। साक्ष्य देने से पूर्व साक्षी को सत्य बोलने की शपथ ग्रहण करनी होती थी। न्यायालय द्वारा बुलाये जाने पर साक्षी का न्यायालय में उपस्थित न होना दण्डनीय अपराध था, जिसके लिए अर्थ दण्ड का प्रावधान था। मौखिक साक्ष्य की अपेक्षा लिखित साक्ष्य को अधिक प्रामाणिक माना जाता था। साक्ष्य में उभय पक्ष के हस्ताक्षर न होने पर उसे प्रमाणित नहीं माना जाता था। लिखित साक्ष्य चार वर्गों में विभाजित थे—स्वहस्तलिखित, अन्यहस्तलिखित, लौकिक तथा राजकीय मुद्रा से अंकित। लौकिक साक्ष्यों के अभाव में दिव्य साक्ष्यों की व्यवस्था की गयी थी। मृच्छकटिक में चार प्रकार के दिव्य साक्ष्यों अथवा परीक्षाओं का उल्लेख आया है—विष, जल, तुला और अग्नि के माध्यम से परीक्षा जो वर्णाश्रित थीं। ब्राह्मण, बालक, वृद्ध, अन्धे तथा रुग्ण व्यक्ति के लिए तुला परीक्षा, क्षत्रियों के लिए अग्नि, वैश्यों तथा शूद्रों के लिए विष परीक्षा लिये जाने की जानकारी प्राप्त होती है। हनुमन्नाटक में सीता की अग्नि परीक्षा का उदाहरण है। अपने सतीत्व को प्रमाणित करने के लिए सीता अग्नि में कूद गयी थी परन्तु अग्नि उसको जला नहीं सकी।

प्राचीन भारत में यद्यपि न्याय व्यवस्था अत्यधिक सरल, सुव्यवस्थित एवं पक्षपातरहित थी तथापि चौथी शताब्दी ई. तक आते-आते उसमें पक्षपात एवं भ्रष्टाचार प्रारंभ हो गया था। मृच्छकटिक में विवरण आया है कि राजा का साला शकार, चारुदत्त पर न्यायालय में बसन्तसेना की हत्या करने का अभियोग प्रस्तुत करते समय, न्यायाधीश को राजा का भय दिखाकर प्रभावित करने का प्रयास करता है। पादताडितक भाण से ज्ञात होता है कि उस समय न्याय व्यवस्था काफी पंगु हो गई थी उसमें भ्रष्टाचार तथा पक्षपात व्याप्त हो गया था। इस संबंध में एक उदाहरण मिलता है कि मदयन्ती नामक एक वेश्या, उपगुप्त से आधा पण धन के लिए न्यायालय की शरण में गयी थी। ये विवरण भी मिलते हैं कि मुकदमा सुनते समय प्राड्विवाक विष्णुदास ऊँघता रहता था और न्यायालय के अधिकारी, पुस्तपाल, कायस्थ, काष्ठक और महत्तर रिश्वत माँगते थे। यह सब भ्रष्टाचार और अव्यवस्था देखकर उपगुप्त ने सोचा कि रिश्वत देने से अच्छा तो यही है कि वेश्या को ही धन दे दिया जाये। मत्तविलासप्रहसन' से भी यही संकेत मिलता है कि न्यायालय के कर्मचारी रिश्वत लेकर न्याय के विपरीत निर्णय दे देते थे।

4.13 न्याय व्यवस्था में व्यापृत कर्मचारी-

प्राचीन भारतीय साहित्य से जानकारी प्राप्त होती है कि न्यायाधीशों के अतिरिक्त न्याय प्रक्रिया में सहायता प्रदान करने हेतु विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी यथा—धर्माधिकारी, प्राड्विवाक, सभ्य, पुरोहित, ग्रामणी, कायस्थ, पुस्तपाल, काष्ठक, महत्तर, बलदर्शक, श्रावणिक, कालपाशिक, दण्डपाशिक, घातक आदि जिनका विवरण अधोदत्त है—

धर्माधिकारी—

न्याय आसन पर बैठने वाले व्यक्ति को धर्मासनिक, धर्मस्थल, धर्माधिकारी आदि पदों से अभिहित किया जाता था। अर्थशास्त्र में कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीशों को प्रदेष्टा, मानसोल्लास में उन्हें धर्माधिकारी तथा मृच्छकटिक में आधिकरणिक कहा गया है। धर्मशास्त्रों और राजनीतिपरक ग्रंथों में न्यायाधीशों के पद के लिए 'धर्मवेत्ता' शब्द प्रयुक्त करते हुए कहा गया है कि धर्माध्यक्ष या धर्माधिकारी, कुलीन, शीलवान्, गुणसंपन्न, सत्यवादी, धर्मपरायण, चतुर, प्रज्ञासंपन्न और दक्ष होना चाहिए।

प्राड्विवाक—

राजा को धर्मनिर्णय में सहायता देने के लिए जिस न्यायाधीश अथवा मंत्री की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है उसे प्राड्विवाक नाम दिया गया है। न्यायाधीश विवादियों से प्रश्न करने के कारण 'प्राड्' तथा विवेक के अनुसार निर्णय करने के कारण 'विवाक' कहलाता था। दोनों का सम्मिलित रूप होने के कारण इस अधिकारी को प्राड्विवाक कहते थे। कार्याधिक्य के कारण न्यायिक व्यवस्था में अधिक समय न देने के कारण राजा प्रधान न्यायाधीश के रूप में प्राड्विवाक की नियुक्ति करता था। प्राड्विवाक राजा के स्थानापन्न न्यायिक कार्य संपन्न करता था। वीरमित्रोदय में प्रधान न्यायाधीश को वक्ता और राजा को शासक कहा गया है। प्राचीन साहित्य में मुख्य न्यायाधीश की योग्यता पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। प्राड्विवाक को विद्वान्, कुलीन, वृद्ध, प्रज्ञासंपन्न और धर्म के प्रति जागरुक आदि गुणों से संपन्न होना आवश्यक माना गया है। प्राड्विवाक मुख्य न्यायाधीश के साथ-साथ न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी अथवा मंत्री भी होता था, जिसकी सहायता के लिए सात, पांच अथवा तीन सभ्यों की नियुक्ति की जाती थी।

सभ्य—

प्राड्विवाक के न्यायालय, जिसमें कभी-कभी स्वयं राजा भी उपस्थित होकर निर्णय घोषित करता था; को 'सभा' तथा उस सभा के सदस्यों को 'सभ्य' कहा गया है। प्रधान न्यायाधीशों के साथ कम से कम तीन विद्वान् ब्राह्मण सभ्यों को सहायक के रूप में नियुक्त किया जाता था। प्राड्विवाक सभ्यों के साथ सभा की कार्यवाही संपन्न करता था। राजा सभाभवन में प्राड्विवाक, अमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित और अन्य सभ्यों के साथ प्रवेश कर न्यायिक प्रक्रिया संपन्न करता था। सभ्य, राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे किन्तु वे राजा के स्थान पर धर्मशास्त्रों के प्रति उत्तरदायी थे। राजा को न्याय तथा कर्त्तव्य मार्ग पर लाना सभ्यों का परमदायित्व था। धर्मशास्त्रों में मुख्य न्यायाधीश तथा सभ्यों के विषय में कहा गया है कि सभ्य यथासंभव ब्राह्मण, धार्मिक, निःस्वार्थी तथा चरित्रवान् होने चाहिए।

पुरोहित—

न्यायिक प्रक्रिया के दौरान राजा के साथ पुरोहित का होना सदैव अनिवार्य था। राजा सभ्यों के साथ परामर्श करने के उपरांत अन्त में पुरोहित से ही निर्णय की घोषणा करता था। न्यायिक प्रशासन में पुरोहित राजा के कार्यों, व्यवहार एवं निर्णय के निरीक्षणकर्ता के रूप में कार्य करता था। न्यायिक प्रक्रिया के समय यदि राजा उपस्थित होता था तो उस समय पुरोहित का स्थान प्राड्विवाक से भी महत्त्वपूर्ण हो जाता था लेकिन दोनों पद अलग-अलग थे। कौटिल्य ने माना है कि न्यायाधीश एवं अन्य कर्मचारियों के न्याय संबंधी कार्यों के निरीक्षण का अधिकार पुरोहित को होना चाहिये, यद्यपि पुरोहित का न्यायिक प्रशासन में हस्तक्षेप अधिक नहीं था। रामायण में भी यह कार्य हेय दृष्टि से देखा गया है क्योंकि उस समय उसका विशेष संबंध 'प्रायश्चित्त' से ही रह गया था।

ग्रामणी—

न्यायिक प्रशासन में ग्रामणी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ग्रामणी की नियुक्ति सीधे राजा द्वारा की जाती थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में राजकर्मचारी के रूप में ग्रामणी को अनेक न्यायिक एवं प्रशासकीय अधिकारों से युक्त माना गया है। व्यवहार विधि में विवाद के निर्णय में उसे महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। ग्रामणी का ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं था।

कायस्थ एवं पुस्तपाल—

न्यायिक प्रक्रिया में कायस्थ नामक कर्मचारी का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य में मिलता है। कायस्थ शब्द का अर्थ है—काये न्यायालये तिष्ठति इति कायस्थः अर्थात् जो 'काय' अर्थात् न्यायालय में बना रहता है। कायस्थ का प्रमुख कार्य अभ्यर्थी अथवा याची की याचिकाओं को लेकर, न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करना होता था, साथ ही वह व्यवहार मुकदमों के सभी तथ्यों को लेखबद्ध कर उनका रिकार्ड रखता था। कायस्थ की नियुक्ति न्यायालयों के

अतिरिक्त अन्य विभागों में भी होती थी। कायस्थ मुख्यत: लेखन कार्य से संबंधित कर्मचारी था, जो सभी विभागों की कार्यवाही को क्रमबद्ध एवं लिपिबद्ध करता था।

कायस्थ के अतिरिक्त न्यायालय प्रक्रिया में पत्रजात, फाइल और अन्य अभिलेखों को सुरक्षित रखने का कार्य पुस्तकाल नामक कर्मचारी द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है।

अन्य न्यायिक कर्मचारी —

न्यायालय में एक अन्य महत्त्वपूर्ण कर्मचारी 'काष्ठक महत्तर' होता था। जिसके हाथ में एक दण्ड रहता था। यह राजदण्ड के प्रतीक के रूप में न्यायाधीश के साथ उपस्थित रहता था। 'श्रावणिक' नामक कर्मचारी मुकदमों के समय वादी तथा प्रतिवादी को पुकारने तथा उन्हें न्यायालय के आदेश पहुँचाने का कार्य करता था। 'बलदर्शक' न्यायालयों के निर्णयों, विशेष रूप से ऋण संबंधी निर्णयों का पालन करता था। न्यायालय द्वारा दिये गये दण्ड को कार्यान्वित करने का कार्य 'कालपाशिक' नामक कर्मचारी द्वारा किया जाता था। फौजदारी मुकदमों में निर्णय होने पर दण्ड देने की व्यवस्था का कार्य 'दण्डपाशिक' नामक कर्मचारी द्वारा किया जाता था। मृत्युदण्ड 'घातक' अथवा 'बोधिक' नामक कर्मचारी द्वारा दिया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में विवरण मिलता है कि राजा के न्याय करने वाले कुछ अधिकारी भ्रमण करते हुए यह देखते थे कि प्रजा निर्विघ्न रूप से कार्य कर रही है अथवा नहीं। अपराधी का पता लगाने के लिए गुप्तचरों या गूढपुरुषों की सहायता भी ली जाती थी।

4.14 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-राज्य की आज्ञा द्वारा जो नियम लागू किये जाते थे, उन्हें ..... कहा गया है।

(क) राज्यानुशासन ☐
(ख) धर्मानुशासन ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 2-व्यवहार के चार पद हैं, ऐसा किसने कहा ?

(क) याज्ञवल्क्य ☐
(ख) कौटिल्य ☐
(ग) अश्वघोष ☐

प्रश्न 3-मनुष्य का प्रबल शत्रु इनमें से किसे माना गया है ?

(क) क्रोध ☐
(ख) मोह ☐
(ग) ये दोनों ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अश्वघोष के अनुसार न्याय का मुख्य उद्देश्य क्या था ?

प्रश्न 2-"भास" और "मालविकाग्निमित्र" के अनुसार राजा का क्या कर्त्तव्य है ?

प्रश्न 3-न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय क्या-क्या सतर्कताएँ बरती जाती थीं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-न्यायिक प्रक्रिया के दौरान राजा के साथ पुरोहित का रहना क्यों आवश्यक था ?

पाठ-5 – संविधान निर्माण में जैनों का योगदान

5.1 किसी भी देश का राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीयगान और राष्ट्रीय संविधान उस देश की आत्मा होते हैं। पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक देशों में जहाँ भी लिखित संविधान है वहां उनका निर्माण जनता ने प्राय: संविधान सभाओं के माध्यम से ही किया है। भारतीय संविधान निर्माण की कहानी बहुत पुरानी नहीं है। आजादी के आन्दोलन के समय भारतीयों द्वारा ही भारत का संविधान बनाने की मांग समय-समय पर की जाती रही है। स्वराज्य और स्वशासन की माँग के पीछे यह विचार भी किसी न किसी रूप में रहा है कि भारतीय ही अपनी वैधानिक व्यवस्था का निर्माण करें।

भारतीयों द्वारा भारत का संविधान बनाये जाने की स्पष्ट माँग सर्वप्रथम महात्मा गाँधी ने 5 जनवरी, 1922 को की थी। 1924 में पं. मोतीलाल नेहरू ने "राष्ट्रीय माँग" नाम से प्रख्यात प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, जिसमें गवर्नर जनरल से भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के उद्देश्य से भारत के लिए एक संविधान की योजना संस्तुत करने की माँग की गई थी। ब्रिटिश सरकार ने 1927 में सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक "**भारतीय संविधि आयोग**" की स्थापना की थी जिसे "**साइमन कमीशन**" के नाम से जाना जाता है। इस कमीशन में एक भी भारतीय नहीं था अत: इसका व्यापक विरोध हुआ। परिणामस्वरूप 1927 में ही कांग्रेस के बम्बई और मद्रास अधिवेशनों में एक प्रस्ताव पास हुआ, जिसके अनुसार कांग्रेस कार्यकारिणी को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान मण्डलों के निर्वाचित सदस्यों तथा विभिन्न दलों के नेताओं से मिलकर एक "स्वराज्य संविधान" बनाने का अधिकार सौंपा गया था। 1928 में पं. मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनी समिति ने भी संविधान निर्माण की चेष्टा की थी। 1934 में स्वराज्य पार्टी ने आत्मनिर्णय के अधिकार हेतु एक मात्र उपाय के रूप में भारतीय प्रतिनिधियों की एक संविधान सभा बुलाने का सुझाव दिया था। कांग्रेस ने भी इसका पूरा-पूरा समर्थन किया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कांग्रेस ने 14 सितम्बर 1939 के अपने एक प्रस्ताव में पुन: संविधान सभा की माँग दोहरायी। 1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद संविधान सभा की स्थापना का विचार स्पष्ट रूपेण स्वीकार किया था। 1942 के 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' में भी कांग्रेस ने घोषणा की थी कि स्वाधीनता के बाद कार्यकारी सरकार एक संविधान सभा बनाकर देश के लिए संविधान बनायेगी। 19 सितम्बर 1945 को बाइसराय वेवेल ने घोषणा की थी कि सरकार शीघ्र ही संविधान सभा का आयोजन करना चाहती है किन्तु इससे पूर्व केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान मण्डलों के चुनाव जरूरी हैं।

1945 के अन्त में केन्द्रीय सभा और 1946 के प्रारंभ के प्रान्तीय विधान मण्डलों के चुनाव हुए। 16 मई 1946 को प्रकाशित अपनी योजना में "मंत्री मिशन" ने स्पष्ट कर दिया था कि उसका उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था को आरंभ कर देना है जिसके द्वारा भारतीय भारतीयों के लिए संविधान बना सकें। इस योजना के अनुसार ब्रिटिश भारत के लिए 296 और देशी राज्यों के लिए 93 स्थान रखे जाने थे। तदनुसार ब्रिटिश भारत के सदस्यों के 1946 में संविधान सभा के लिए चुनाव हुए।

संविधान सभा में सभी राजनैतिक दलों के प्रमुख नेता सभी जातियों और धर्मों के लोग, वकील, डॉक्टर, शिक्षाविद् , उद्योगपति, व्यापारी, श्रमिक प्रतिनिधि, लेखक, पत्रकार आदि थे। देश की गणमान्य महिलायें भी यहाँ विराजमान थीं।

9 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा का विधिवत् उद्घाटन हुआ था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सभा के अध्यक्ष चुने गये। देशी राज्यों के प्रतिनिधि भी क्रमश: आते गये। इस प्रकार 15 अगस्त 1947 तक सभा पूर्ण रूप से प्रभुतासम्पन्न संस्था बन गयी। डॉ. अम्बेडकर प्रारूप समिति के अध्यक्ष चुने गये।

संविधान सभा लगभग 3 वर्ष (2 वर्ष 11 महीने 17 दिन) कार्यरत रही। उसके कुल 11 सत्र हुए और 165 बैठकें हुईं। प्रारूप समिति की 141 बैठकें हुईं। स्पष्ट है कि हमारी संविधान सभा ने बहुत ही कम दिनों में अपना संविधान बना लिया था।

संविधान सभा के अंतिम दिन 24 जनवरी 1950 को सभी सदस्यों के हस्ताक्षर हुए। संविधान की तीन प्रतियाँ— एक हस्तलिखित अंग्रेजी में, एक छपी अंग्रेजी में व एक हस्तलिखित हिन्दी की प्रति पर सभी सदस्यों ने हस्ताक्षर किये। पूरी प्रति चित्रों से सुसज्जित की गई। चित्रों के माध्यम से क्रमशः पूरा इतिहास दर्शाया गया। प्रथम पृष्ठ पर मोहनजोदड़ो से प्राप्त उस सील को दर्शाया गया है, जिस पर एक बैल अंकित है। पृष्ठ 63 पर भगवान महावीर का चित्र अंकित है। पृष्ठ 151 पर महात्मा गाँधी को तिलक करती एक महिला चित्रित है, जो संभवतः गाँधीजी की दांडी यात्रा के समय का है। ध्यातव्य है कि गाँधीजी की दांडी यात्रा के समय महिलाओं का नेतृत्व श्रीमती सरला देवी साराभाई (जैन) ने किया था।

संविधान निर्माण में विभिन्न प्रान्तों से चुने हुए जैन धर्मावलम्बियों ने भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इनमें से कुछ का परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

5.2 श्री रतनलाल मालवीय–

क्या कोई सोच सकता है कि "मालवीय" उपनाम वाला कोई व्यक्ति जैन भी हो सकता है, उत्तर शायद नकरात्मक ही होगा। पर श्री रतनलाल मालवीय (1907–1984) ऐसे व्यक्तित्व थे, जो सागर (म. प्र.) के प्रसिद्ध जैन वंश "मलैया" में जन्में और एक अध्यापक द्वारा "मलैया" के स्थान पर "मालवीय" लिख देने पर "मालवीय" उपनाम से ही विख्यात हो गये। बाद में उन्होंने मलैया उपनाम का प्रयोग करना चाहा पर सफल नहीं हुए। स्वयं उन्हीं के शब्दों में— "सन् 1927 में जब मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी. ए. का विद्यार्थी था तब मेरे अर्थशास्त्र के प्रोफेसर ताराचन्द अग्रवाल ने यह प्रश्न पूछा—"मैं मलैया क्यों कहलाता हूँ..... मैंने माँ से पूछकर बताया कि–'कुरवाई को मालय कहने पर और हमारे कुरवाई निवासी होने से हम मलैया कहलाये।' हमारे प्रोफेसर ने कहा—'तब तो हमें मालवीय कहलाना चाहिए था।' उन्होंने हाजिरी का रजिस्टर उठाकर मलैया की जगह मालवीय लिख दिया। तभी से मैं मालवीय हो गया।"

"सन् 1948 में कान्सटीट्यूशनल असेम्बली और पार्लियामेन्ट का सदस्य बन जाने के बाद "मलैया" शब्द प्रयोग करने का प्रयत्न मैंने किया पर सम्पूर्ण रिकार्ड, जिसमें यूनिवर्सिटी की डिग्रियाँ भी शामिल है, में मैं मालवीय था इसलिए गवर्नमेन्ट के सचिवालय ने मालवीय ही कायम रखा। इससे कुछ विषमता होने पर भी मलैया शब्द का उपयोग नहीं कर सका। मुझे जगह-जगह मालवीय शब्द के उपयोग का स्पष्टीकरण करना पड़ता।

मालवीय जी का जन्म 8 नवम्बर 1907 को सागर (म. प्र.) में हुआ। आरम्भिक शिक्षा सागर में ही हुई आपका परिवार कट्टर जैन था। स्वयं आपने लिखा है—"माँ कट्टर जैन धर्मावलम्बी थीं, गीता अध्ययन से उनका माथा ठनकता, गीता क्यों ? अपने धर्म का अध्ययन क्यों नहीं ? और इसी स्पर्धा में माँ ने सान्ध्यशाला जैन बच्चों के लिए शुरू कर ली अपने ही घर में। अब हमें गीता के साथ भक्तामर स्तोत्र भी कंठस्थ कराया जाने लगा। जब तक भक्तामर का एक श्लोक सुना न देते सुबह का दूध न मिलता। मुझे कंठस्थ है। उसके 48 श्लोक बोलते समय किस श्लोक पर कितने आंसू टपके थे, आज भी याद आ जाता है।"

असहयोग आन्दोलन के दौरान आप कक्षा 8 में पढ़ते थे। प्रधानाध्यापक के लाख समझाने पर भी आपने स्कूल का बहिष्कार कर दिया। बाद में प्रधानाध्यापक श्री खूबचन्द सोधिया महोदय ने भी स्कूल से त्यागपत्र दे दिया। अपनी देशभक्ति के कारण सोधिया जी बाद में भारतीय संसद के लिए चुने गये थे। मालवीय जी वानर सेना में भी रहे, वे राष्ट्रीयशाला के विद्यार्थी रहे। 1925 में आप काशी हिन्दू वि. वि. और 1926 में इलाहाबाद वि. वि. में प्रविष्ट हुए वहीं

से कानून की पढ़ाई की और स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी सक्रिय रहे। आपने "चांद" के सम्पादकीय विभाग में 40 रुपये मासिक वेतन पर नौकरी की। 'सरस्वती' में भी आपके कई लेख छपे।

अध्ययन के बाद आप सागर में वकालत करने लगे और हरिजन संघ के मंत्री बन गये। सन् 1934 में महात्मा गाँधी जब सागर पधारे और उनका भाषण वर्णीजी द्वारा स्थापित श्री दि. जैन संस्कृत विद्यालय मोराजी–सागर में हुआ तब उसकी व्यवस्था हरिजन सेवक संघ के नाते आपने ही की थी। गाँधीजी की अपील पर महिलाओं ने अपने गहने उतार कर दे दिये थे। अपने मजदूर नेता होने के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि "कुछ सालों बाद मेरा सम्बन्ध स्टेट प्यूपिल कॉफ्रेंस की उड़ीसा और छत्तीसगढ़ रीजनल काउन्सिल से हो गया। सन् 1947 के बाद तो कांग्रेस के साथ मजदूर आन्दोलन में डूब सा गया। आप मध्यप्रान्तों के राज्यों की ओर से चुने गये थे। सभा में आपने मजदूरों के हितों पर जोरदार बहस की थी। मालवीय जी के अनुसार—'सन् 1948 में संविधान सभा का सदस्य बनते ही मैंने कोयला खानों के बारे में पार्लियामेन्ट में प्रश्न करना प्रारम्भ कर दिये थे' "देश के संविधान पर दस्तखत होना मेरे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य है।"

बाद में आप 'कोलयारी इन्क्वायरी कमेटी' के भी सदस्य रहे। नेशनल कोल डेवलपमेन्ट कॉरपोरेशन की स्थापना का सुझाव आपका ही था। मजदूरों के नेता के रूप में विख्यात मालवीय जी 1954 और 1960 में राज्यसभा के लिये चुने गये। 1962 में नेहरूजी के मंत्रिमण्डल में पार्लियामेन्ट्री सचिव नियुक्त हुए और डिप्टी मिनिस्टर भी। श्री लाल बहादुर शास्त्री मन्त्रिमण्डल में भी आप डिप्टी मिनिस्टर रहे। 1966 में लेबर कमीशन के सदस्य और लेबर वेलफेयर कमेटी के चेयरमैन रहे। इन्टरनेशनल लेबर आर्गनाइजेशन (आई. एल. ओ.) से भी आप जुड़े रहे और जर्मनी, हालैण्ड, इंग्लैण्ड, रूस आदि देशों की आपने यात्रा की थी। मनीला में सम्पन्न आई. एल. ओ. के एशियन राउण्ड टेबल कांफ्रेन्स (2 सितम्बर से 18 सितम्बर 1969) के चेयरमैन बनने का सौभाग्य भी आपको प्राप्त हुआ था।

मालवीय जी की संविधान के प्रति अटूट आस्था थी। वे स्वयं सदैव संविधान के दायरे में देशसेवा में संलग्न रहे। उनकी सुपुत्री श्रीमती सुधा पटेरिया ने उनकी स्मृतियाँ लिखते हुए लिखा है—वह संविधान की सुनहरी जिल्द वाली वृहदाकार प्रति को शास्त्रों की तरह कपड़े में लपेटकर अपनी गोदरेज की अलमारी में इतने प्यार और श्रद्धा से रखते थे, जैसे कोई अपने जन्म भर की जमापूँजी सहेज रहा हो। दीपावली की लक्ष्मी पूजा के समय भी वह संविधान की पुस्तक को वहाँ आदरपूर्वक रखते, उसकी पूजा करते, वही उनकी लक्ष्मी थी, वही सरस्वती। दीपावली की डायरी में उनका यह महत्वपूर्ण अभिलेख मिला—'लक्ष्मी पूजन के नाम पर मैं सदैव ही भारत के विधान की पूजा करता रहा हूँ। मेरे लिये यह गौरव की बात है कि मैं संविधान सभा का सदस्य रहा हूँ तथा उस पर मेरे दस्तखत हैं, विधान निर्माता के रूप में उस पर श्रद्धा रखना तथा उसके अनुसार काम करना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है। संविधान में पूरे देश का हित निहित है।'

5.3 श्री अजितप्रसाद जैन–

केन्द्रशासन में पुनर्वास, खाद्य एवं कृषि मंत्री, केरल के राज्यपाल तथा उ. प्र. कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष रहे श्री अजितप्रसाद जैन का जन्म यद्यपि मेरठ (उ. प्र.) में हुआ किन्तु सहारनपुर में वकालत करते हुए वे वहीं के स्थायी निवासी हो गये। अछूतोद्धार के प्रबल समर्थक श्री जैन को हरिजनों के साथ सहभोज के कारण जाति से बहिष्कृत करने का भी प्रयत्न किया गया। 1930–1932 में आपको गिरफ्तार कर लगभग 2 वर्ष जेल में रखा गया। 1936 में आप यू. पी. असेम्बली के लिए चुने गये। 1941 में सत्याग्रह करते हुए आप गिरफ्तार हुए और 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में आपको मेरठ जेल में रखा गया। आजादी के बाद आप 1952 व 57 में संसद सदस्य चुने गये। केन्द्रीय सरकार में

आप पुनर्वास, खाद्य एवं कृषि मंत्री रहे। 1961-64 में आप उ. प्र. कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष तथा 65-66 में केरल के राज्यपाल रहे। 1968-74 में आप राज्यसभा के सदस्य रहे थे।

कृषि मामलों के विशेषज्ञ श्री जैन ने अनेकों पुस्तकें व लेख लिखे हैं। उनकी "यू. पी. टेनेन्सी एक्ट" पुस्तक अत्यधिक प्रसिद्ध हुई थी। सेवानिधि ट्रस्ट की स्थापना कर आपने समाज सेवा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। 1946 में ही आप उ. प्र. असेम्बली की ओर से संविधान सभा के लिए चुने गये थे। श्री जैन ने सम्पत्ति के अधिकार के संबंध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। 'सहारनपुर सन्दर्भ', भाग 2 के अनुसार डॉ0 हरिदेव शर्मा को दिये एक साक्षात्कार में श्री जैन ने कहा था कि—"हमारे कहने पर ही संविधान के अनुच्छेद 31 में इस बात की व्यवस्था की गई थी।"

5.4 श्री भवानी अर्जुन खीमजी-

कच्छ प्रान्त की ओर से संविधान सभा के सदस्य रहे श्री भवानी या भवन जी अर्जुन खीमजी संविधान सभा में भारतीय व्यापारी वर्ग का भी प्रतिनिधित्व करते थे। कांग्रेस के निर्माण में आपका भारी योगदान था। आपका जन्म 'खाम गाँव' में हुआ था। यूरोप की यात्रा से आपको संसार की विविध प्रवृत्तियों और समस्याओं का ज्ञान हुआ था।

1930 के आन्दोलन ने मानो आपका जीवन ही बदल डाला था। तभी से आप व्यापार के साथ-साथ राजनीति एवं सार्वजनिक कार्यों में संलग्न हो गये। आपका रुई का व्यापार था। 1930 में बहिष्कार आन्दोलन में जब आपको गिरफ्तार किया गया तो रुई बाजार में गतिरोध पैदा हो गया, फलतः आपको अविलम्ब रिहा कर दिया गया।

श्री खीमजी तत्कालीन बम्बई कॉटन मर्चेण्ट्स व मुकद्दम एसोसिएशन लि. के अध्यक्ष, ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसिएशन के निदेशक तथा अनेकों दातव्य शिक्षा संस्थाओं के ट्रस्टी भी रहे थे।

1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह में आप एक वर्ष जेल में रहे थे। 1942 के आन्दोलन में भी आपको 2 वर्ष तक नजरबन्द रहना पड़ा था। गांधीजी और सरदार वल्लभभाई पटेल से आपके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। 'जैन सन्देश' राष्ट्रीय अंक आपके विषय में लिखता है—"गाँधी जी आपके विचारों में दृढ़ निष्ठा, एस. के. पाटिल आप में विश्वस्त साथी के योग्य गुण और सरदार वल्लभभाई पटेल आपमें अपने विचारों को कार्यान्वित करने के योग्य परखी हुई प्रतिभा पाते हैं। अनेक सार्वजनिक दायित्वों का भार वहन करते हुए भी आप जैन समाज की अनेकों धार्मिक दातव्य और शिक्षा संस्थाओं के पदाधिकारी ट्रस्टी रहे हैं।

5.5 श्री कुसुमकान्त जैन-

संविधान सभा में सबसे कम उम्र—28 वर्ष के सदस्य श्री कुसुमकान्त जैन का जन्म 23 जुलाई 1921 को थांदला, जिला झाबुआ (म. प्र.) में हुआ। उनकी आरम्भिक शिक्षा धर्मदास जैन विद्यालय में हुई, जो राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत था। ब्रिटिश शासन के पोलिटिकल एजेण्ट का 1936 में ही विरोध करने पर आपको विद्यालय छोड़ना पड़ा। आपका अध्ययन अस्त-व्यस्त हो गया, फलतः आपने कुछ समय श्री बिजलाल बियाणी के राष्ट्रीय साप्ताहिक 'नव राजस्थान' में भी कार्य किया। खादी पहनने का व्रत आपने बचपन में ही ले लिया था, जिसे उन्होंने हमेशा निभाया है।

श्री कुसुमकान्त जैन होल्कर राज्य से निर्वाचित होकर उज्जैन होते हुए अजमेर पहुँचे, जहाँ श्री जयनारायण व्यास, माणिक्यलाल वर्मा आदि नेताओं से आपका सम्पर्क हुआ। उनके आदेश से आपने राजपूताना और मालवा में प्रजामण्डलों का प्रचार किया। 1939-40 में उज्जैन आकर आप मजदूर संगठनों से जुड़ गये। आपके घर की तलाशी ली गई और कम्युनिस्ट साहित्य बरामद होने के कारण शांतिभंग तथा युद्ध प्रयासों में बाधा डालने के अपराध में छह माह की सजा हो गई।

अगस्त क्रान्ति के दौरान आप भूमिगत हो गये और वेश बदलकर झाबुआ, रतलाम आदि में क्रान्ति की अलख जगाते रहे अन्ततः मार्च 43 में गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिये गये। तीन माह बाद रिहाई होने पर बम्बई शासन द्वारा आपको पंचमहल जिले में प्रवेश न करने की आज्ञा थमा दी गई। आजादी के बाद आप झाबुआ लौट आये और उत्तरदायी शासन हेतु आन्दोलन छेड़ दिया। आदिवासियों में आपकी गहरी पैठ थी अतः झाबुआ नरेश को लोकप्रिय मंत्रिमण्डल की घोषणा करने के लिए बाध्य होना पड़ा। 18-1-1948 को मंत्रियों ने शपथ ग्रहण की, श्री जैन उनमें एक थे। वे उस समय भारत में सबसे कम उम्र के केबिनेट मंत्री थे।

मध्यभारत राज्य का गठन होने पर आप श्री लीलाधर जोशी के मंत्रिमण्डल में भी कैबिनेट मंत्री बनाये गये। उसी समय आप संविधान सभा के लिए झाबुआ, रतलाम आदि रियासतों के प्रतिनिधि के रूप में चुने गये। वे सांसद और विधायक भी रहे, पर उनके जीवन का वह चरम उत्कर्ष का समय था जब उन्होंने भारतीय संविधान पर अपने हस्ताक्षर किये। श्री कुसुमकान्त जैन अभिनन्दन स्मारिका के सम्पादक श्री ज्ञान जैन का यह कथन ठीक ही है कि मिनिस्टर, सांसद व विधायक तो हजारों हुए और प्रजातन्त्र में होते रहेंगे लेकिन देश का प्रथम संविधान बनाने का गौरव तो जिन करीब 288 व्यक्तियों को प्राप्त हुआ, उन महान् संविधान निर्माताओं की विशिष्ट पंक्ति में स्थापित होने का महान गौरव थांदला के इस युवक स्वतन्त्रता सेनानी को सिर्फ 28 वर्ष की अल्प आयु में मिला, यह श्री जैन के जीवन की महान ऐतिहासिक घटना है।

श्री जैन के सम्मान में अनेक समारोह हुए। 11 मार्च 1989 को महामहिम श्री आर. वेंकटरमन के द्वारा आपको सम्मानित किया गया था। 1992 में आपके नाम पर एक लोकोपकारी ट्रस्ट की भी स्थापना की गई है। 9 अगस्त 1997 को आजादी की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर संविधान सभा के जिन 10-12 जीवित सदस्यों का सम्मान संसद भवन में हुआ, उनमें आप भी थे।

5.6 श्री बलवन्त सिंह मेहता-

श्री बलवन्त सिंह मेहता प्रथम लोकसभा के सदस्य, राजस्थान मंत्रिमंडल में अनेकों बार केबिनेट मंत्री रहे तथा संविधान सभा के सदस्य भी थे। अनेक राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं से सम्बद्ध मेहता जी का जन्म 8 फरवरी 1900 ई. को उदयपुर के एक खानदानी सामन्त परिवार में हुआ, परन्तु 15 वर्ष की उम्र से ही वे एक विद्रोही के रूप में अपनी वंश परम्परा और सामन्ती जीवन का सदा विरोध और बहिष्कार करते रहे हैं।

1915 में आप "प्रताप सभा" के माध्यम से राजनीति में आये और 1934 से तो सक्रिय राजनीति में संलग्न हो गये। 1938 में प्रजामण्डल के आन्दोलन में मेहताजी को एक वर्ष जेल में रखा गया। भारत छोड़ो आन्दोलन में आप 21 अगस्त 1942 को गिरफ्तार कर लिये गये और उदयपुर तथा इसवाल जेलों में एक-डेढ़ वर्ष नजरबन्द रहे। मेवाड के आदिवासियों में आपकी गहरी पैठ रही है। भील आन्दोलन के जनक श्री मोलीलाल तेजावत से आप काफी प्रभावित रहे हैं, उदयपुर में 'वनवासी छात्रावास' और 'रैन बसेरा' के संस्थापक आप ही हैं।

मेहता जी ने अपने प्रारम्भिक जीवन में जैन विद्यालय में अध्ययन और अध्यापन किया था अतः उदयपुर के पुराने लोगों में आप आज भी "मास्टर जी" के नाम से विख्यात हैं। जैन समाज के लिए आपने काफी कार्य किये। प्राकृत और जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था आपने अनेक स्थानों पर कराई है।

जब "आबू" पर्वत गुजरात को दे दिया गया तो संविधान सभा में आपने तीखे प्रहार किये। नेहरूजी और पटेलजी से आपने गहन चर्चा की। लगभग पाँच पृष्ठ का आपका वक्तव्य संविधान सभा की कार्यवाही में पृष्ठ 4030-4034 पर दर्ज है। अन्ततः आबू राजस्थान को मिला, आपकी विजय हुई।

उनसे यह पूछने पर कि—"संविधान सभा में आपका क्या योगदान रहा ? मेहताजी ने कहा—"मैंने अनेक कानूनों पर चर्चा की थी पर आबू को गुजरात को दिये जाने का सख्त विरोध किया था, बताइये "माउण्ट आबू" को अगर राजस्थान से निकाल दिया जाए तो क्या "राजस्थान" राजस्थान कहा जायेगा मैंने क्रान्ति कर उसे बचाया था। अनेकों सम्मानों के साथ संसद भवन में आपका 9 अगस्त 1997 को विशिष्ट सम्मान हुआ था।

5.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-भारतीयों द्वारा भारत का संविधान बनाये जाने की स्पष्ट माँग सर्वप्रथम महात्मा गाँधी ने कब की थी ?

(क) 1 जनवरी 1923 ☐
(ख) 5 जनवरी 1922 ☐
(ग) 5 मई 1922 ☐

प्रश्न 2-भारतीय संविधि आयोग की स्थापना किसकी अध्यक्षता में हुई ?

(क) पं. मोतीलाल नेहरू ☐
(ख) महात्मा गाँधी ☐
(ग) सर जॉन साइमन ☐

प्रश्न 3-संविधान सभा का विधिवत् उद्घाटन कब हुआ ?

(क) 9 दिसम्बर 1946 ☐
(ख) 8 जनवरी 1947 ☐
(ग) 5 सितम्बर 1946 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-श्री रतनलाल मालवीय का जन्म कब और कहाँ हुआ ?

प्रश्न 2-श्री कुसुमकान्त जैन का जीवन परिचय संक्षेप में बताइए ?

प्रश्न 3-श्री बलवन्त सिंह मेहता का संविधान सभा में क्या योगदान रहा ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-संविधान सभा में किन-किन जैन व्यक्तियों का क्या योगदान रहा ? इस पर प्रकाश डालिए ?

चतुर्थ पत्र

जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा

-संदर्भ ग्रंथ-

1.	समयसार	-आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
2.	रयणसार	-आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
3.	प्रवचनसार दशभक्ति, अष्टपाहुड़, द्वादशानुप्रेक्षा	-आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी
4.	पंचास्तिकाय	-आचार्य कुन्दकुन्ददेव
5.	मूलाचार	-आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव
6.	नियमसार	-आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव
7.	तत्त्वार्थ सूत्र	–आचार्य उमास्वामी
8.	सर्वार्थसिद्धि	–आचार्य पूज्यपाद स्वामी
9.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	-आचार्य समन्तभद्र
10.	आप्तमीमांसा	-आचार्य समन्तभद्र
11.	तिलोयपण्णत्ति	-यति वृषभाचार्य
12.	धवला पुस्तक 1	-आचार्य श्री वीरसेनाचार्य
13.	द्रव्य संग्रह	-सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य
14.	गोम्मटसार जीवकाण्ड	-सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य
15.	परीक्षामुख	-आचार्य माणिक्यनन्दि
16.	भावना द्वात्रिंशतिका	-आचार्य अमितगति
17.	धर्म परीक्षा	-आचार्य अमितगति
18.	न्यायविनिश्चय	-आचार्य अकलंक देव
19.	यशस्तिलक चम्पू	-श्री सोमदेव सूरि
20.	क्षत्र चूड़ामणि	-आचार्य वादीभसिंह
21.	आदिपुराण	-आचार्य जिनसेन
22.	हरिवंशपुराण	-आचार्य जिनसेन
23.	पद्मचरित	-आचार्य रविषेण
24.	उपदेशसार संग्रह	-आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज
25.	कुन्दकुन्द मणिमाला	-गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी

26. अष्टसहस्त्री -गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी कृत स्याद्वादचिन्तामणि टीका
27. सिद्धि विनिश्चय -आचार्य श्री अकलंक देव
28. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश -क्षु. जिनेन्द्र वर्णी
29. सागार धर्मामृत -पं. आशाधर जी
20. मोक्षमार्ग प्रकाशक -पं. टोडरमल जी
31. आ. धर्मसागर अभिवन्दन ग्रंथ -प्रकाशक-दिगम्बर जैन नवयुवक मंडल, कलकत्ता
32. वात्सल्य रत्नाकर (भाग-3)
33. प्राकृत विद्या (अप्रैल-जून 2013) -प्रकाशक-श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
34. अनेकान्त (जनवरी-मार्च 2009) -डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
35. अनेकान्त (अक्टू.-दिस. 2009) -डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
36. अनेकान्त (जनवरी-मार्च 2010) -डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
37. अनेकान्त (जुलाई सितम्बर 2011) -डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
38. अर्हत् वचन (अक्टूबर 1998) -डॉ. अनुपम जैन, इंदौर
39. www.encyclopediaofjainism.com

प्रश्नावली (Questions Bank)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1 – महाभारत काल में युधिष्ठिर को कौन सी उपाधि दी गई थी ?

(क) धर्मराज ☐ (ख) सत्यराज ☐ (ग) कोई नहीं ☐

प्रश्न 2 – भारत धर्म प्रधान देश होने के साथ ..... देश भी है ?

(क) भाईचारा प्रधान ☐ (ख) कर्म प्रधान ☐ (ग) एकता प्रधान ☐

प्रश्न 3 – अन्य भारतीय धर्मों में सत्य को क्या कहा है ?

(क) शांति ☐ (ख) करुणा ☐ (ग) ईश्वर ☐

प्रश्न 4- भारतीय दर्शनों में ..... का महत्त्वपूर्ण स्थान है ?

(क) आर्हत् दर्शन ☐ (ख) बौद्ध दर्शन ☐ (ग) वैदिक दर्शन ☐

प्रश्न 5- घट का इच्छुक उसका नाश होने पर ..... होता है ?

(क) सुखी ☐ (ख) दु:खी ☐ (ग) सुखी–दु:खी ☐

प्रश्न 6- जैन दर्शन में शब्द को क्या माना है ?

(क) पौद्गलिक ☐ (ख) भाषात्मक ☐ (ग) अक्षरात्मक ☐

प्रश्न 7- रविषेणाचार्य ने संस्कृत में कौन से ग्रंथ की रचना की थी ?

(क) पद्मचरित ☐ (ख) आदिपुराण ☐ (ग) उत्तरपुराण ☐

प्रश्न 8- 'बे लगाम घोडे की सवारी' मनुष्य को कहाँ ले जाती हैं ?

(क) उन्नति ☐ (ख) पतन ☐ (ग) सिद्धशिला ☐

प्रश्न 9- सोमदेवाचार्य ने धर्म को कितने भागों में विभक्त किया है ?

(क) तीन ☐ (ख) चार ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 10-जैनागम में आत्मा की कितनी अवस्थाएँ बताई हैं ?

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 11-भव और भाव किसके भेद हैं ?

(क) अजीव ☐ (ख) कषाय ☐ (ग) परावर्तन ☐

प्रश्न 12-पंचलब्धियों में से अन्तरंग का कारण कौन–सी लब्धि है ?

(क) करण लब्धि ☐ (ख) देशना लब्धि ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 13-छह द्रव्यों में से एक.....

(क) सूर्य ☐ (ख) जीव ☐ (ग) ये दोनों ☐

प्रश्न 14-जिनके मन है, और सोचने विचारने की विशिष्ट शक्ति है, वह ..... है।

(क) असंज्ञी ☐ (ख) संज्ञी ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 15- एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करने वाले ..... कहलाते हैं।

(क) मुक्त जीव ☐ (ख) संसारी जीव ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 16- तत्व कितने होते है ?

(क) नौ ☐ (ख) सात ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 17- पुण्य और पाप क्या हैं ?

(क) तत्व ☐ (ख) पंचास्तिकाय ☐ (ग) पदार्थ ☐

प्रश्न 18- जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह ..... है।

(क) पाप ☐ (ख) पुण्य ☐ (ग) आत्मा ☐

प्रश्न 19- चौदह गुणस्थानों में पहला गुणस्थान-

(क) सासादन सम्यग्दृष्टि ☐ (ख) मिथ्यादृष्टि ☐ (ग) सयोगकेवली ☐

प्रश्न 20- जब तक जीव को आत्मस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता तब तक ..... कहलाता है।

(क) मिथ्यादृष्टि ☐ (ख) सम्यग्दृष्टि ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 21- छः लेश्याओं में ये शुभ लेश्या कौन-सी है ?

(क) कापोत ☐ (ख) नील ☐ (ग) शुक्ल ☐

प्रश्न 22- श्री कुन्दकुन्ददेव ने कितनी भक्तियाँ बनाई हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) चौबीस ☐ (ग) दस ☐

प्रश्न 23- पूरे ढाईद्वीप में एक साथ कितने तीर्थंकर हो सकते हैं ?

(क) चौबीस ☐ (ख) एक सौ सत्तर ☐ (ग) एक सौ साठ ☐

प्रश्न 24- चौबीस तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्र कितने हैं ?

(क) 24 ☐ (ख) 20 ☐ (ग) 5 ☐

प्रश्न 25- चारित्र के कितने भेद हैं ?

(क) पांच ☐ (ख) तीन ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 26- सम्यक्त्व के अंगों में से आठवाँ अंग-

(क) प्रभावना ☐ (ख) स्थितिकरण ☐ (ग) वात्सल्य ☐

प्रश्न 27- विशुद्ध सम्यग्दर्शन कितने दोषों से रहित होता है ?

(क) आठ ☐ (ख) पच्चीस ☐ (ग) छह ☐

प्रश्न 28- आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के अनुसार बारह अनुप्रेक्षाओं में से आठवीं अनुप्रेक्षा कौन सी है ?

(क) निर्जरा ☐ (ख) आस्रव ☐ (ग) अशरण ☐

प्रश्न 29- नियम से धारण करने योग्य क्या है ?

(क) धर्म ☐ (ख) अलंकार ☐ (ग) रत्नत्रय ☐

प्रश्न 30-व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय में साध्य और साधन क्या-क्या हैं ?

(क) व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है। ☐

(ख) निश्चय साधन है और व्यवहार साध्य है। ☐

(ग) इनमें से कोई नहीं। ☐

प्रश्न 31-निश्चय चारित्र किसके होता है ?

(क) दिगम्बर मुनियों के ☐ (ख) उत्कृष्ट श्रावकों के ☐ (ग) सिद्ध भगवान के ☐

प्रश्न 32-चारित्र के कितने भेद हैं ?

(क) चार ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 33-गुणस्थानों के चौदह भेदों में से आठवां गुणस्थान-

(क) अविरत ☐ (ख) अप्रमत्त विरत ☐ (ग) अपूर्वकरण ☐

प्रश्न 34-अष्टशती के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य पद्मनन्दि ☐ (ख) आचार्य अकलंकदेव ☐ (ग) आचार्य विद्यानन्दि ☐

प्रश्न 35-आप्त मीमांसा किसने लिखी ?

(क) आचार्य विद्यानन्दि ☐ (ख) आचार्य समन्तभद्र ☐ (ग) आचार्य देवसेन ☐

प्रश्न 36-परीक्षामुख के लेखक कौन हैं ?

(क) आचार्य भावसेन ☐ (ख) आचार्य प्रभाचन्द्र ☐ (ग) आचार्य माणिक्य नन्दि ☐

प्रश्न 37-'यशस्तिलकचम्पू' के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य अकलंकदेव ☐ (ख) आचार्य सोमदेव सूरि ☐ (ग) आचार्य समन्तभद्र ☐

प्रश्न 38-न्यायशास्त्र के धुरंधर विद्वान कौन हुए हैं ?

(क) आचार्य उमास्वामी ☐ (ख) आचार्य अकलंकदेव ☐ (ग) आचार्य कुंदकुंददेव ☐

प्रश्न 39-जैनाचार्य के अतिरिक्त परीक्षा के महत्त्व को किस विद्वान ने स्वीकार किया है ?

(क) पं. माणिकचंद कौन्देय ☐ (ख) डॉ. पं. हीरालाल ☐ (ग) महाकवि कालिदास ☐

प्रश्न 40-बृहत्स्वयंभू स्तोत्र की रचना किसने की ?

(क) आचार्य अकलंकदेव ☐ (ख) आचार्य विद्यानन्दि ☐ (ग) आचार्य समन्तभद्र ☐

प्रश्न 41-आचार्य श्री विद्यानन्दि द्वारा रचित ग्रंथ कौन सा है ?

(क) रत्नकरण्ड श्रावकाचार ☐ (ख) आप्तमीमांसा ☐ (ग) अष्टसहस्री ☐

प्रश्न 42-देवागम स्तोत्र का दूसरा नाम क्या है ?

(क) प्रमाण परीक्षा ☐ (ख) आप्त मीमांसा ☐ (ग) आप्तपरीक्षा ☐

प्रश्न 43-'परीक्षामुख' ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य कुंदकुंद ☐ (ख) आचार्य माणिक्यनन्दि ☐ (ग) आचार्य विद्यानन्दि ☐

प्रश्न 44- आचार्य वादिदेव सूरि ने किस ग्रंथ में प्रमाण का लक्षण दिया है ?

(क) प्रमाण परीक्षा ☐ (ख) प्रमाणनय तत्त्वालोक ☐ (ग) आप्तमीमांसा ☐

प्रश्न 45- हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में कौन समर्थ है ?

(क) नय ☐ (ख) प्रमाण ☐ (ग) प्रत्यभिज्ञान ☐

प्रश्न 46- अष्टशती ग्रंथ की रचना किसने की ?

(क) आचार्य विद्यानन्दि ☐ (ख) आचार्य अकलंकदेव ☐ (ग) आचार्य समन्तभद्र ☐

प्रश्न 47- अष्टसहस्री ग्रंथ में कुल कितने श्लोक प्रमाण टीका है ?

(क) पाँच हजार ☐ (ख) दस हजार ☐ (ग) आठ हजार ☐

प्रश्न 48- प्रमाणपरीक्षा ग्रंथ किसने लिखा ?

(क) आचार्य समन्तभद्र ☐ (ख) ग. श्री ज्ञानमती माताजी ☐ (ग) आचार्य विद्यानन्दि ☐

प्रश्न 49- .....के बल पर ही गाँधीजी ने भारत को स्वतंत्र कराने में सफलता प्राप्त की।

(क) हिंसा ☐ (ख) अहिंसा ☐ (ग) वन संरक्षण ☐

प्रश्न 50- "देशयामि समीचीनं ..... यो धरत्युत्तमे सुखे" यह गाथा किस ग्रंथ से ली गई है ?

(क) वसुनन्दि श्रावकाचार ☐ (ख) मूलाचार ☐ (ग) रत्नकरण्ड श्रावकाचार ☐

प्रश्न 51- "पद्मचरित" ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्यश्री रविषेण जी ☐

(ख) आचार्यश्री जिनसेन स्वामी ☐

(ग) आचार्यश्री उमास्वामी ☐

प्रश्न 52- छल कितने प्रकार का माना गया है ?

(क) दो ☐ (ख) तीन ☐ (ग) चार ☐

प्रश्न 53- उत्कर्षसम यह किसका भेद है ?

(क) जाति ☐ (ख) छल ☐ (ग) निग्रह स्थान ☐

प्रश्न 54- "स्वपक्षसिद्धि करने वाला यदि कुछ अधिक बोल जाए तो कोई हानि नहीं" यह किसने कहा ?

(क) निकलंक ☐ (ख) आचार्य अकलंक ☐ (ग) आचार्य विद्यानन्द ☐

प्रश्न 55- चक्रव्यूह के चक्र में कितने आरे होते थे ?

(क) दस हजार ☐ (ख) एक हजार ☐ (ग) चार हजार ☐

प्रश्न 56- रथ, घोड़े, हाथी और ..... को मिलाकर चतुरङ्ग सेना कहते थे।

(क) गरुड़ ध्वजा ☐ (ख) पैदल सेना ☐ (ग) सिंहों की ध्वजा ☐

प्रश्न 57- दूसरों पर विजय प्राप्त करने में कितनी शक्तियाँ प्रमुख रूप से सहायक होती है।

(क) दो ☐ (ख) चार ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 58-राज्य की आज्ञा द्वारा जो नियम लागू किये जाते थे, उन्हें ..... कहा गया है।

(क) राज्यानुशासन ☐ (ख) धर्मानुशासन ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 59-व्यवहार के चार पद हैं, ऐसा किसने कहा ?

(क) याज्ञवल्क्य ☐ (ख) कौटिल्य ☐ (ग) अश्वघोष ☐

प्रश्न 60-मनुष्य का प्रबल शत्रु इनमें से किसे माना गया है ?

(क) क्रोध ☐ (ख) मोह ☐ (ग) ये दोनों ☐

प्रश्न 61-भारतीयों द्वारा भारत का संविधान बनाये जाने की स्पष्ट माँग सर्वप्रथम महात्मा गाँधी ने कब की थी ?

(क) 1 जनवरी 1923 ☐ (ख) 5 जनवरी 1922 ☐ (ग) 5 मई 1922 ☐

प्रश्न 62-भारतीय संविधि आयोग की स्थापना किसकी अध्यक्षता में हुई ?

(क) पं. मोतीलाल नेहरू ☐ (ख) महात्मा गाँधी ☐ (ग) सर जॉन साइमन ☐

प्रश्न 63-संविधान सभा का विधिवत् उद्घाटन कब हुआ ?

(क) 9 दिसम्बर 1946 ☐ (ख) 8 जनवरी 1947 ☐ (ग) 5 सितम्बर 1946 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– धर्म निरपेक्षता का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 2– धर्म का स्वरूप क्या है ?

प्रश्न 3– संस्कृति और सामाजिक धर्म निरपेक्षता को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4- शब्द किसे कहते हैं ?

प्रश्न 5- द्रव्य कितने व कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 6- प्रायोगिक शब्द के चार भेद कौन से हैं ?

प्रश्न 7- आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने धर्म के प्रति जनमानस की अरुचि बढ़ने के कौन से तीन कारण बतायें ?

प्रश्न 8- 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' इस पंक्ति का क्या अर्थ है ?

प्रश्न 9- भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद में क्या अंतर है ?

प्रश्न 10-परावर्तन कितने होते हैं ? नाम लिखिए।

प्रश्न 11-काल परिवर्तन को संक्षेप में समझाइए।

प्रश्न 12-भव परिवर्तन किसे कहते है। ?

प्रश्न 13-मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतियों के नाम बताइए।

प्रश्न 14-द्रव्य का क्या स्वरूप है ? इसके कितने भेद हैं ? लिखिए।

प्रश्न 15-पुद्गल किसे कहते हैं ? इसके भेद भी लिखिए।

प्रश्न 16-धर्मद्रव्य का स्वरूप बताइए।

प्रश्न 17-आकाश द्रव्य का स्वरूप समझाइए।

प्रश्न 18-तत्व किसे कहते हैं ? ये कितने होते हैं ? नाम बताइए।

प्रश्न 19-आत्मा को कितने भेदों में विभाजित किया गया है ? नाम भी बताइए।

प्रश्न 20-पदार्थ कितने होते हैं ? पुण्य और पाप की परिभाषा दीजिए।

प्रश्न 21- साम्परायिक आस्रव से आप क्या समझते हैं ?

प्रश्न 22- गुणस्थान किसे कहते हैं ? ये कितने होते हैं ? नाम बताइये।

प्रश्न 23- अयोग केवली गुणस्थान किसे कहते हैं ? इस गुणस्थान का काल कितना है ?

प्रश्न 24- लेश्या किसे कहते हैं ? ये कितनी होती हैं ? नाम भी बताइए।

प्रश्न 25- लेश्या का सामान्य लक्षण बताइए।

प्रश्न 26- परम स्थान कितने और कौन-कौन से हैं ? इनमें से किसके बिना आगे के स्थानों की प्राप्ति सम्भव नहीं है ?

प्रश्न 27- संहरण सिद्ध किसे कहते हैं ? सिद्धों की वन्दना करते हुए सिद्धभक्ति में कौन सी गाथा कही गई है ?

प्रश्न 28- वीतराग भगवान से याचना करना क्या दोषास्पद है ? इसे स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 29- भक्ति कौन-कौन करता है ? इसे नियमसार की गाथा द्वारा स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 30- सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते हुए देव-शास्त्र-गुरु की परिभाषा बताइए ? साथ ही यह भी बताइए कि मोक्षमहल की पहली सीढ़ी क्या है ?

प्रश्न 31- संयमचरण चारित्र के कितने भेद हैं , परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 32- सम्यग्दृष्टि के कितने और कौन-कौन से दोष नहीं होते हैं ?

प्रश्न 33- श्रावकों की त्रेपन क्रियाएँ कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 34- आप्त, आगम एवं तत्त्व का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 35- दिगम्बर मुनियों के कितने मूलगुण होते हैं, नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 36- एकलविहारी मुनि कौन हो सकते हैं ?

प्रश्न 37- सरागसंयमी मुनियों की चर्या कैसी होती है ?

प्रश्न 38- व्यवहारनय कहां तक प्रयोजनीभूत है, स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 39- आत्मा का स्वरूप क्या है ? शुद्ध आत्मा का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 40- केवलज्ञान की महिमा बताइए ? केवली भगवान विश्व को किस दृष्टि से जानते हैं ?

प्रश्न 41- कर्मबन्ध कहां तक है, स्पष्टीकरण कीजिए ?

प्रश्न 42- अष्टसहस्री के मंगलाचरण का अर्थ लिखें ?

प्रश्न 43- आलाप पद्धति का मंगलाचरण एवं उसका अर्थ लिखें ?

प्रश्न 44- लघीयस्त्रय ग्रंथ के रचयिता का नाम बताते हुए मंगलाचरण और उसका अर्थ लिखें ?

प्रश्न 45- अष्टसहस्री (हिन्दी टीका सहित) प्रथम भाग का मंगलाचरण लिखते हुए उसका अर्थ लिखें ?

प्रश्न 46- महाकवि कौटिल्य ने 'न्याय विद्या' के विषय में क्या लिखा है ?

प्रश्न 47- वाद-विवाद का निषेध करते हुए आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने क्या लिखा है ?

प्रश्न 48- न्यायविद्या के लिए शास्त्रों में किन पर्यायवाची शब्दों का प्रचलन रहा है ?

प्रश्न 49- न्यायशास्त्र के ज्ञान से आत्महित का सम्बन्ध है या नहीं ?

प्रश्न 50- प्रमाण का विषय क्या है ?

प्रश्न 51- हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

प्रश्न 52- करणानुयोग एवं चरणानुयोग का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 53- पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अष्टसहस्री का हिन्दी अनुवाद किस सन् में किया और उसकी हिन्दी टीका का क्या नाम है ?

प्रश्न 54–'न्याय' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ बताओ ?

प्रश्न 55–परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत किसकी गणना की जाती है ?

प्रश्न 56–प्रमाण का साक्षात् और परम्परा फल क्या है ?

प्रश्न 57–परीक्षा का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 58–श्री समन्तभद्र स्वामी की अनुपम कृति कौन सी है और उसका नाम क्या है ?

प्रश्न 59–कुमारिल भट्ट ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ के अभाव को कैसे सिद्ध किया है ?

प्रश्न 60–आचार्य श्री विद्यानन्दि द्वारा रचित ग्रंथों के नाम लिखें ?

प्रश्न 61–अष्टहस्री ग्रंथ की हिन्दी टीकाकर्त्री गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी को कौन-कौन सी भाषाओं का ज्ञान है ?

प्रश्न 62–धर्म, अर्थ, काम इनको परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 63–राजा के प्रमुख कर्त्तव्यों को बताइए ?

प्रश्न 64–राजा के "समञ्जसत्व धर्म पालन" कर्त्तव्य को समझाइये ?

प्रश्न 65–वाद का स्वरूप क्या है, बताइए ?

प्रश्न 66–जाति कितने प्रकार की मानी गई है ? नाम बताइए ?

प्रश्न 67–जल्प किसे कहते हैं ?

प्रश्न 68–गरुड़ व्यूह की रचना क्यों की जाती थी ? संक्षेप में समझाइए ?

प्रश्न 69–दूसरे के धन अपहरण करने की कितनी सजाएँ मिलती थीं और कौन सी बताइए ?

प्रश्न 70–गुप्तचर कौन होते थे और उनका क्या काम रहता था ?

प्रश्न 71–अश्वघोष के अनुसार न्याय का मुख्य उद्देश्य क्या था ?

प्रश्न 72–"भास" और "मालविकाग्निमित्र" के अनुसार राजा का क्या कर्त्तव्य है ?

प्रश्न 73–न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय क्या-क्या सतर्कताएँ बरती जाती थीं ?

प्रश्न 74–श्री रतनलाल मालवीय का जन्म कब और कहाँ हुआ ?

प्रश्न 75–श्री कुसुमकान्त जैन का जीवन परिचय संक्षेप में बताइए ?

प्रश्न 79–श्री बलवन्त सिंह मेहता का संविधान सभा में क्या योगदान रहा ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1– न्यायिक धर्म निरपेक्षता कैसी होनी चाहिए ? धर्म निरपेक्षता के अभाव से होने वाली हानि को लिखिए।

प्रश्न 2– द्रव्य के कितने गुण हैं ? नाम व परिभाषा लिखिए।

प्रश्न 3– जैनधर्म के अनुसार स्वतंत्रता और परतंत्रता की परिभाषा उदाहरण सहित दीजिए ?

प्रश्न 4– संसार किसे कहते हैं ? विस्तार से समझाइए।

प्रश्न 5– पंचास्तिकाय क्या है ? विस्तार से समझाइए।

प्रश्न 6– सातों तत्वों को संक्षिप्त रूप में परिभाषित कीजिए।

प्रश्न 7– लेश्याओं के भेद युक्त परिणाम किस प्रकार हैं ? बताइए।

प्रश्न 8– भगवान एवं गुरुओं की भक्ति से किस प्रकार कर्म निर्जीर्ण होते हैं, सविस्तार परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 9– आत्मा के तीनों भेदों को बताते हुए बहिरात्मा का लक्षण विस्तारपूर्वक बताइए ? तीनों लोकों में यह जीव

किस प्रकार भ्रमण करता है ?

प्रश्न 10- पंचमकाल के अन्त तक मुनि रहेंगे और वे लौकान्तिक देव भी हो सकते हैं, मोक्षपाहुड़ ग्रंथानुसार इसे स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 11- केवली भगवान लोकाग्र पर किस प्रकार जाते हैं और सिद्ध भगवान लोकाग्र से ऊपर क्यों नहीं जाते ? विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण कीजिए ?

प्रश्न 12- प्रमेयकमल मार्तण्ड ग्रंथ की रचना किसने की ? उसका मंगलाचरण लिखतेस हुए अर्थ लिखे ?

प्रश्न 13- न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता क्यों है ? इस पर विचार व्यक्त करें ?

प्रश्न 14- बीसवीं सदी के जैन तार्किक कौन हुए हैं उनके नाम एवं उनके बारे में लिखें ?

प्रश्न 15- वृद्धकुमारी वाक्य न्याय और सिंहावलोकन न्याय का वर्णन करो ?

प्रश्न 16- अष्टसहस्री न्याय ग्रंथ का सर्वोच्च ग्रंथ कैसे है ?

प्रश्न 17- वरांगचरित में प्रतिपादित राजा के गुणों को बताइए।

प्रश्न 18- जैनमत के अनुसार वाद का क्या स्वरूप है ? बताइए।

प्रश्न 19- उत्तम राजा के गुण बताइए ?

प्रश्न 20- न्यायिक प्रक्रिया के दौरान राजा के साथ पुरोहित का रहना क्यों आवश्यक था ?

प्रश्न 21- संविधान सभा में किन-किन जैन व्यक्तियों का क्या योगदान रहा ? इस पर प्रकाश डालिए ?

नोट्स